बाल विकास

लेखक

डॉ० सरयू प्रसाद चौबे

एम० ए०, बी० टी०, (आगरा);

एम० एड० (इलाहाबाद);

ईडी० डी० (इलिनॉयस, यू० एस० ए०);

शिक्षा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

बाल विकास

[भारतीय विश्वविद्यालयों की उच्च (डिग्री) कक्षाओं के विद्यार्थियों, अभिभावकों शिक्षकों, तथा शिक्षा-शास्त्रियों के लिये]

लेखक

डॉ० सरयू प्रसाद चौबे,

एम० ए०, बी० टी०, (बनारस);

एम० एड० (इलाहाबाद);

ईडी० डी० (इण्डियाना, यू० एस० ए०);

[बाल मनोविज्ञान, किशोर मनोविज्ञान, मनोविज्ञान और शिक्षा, प्रयोगात्मक मनोविज्ञान, मनोविज्ञान, पाश्चात्य शिक्षा, शिक्षा सिद्धान्त, सेकेण्डरी एडूकेशन फ़ॉर इण्डिया, तथा सम फ़ॉउण्डेशन्स ऑव् एडूकेशन, आदि के रचियता]

शिक्षा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

प्रकाशक :
भारत पब्लिकेशन्स,
१००३, बेलनगंज, आगरा।

प्रथम संस्करण—नवम्बर, १९५९

मूल्य पाँच रुपये

मुद्रक :
नरसिंह नाथ भार्गव, बी.
दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स, दरेसी
आगरा।

विद्या को

प्राक्कथन

आज हमारे देश में सभी स्तरों पर शिक्षा का विकास बड़ी द्रुतगति से चल रहा है (यद्यपि इस गति के और द्रुततर होने की आवश्यकता है) और अब 'शिक्षा' की काफी चर्चा की जाती है। जब हम शिक्षा की बात सोचते हैं तो सर्व प्रथम बालक का ही हमें ध्यान आता है, क्योंकि शिक्षा की धुरी बालक ही है और शिक्षा बालक के ही लिए है। बाल-सम्बन्धी किसी भी शिक्षा-योजना के संगठन में तथा उस संगठन के सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने में हमें बाल-स्वभाव-सम्बन्धी सभी बातों का ज्ञान आवश्यक है। इसी ज्ञान को सुलभ करने का प्रयास इस पुस्तक में किया गया है।

बालक के पालन-पोषण तथा वांछित विकास का उत्तरदायित्व माता-पिता, शिक्षक तथा उन सभी व्यक्तियों पर रहता है जो किसी प्रकार बालक के सम्पर्क में आते हैं। प्रायः यह देखा जाता है कि बाल-स्वभाव से अनभिज्ञ माता-पिता, शिक्षक तथा अभिभावकगण बालक के साथ उपयुक्त व्यवहार दिखलाने में असमर्थ ठहरते हैं। इसीलिए तो अधिकांश बालकों का जीवन दुखी ही रहता है। वे सदा सशंक रहते हैं कि पता नहीं घर के बड़े लोगों की डाँट उनकी स्वाभाविक क्रियाशीलताओं में कब विघ्न डाल दें ! इस सशंकता से उनका जीवन कुछ भयभीत रहता है और उनका विकास समय-समय पर अवरोधित होता चलता है। लेखक की धारणा है कि यदि प्रौढ़ लोग अपने बचपन की जरा भी याद करें तो उन्हें बालकों की विविध क्रिया-शीलतायें और विकास-क्रम एकदम स्वाभाविक ही लगेगा। यदि वे ऐसा कर सके और तदनुसार बालकों के सम्बन्ध में अपने व्यवहार-विधि में आवश्यक सुधार ला सके तो वे बालकों के वांछित सुधार में बड़ा ही योग देंगे। इस पुस्तक में बाल-स्वभाव की व्याख्या इसी उद्देश्य से की गई है कि वे इस योग को देने में सरलता से समर्थ हो सकें।

देश में विश्वविद्यालय की शिक्षा के विकास के फलस्वरूप बी० ए० तथा एम० ए० कक्षाओं में अब 'मनोविज्ञान' अध्ययन का एक रुचिकर विषय हो चला है। विविध विश्वविद्यालयों में बी० एस्सी० (गृहविज्ञान), तथा बी० ए० (मनोविज्ञान) और एम० ए० (मनोविज्ञान) के पाठ्य-क्रमों में 'बाल विकास' तथा 'बाल मनोविज्ञान' एक अध्ययन का विषय मान लिया गया है। इस विषय के हिन्दी माध्यम द्वारा अध्ययन और अध्यापन में कठिनाई को दूर करने के उद्देश्य से भी इस पुस्तक की रचना की गई है। इस पुस्तक के प्रणयन में विश्वविद्यालयों के छात्रों तथा अध्यापकों की कठिनाइयों पर ध्यान देने का विशेष प्रयास किया गया है। आशा है यह प्रयास उनके लिए उपादेय होगा।

इस पुस्तक की रचना में पाश्चात्य देशों में किये गये अन्वेषणों का बहुधा उद्धरण किया गया है, और उनकी व्याख्याओं पर कुछ सार्वलौकिक बातों का उल्लेख किया गया है; क्योंकि मानव-स्वभाव की सार्वलौकिकता में कुछ हद तक विश्वास किया जा सकता है। जहाँ तक इन व्याख्याओं का सम्बन्ध है लेखक किसी प्रकार की मौलिकता का दावा नहीं करता, परन्तु उनके साथ ही साथ यथास्थान लेखक ने अपनी बातों तथा सुझावों का भी उल्लेख किया है। आशा है ये सब बातें और सुझाव पाठक के ध्यान को आकर्षित करेंगे।

इस पुस्तक के लिखने में जिन पुस्तकों तथा लेखों से सहायता मिली है उनके नाम पुस्तक के क्रम में तथा सहायक पुस्तकों की सूची में दे दिया गया है। इन सभी पुस्तकों और लेखों के लेखकों के प्रति लेखक बड़ा ही आभारी है।

पुस्तक के 'सहायक पुस्तकों की सूची' तथा 'अनुक्रमणिका' के बनाने में क्रमशः श्री रमेश दत्त दीक्षित, बी० ए०, तथा श्री गणेश दत्त दीक्षित, एम० ए० से लेखक को बड़ी सहायता मिली है।

पुस्तक के प्रकाशन में यथोचित सहायता के लिए लेखक अपने प्रकाशक महोदय, श्री नरेन्द्र कुमार महेश्वरी के प्रति बड़ा आभारी है।

विजयादशमी, २०१३,
अक्टूबर, १४, १९५६

शिक्षा विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय,
लखनऊ।

सरयू प्रसाद चौबे

विषय-सूची

अध्याय १३

अध्याय १४

अध्याय १५

अध्याय १६

१

बाल अध्ययन के उद्देश्य और विधियाँ[1]

पहले की स्थिति

यदि यह कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी कि समाज बालकों के प्रति बहुत उदार और दयालु सदा नहीं रहा है। कुछ लोगों की तो यह धारणा रही है कि बालकों को बड़े कड़े नियन्त्रण में रखना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा उनका समुचित विकास न हो सकेगा। यद्यपि सदा कुछ ऐसे माता-पिता रहे हैं जो अपने बालकों के विकास और सुरक्षा पर सदैव बहुत ध्यान देते रहे हैं, परन्तु इसके साथ ही कुछ ऐसे भी रहे हैं जो उनके दुख और विकास के सम्बन्ध में आश्चर्य में डालने वाली उदासीनता प्रदर्शित करते रहे हैं। औद्योगिक क्रान्ति के समय इंगलैण्ड में छोटे-छोटे बालकों से फैक्टरियों में अमानुषिक रूप में परिश्रम कराया जाता था। जिन सँकरी खानों से युवक मजदूर नहीं निकल पाता था उनसे छोटे-छोटे बालकों को बोझा ढोने पड़ते थे। छोटे-छोटे लड़के और लड़कियों को १२ से १५ घण्टों तक एक दिन में काम करने पड़ते थे। कभी-कभी उन्हें ११ बजे रात काम से छुट्टी मिलती थी। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी का अमेरिका भी बालकों के प्रति इसी प्रकार की कड़ाई दिखलाता था। 'सुस्त मस्तिष्क शैतान का घर होता है'—इस कहावत के आधार पर चर्च के कुछ पादरी भी इस नीति का समर्थन करते थे। समाज भी सोचने लगा था कि बेकार लड़के और लड़कियाँ अवगुणों के अभियुक्त हो जायेंगे। अतः इस नीति का विरोध करना आवश्यक नहीं समझा जाता था। बालकों के प्रति इस कड़ाई में स्कूल पीछे न थे। स्कूल के अध्यापक बालकों को शारीरिक दण्ड देना आवश्यक समझते थे और अवसर पर बालकों को बड़ी मार मारते थे।

पहले बालकों के साथ अमानुषिक व्यवहार

आज की स्थिति

परन्तु आज की स्थिति कुछ और ही है। अब तो वर्तमान युग को 'बालकों

---

1. Objectives and Methods of Child Psychology.

का युग' कहा जाता है। सर्वत्र बालक के व्यक्तित्व के समुचित विकास पर विशेष बल दिया जा रहा है। प्रत्येक उन्नतशील देश में बालकों के हित के लिए समितियाँ स्थापित की जा रही हैं और उनके स्वस्थ विकास के साधनों का अन्वेषण किया जा रहा है। वैज्ञानिक अन्वेषणों के आधार पर जो बातें प्रकाश में आ रही हैं उनसे पुराना अन्धकार धीरे-धीरे उठ रहा है। बालकों सम्बन्धी प्रकाशित पुस्तकें तथा पत्रिकाएँ पहले से अधिक लोकप्रिय हो उठी हैं। माता-पिता, अभिभावक, अध्यापक, विद्यार्थी तथा सारा समाज ही अब बाल-मनोविज्ञान को समझने में पहले से अत्यधिक रुचि ले रहा है। सन् १९०४ ई० में स्टैनली हाल[1] ने अपने अन्वेषण के फलस्वरूप किशोरावस्था[2]-सम्बन्धी अपनी पुस्तकें प्रकाशित कीं। स्टैनली हाल के इस कार्य से बाल-अध्ययन-आन्दोलन को बड़ा ही प्रोत्साहन मिला। व्यक्तित्व तथा मानसिक रोगों-सम्बन्धी फ्रायड[3] के कार्यों और प्रकाशनों से लोगों की आखें खुलीं और वे मानव विकास में बचपन के महत्व को पहले से अधिक समझने लगे। कहना न होगा कि पाश्चात्य देशों में आई हुई इस लहर का प्रभाव हमारे देश में भी अवश्य ही पड़ा है। इसीलिए तो अध्यापकों के शिक्षण में बाल-अध्ययन पर विशेष बल दिया जाता है।

वर्तमान शताब्दी 'बालक का युग'

आज के अध्यापक, समाजसेवी, मनोवैज्ञानिक दाइयाँ तथा बाल-रोग-विशेषज्ञ आदि सभी बाल-स्वभाव को समझने में अत्यधिक रुचि लेने लगे हैं, क्योंकि उनकी सफलता बाल-स्वभाव के ज्ञान पर बहुत हद तक निर्भर करती है। फलतः बाल मनोविज्ञान अब एक विशेष अध्ययन का विषय माना जाता है। माता-पिता भी अब समझने लगे हैं कि बाल-स्वभाव के ज्ञान से अपने बच्चों का लालन-पालन वे अधिक सुचारु रूप से कर सकते हैं। बहुत से माता-पिता अपने बचपन में अनुभव की हुई कठिनाइयों से अपने बच्चों को बचाना चाहते हैं और जो सुख बचपन में वे नहीं पा सके उसे वे उन्हें देना चाहते हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि आज का पूरा सभ्य समाज ही बालक के प्रति अधिक जागरूक हो गया है, क्योंकि अब वह समझने लगा है कि उसकी भावी उन्नति बालकों के वांछित विकास पर ही निर्भर है।

बालकों के प्रति समाज पहले से अधिक जागरूक

बाल-अध्ययन का महत्व—

मनोवैज्ञानिकों की धारणा है कि व्यक्तिगत और सामाजिक अनुकूलन[4] के लिए

---

1. G. Stanley Hall. 2. Adolescence. 3. Freud, Sigmund
4. Personal and Social Adjustment.

बचपन के कुछ प्रथम वर्ष बड़े ही महत्वपूर्ण होते हैं। स्वभाव तथा साधारण प्रवृत्तियों की जड़ बचपन में ही पड़ जाती है। गति तथा भाषा-सम्बन्धी कौशलों के अतिरिक्त विविध संवेगात्मक प्रवृत्तियाँ भी घर तथा समाज के वातावरण द्वारा परिचारित होती हैं। बाद के चरित्र और व्यक्तित्व पर माता-पिता के व्यवहार का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति का झक्की, उत्साही, डरपोक तथा हठी आदि होना बहुत हद तक उसके बचपन की शिक्षा पर निर्भर करता है। इससे यह स्पष्ट है कि व्यक्ति के जीवन में बचपन का विशेष महत्व है और बालक के सफल लालन-पालन के लिये उसका अच्छी तरह अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है।

बाल अध्ययन के उद्देश्य

बाल विकास के नियन्त्रण हेतु उपायों की ओर संकेत करना—

बाल विकास में समाज की अभूतपूर्व रुचि के कारण मनोवैज्ञानिक बाल-स्वभाव के अध्ययन में अब अधिक वैज्ञानिक होने लगे हैं। अब वे अनुभव करने लगे हैं कि ठीक-ठीक निरीक्षण[1] के आधार पर बालक के पालन हेतु अधिक अच्छे सुझाव दिये जा सकते हैं। उनका यह विश्वास है कि मानव विकास के सम्बन्ध में भी 'कारण' और 'कार्य' का बड़ा भारी हाथ रहता है। अतः अब वे यह जानने की चेष्टा में हैं कि व्यक्तित्व के पूर्ण तथा वांछित विकास के लिये कैसे वातावरण की आवश्यकता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि बाल-अध्ययन का उद्देश्य सामाजिक तथा व्यक्तिगत दृष्टि से वांछित विकास के हेतु बालक के व्यवहार को नियन्त्रित करने के उपायों की ओर संकेत करना है। बाल-मनोविज्ञान यह भी बतलाता है कि इन उपायों के कार्यान्वित करने से किस प्रकार के विकास की आशा की जा सकती है।

निर्दिष्ट पथ की ओर विकास को नियोजित करना—

बाल व्यवहार के बहुत से ऐसे अङ्ग हैं जिनकी अभी ठीक से व्यवस्था नहीं की जा सकती। अतः उनके व्यवस्थापन हेतु उपायों के विषय में अभी नहीं सोचा जा सका है। परन्तु अब तक जो कुछ भी ज्ञात है उसके आधार पर बालक-जीवन को सुखी बनाने के क्रम में हम बहुत दूर तक जा सकते हैं। बाल अध्ययन इन्हीं सब ज्ञात बातों से माता-पिता, अध्यापक तथा अन्य सम्बन्धित व्यक्तियों को अवगत करना चाहता है जिससे बालक के वांछित विकास के लिए समुचित वातावरण का आयोजन किया जा सके। प्रायः यह सभी लोगों का अनुभव है कि छोटे बालक बहुधा कुछ अवांछित व्यवहार दिखलाया करते हैं। कुछ विधियों से इन अवांछित व्यवहारों

1. Observation.

को रोका जा सकता है। विकास पर आवश्यक नियन्त्रण रख कर उसको एक निर्दिष्ट पथ की ओर नियोजित कर सकना, सम्भव बनाना बाल अध्ययन का एक उद्देश्य है।

बाल अध्ययन के कई उद्देश्य—

उपर्युक्त दो साधारण उद्देश्यों के अतिरिक्त बाल अध्ययन के कई उद्देश्य हैं। इन उद्देश्यों की ओर संक्षेप में नीचे संकेत किया जा रहा है:—

१—बालक के वंशानुक्रम-सम्बन्धी[1] बातों तथा संक्रमित गुणों के आधार को समझना।

२—शिशुओं की प्रतिक्रियाओं के रूप तथा आधार को समझना।[2]

३—बाल व्यवहार में आवश्यक सुधार लाने के लिए उपायों और विधियों को खोजना।

४—बालक के शारीरिक विकास, स्वास्थ्य-सम्बन्धी समस्यायें, विकास पर घर का प्रभाव तथा संवेगात्मक[3] विकास का अध्ययन करना।

५—बालक की रुचियों के संदर्भ में उसकी बुद्धि, तर्क करने तथा समझने की शक्ति तथा भाषा-विकास का अध्ययन करना।

६—बालक के सामाजिक, नैतिक तथा धार्मिक विकास को समझना, जिससे उसका उचित पथ-प्रदर्शन किया जा सके।

७—बालक के मानसिक स्वास्थ्य, सामाजिक अनुकूलन[4] तथा व्यक्तित्व-विकास-सम्बन्धी बातों को समझना।

बालक की विभिन्न क्रियायें—

उपर्युक्त उद्देश्यों से यह न समझ बैठना चाहिए कि बालक विभिन्न क्रियाओं तथा भागों का योग है। वस्तुतः बालक की क्रियायें एक सम्पूर्णता में चलती हैं। बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास होता चलता है, न कि शारीरिक, मानसिक, संवेगात्मक अथवा सामाजिक विकास अलग-अलग। केवल सुविधा की दृष्टि से ही एक बार उसके विकास के केवल एक अंग का अध्ययन किया जाता है। एक क्षेत्र में विकास का प्रभाव दूसरे पर बड़ा गहरा पड़ता है। किसी एक भाग का अध्ययन 'सम्पूर्ण' को अधिक अच्छी तरह समझने के लिए ही किया जाता है।

एक सम्पूर्ण के अंग

---

1. Mechanisms of Inheritance and Bases of Inherited Traits.
2. Dynamics of Infant Reactions. 3. Emotional Development.
4. Social Adjustment.

बालकों का उचित पथ-प्रदर्शन आवश्यक—

समाज हित की दृष्टि से यह आवश्यक है कि बालकों का उचित पथ-प्रदर्शन किया जाय, क्योंकि समाज के वे ही भावी नागरिक व निर्माता होते हैं। उनका विकास जितना अच्छा हो सकेगा उतना ही अच्छा वे समाज के निर्माण में अपना योग दे सकेंगे। योग्य नागरिकों की सहायता से ही विभिन्न मानव सम्बन्धों को सुधारा जा सकता है, समाज से अन्याय को दूर किया जा सकता है और एक नये आदर्श-समाज की स्थापना की जा सकती है। भाग्यवश बालक गतिशील रहकर दिये हुए सुझावों के अनुसार अपने को बनाने में समर्थ होते हैं। तभी तो उनके सुधार की चेष्टा की जाती है और तभी मानव भी उत्तरोत्तर विकास के पथ पर चलता जा रहा है। बाल मनोवैज्ञानिकों की खोजों और शिक्षा-विशेषज्ञों की धारणाओं से यह विश्वास बँधता है कि सभ्यता सदैव उन्नति के पथ पर अग्रसर रहेगी।

उपर्युक्त विवरण के बाद बाल अध्ययन में लाई जाने वाली विधियों की ओर यहाँ संकेत कर देना संगत दिखलाई पड़ता है। अतः नीचे हम इन्हीं की ओर आ रहे हैं।

बाल अध्ययन की विधियाँ[1]

बालक के सम्बन्ध में ठीक-ठीक बातें वैज्ञानिक विधियों के सहारे ही मालूम हो सकती हैं। नीचे कुछ ऐसी विधियों का नाम दिया जा रहा है :—

१—व्यक्तिगत आँकन[2]

२—नियन्त्रित व्यक्तिगत निरीक्षण[3]

३—मान निरूपक तथा प्रश्नावली विधि[4]

४—व्यक्ति इतिहास विधि[5]

५—मनः शारीरिक अध्ययन[6]

६—परीक्षणात्मक विधियाँ[7]

७—चिकित्सक विधि[8]

८—जीवन चरित[9]

१. व्यक्तिगत आँकन—

व्यक्तिगत आँकन विधि में निरीक्षणकर्त्ता बाल व्यवहार का अध्ययन अपनी

---

1. Methods of Child Study 2. Subjective Appraisal. 3. Controlled Subjective Observation. 4. Rating Scale and Questionnaire Technique. 5. Case History Method. 6. Psychophysical Studies. 7. Experimental Method. 8. The Clinical Method. 9. Biography.

इच्छानुसार स्वतन्त्र रूप से करता है। लोग उसकी विधि को वैज्ञानिक कहेंगे अथवा नहीं इसकी उसे चिन्ता नहीं रहती। पता नहीं कब से अध्यापक, माता-पिता, कहानीकार तथा अन्य लोग इस विधि का प्रयोग करते आये हैं। बालकों के विषय में जो कुछ कहावतें प्रचलित हैं वे इसी विधि पर बहुधा आधारित रहती हैं। इस विधि में निरीक्षणकर्त्ता अपनी साधारण बुद्धि के अनुसार बालक के विकास को समझने की चेष्टा करता है और यह निर्णय करता है कि उसकी शिक्षा कैसे संचालित की जाय।

इस विधि से ज्ञात हुई बहुत सी बातें उपयोगी हो सकती हैं; परन्तु इसमें डर यह है कि माता-पिता अपने बालक की अच्छाइयों पर अधिक झुक सकते हैं, और बुराइयों की वे अनजाने में अवहेलना कर सकते हैं। यदि निरीक्षणकर्त्ता किसी सिद्धान्त-विशेष का प्रतिपादी हुआ तो अपने निरीक्षण के आधार पर वह अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन की ही चेष्टा करेगा। इस प्रकार इस विधि को प्रोत्साहन देना ठीक नहीं। बचपन-सम्बन्धी बहुत सी गलत धारणाओं का जन्म इस विधि से भी हुआ है।

यह विधि अनियन्त्रित है। इसलिए इससे प्राप्त फल कभी वैज्ञानिक नहीं हो सकते। इसमें बहुत सी महत्वपूर्ण बातों को निरीक्षणकर्त्ता छोड़ सकता है, और अपनी रुचि के अनुसार केवल कुछ ही बातों पर वह विशेष बल दे सकता है। कुछ ही बातों के आधार पर एक साधारण नियम बनाने की निरीक्षणकर्त्ता चेष्टा कर सकता है; परन्तु यह नियम सभी बालकों के विषय में लागू नहीं हो सकता। परन्तु इन सब दोषों के होते हुए भी यह विधि बाल-सम्बन्धी समस्याओं में लोगों की बड़ी रुचि उत्पन्न कर सकती है, और इस रुचि के सहारे कुछ लोग उनके वैज्ञानिक अध्ययन की ओर झुक सकते हैं।

२. नियन्त्रित व्यक्तिगत निरीक्षण—

नियन्त्रित व्यक्तिगत निरीक्षण व्यक्तिगत आँकन विधि का एक शोधित रूप कहा जा सकता है। इस विधि में निरीक्षणकर्त्ता बाल विकास से सम्बन्धित किसी परिस्थिति को पहले से ही चुन लेता है और तत्सम्बन्धी बालक की विभिन्न स्वाभाविक प्रतिक्रियाओं[1] को अङ्कित करता रहता है। प्रतिक्रियाओं को अङ्कित करने के लिए पहले से ही बाल व्यवहार-सम्बन्धी विभिन्न बातों की एक सूची तैयार रहती है। इस सूची को अंग्रेजी में 'चेक लिस्ट' अथवा 'सिम्प्टम शीट'[2] कहते हैं। जो व्यवहार देखा जाता है उसके सामने सूची में एक चिन्ह लगा दिया जाता है। एक निश्चित

1. Natural Responses. 2. Check list or Symptom Sheet.

अवधि के अन्तर्गत यह देखने की चेष्टा की जाती है कि बालक ने किसी प्रतिक्रिया विशेष को कितनी बार दिखलाया। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक किसी निरीक्षण की सत्यता निर्धारित करने की चेष्टा करता है। ऑलसेन और गुडइनफ़[1] ने इस विधि का काफी प्रयोग किया है।

३. मान निरूपक तथा प्रश्नावली विधि—

बालक के सम्बन्ध में विविध बातों को जानने के लिए इस विधि का बड़ा प्रयोग किया जाता है। मान निरूपक विधि से व्यवहार के उन अंगों को समझने की चेष्टा की जाती है जिन्हें सांख्यिकीय विधियों से ठीक-ठीक नहीं मापा जा सकता। इस विधि में कभी-कभी व्यक्तियों को उनकी योग्यता के क्रम में रख कर समझने की चेष्टा की जाती है। जिस बालक में कोई विशिष्ट गुण उच्चतम कोटि का रहता है उसे सर्वप्रथम रखा जाता है, और जो निम्नतम कोटि का होता है उसे सबसे नीचे रखा जाता है, और अन्य सब इन दोनों के अन्तर्गत रखे जाते हैं।

मान निरूपक विधि की सत्यता अब संदिग्ध मानी जाने लगी है। इस विधि[2] में कुछ कल्पित गुणों को आधार मानकर चला जाता है। निरीक्षणकर्त्ता किसी गुण के वास्तविक अर्थ के विषय में अपना-अपना मत रख सकते हैं।

प्रश्नावली विधि को स्टैनली हाल[3] ने बड़ा प्रोत्साहन दिया है। स्टैनली हाल अमेरिका में बाल अध्ययन आन्दोलन के जन्मदाता कहे जाते हैं। प्रतिमाओं[4] के प्रकार के अध्ययन में गाल्टन[5] ने भी इस विधि का प्रयोग किया है। इस शताब्दी के प्रथम पच्चीस वर्षों में इस विधि का बड़ा प्रयोग किया गया है। इस विधि का प्रयोग बड़ी सतर्कता से करना चाहिए, अन्यथा बड़ी गलतियाँ हो सकती हैं। वस्तुतः इस विधि से कुछ समस्याओं को अधिक सरलता से समझा जा सकता है, परन्तु उन समस्याओं-सम्बन्धी बातें इससे ठीक-ठीक नहीं मालूम हो सकतीं।

४. व्यक्ति इतिहास विधि—

इस विधि से किसी व्यक्ति के विषय में बहुत सी बातें मालूम हो सकती हैं। कुटुम्ब-इतिहास, स्कूल के अनुभव, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ तथा शारी-

1. Cf. *W. C. Olson and F. Goodenough*, "The Measurement of Nervous Habits in Normal Children," *Jour. Juv. Research*, 12,230–235.
2. *J. E. Anderson*, "The Methods of Child Psychology," A Hand book of Child Psychology, p. 6, (C. Murchison, Editor) Clark University Press, Worcester, 1933.
3. G. Stanley Hall. 4. Types of Imagery. 5. Galton.

रिक और मानसिक विकास-सम्बन्धी विभिन्न बातें इस विधि से अच्छी प्रकार समझी जा सकती हैं। बालक को समझने के लिए जो-जो बातें आवश्यक हो सकती हैं वे सभी इस विधि द्वारा प्राप्त हो सकती हैं। पथ-प्रदर्शन के लिए इस विधि का सहारा लेना अनिवार्य सा माना जाता है। पहले इस विधि का प्रयोग समस्या-बालकों के समझने में ही किया जाता था। परन्तु अब साधारण बालकों के अध्ययन के लिए भी यह विधि बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई है। ब्रुक्स[1] के अनुसार तो किसी बालक के अध्ययन में इस विधि के सहारा बिना काम ही नहीं चल सकता। परन्तु इस विधि के आधार पर किसी सामान्य नियम के प्रतिपादन में बड़ी सतर्कता की आवश्यकता है और इसके लिए सैकड़ों बालकों का अध्ययन आवश्यक होगा।

५. मनः शारीरिक अध्ययन—

इस विधि से बालक के सम्बन्ध में बहुत सी बातें मालूम हो जाती हैं। शारीरिक और मानसिक विकास एक दूसरे से बहुत सम्बन्धित होता है। अतः किसी बालक को पूर्णरूपेण समझने के लिए उसके शरीर और मस्तिष्क दोनों का अध्ययन करना आवश्यक है।

६. परीक्षणात्मक विधियाँ—

परीक्षणात्मक विधियाँ बाल-अध्ययन की विधियों के विकास की चरम सीमा की ओर संकेत करती हैं। इनसे अधिक वैज्ञानिक कोई अन्य विधि नहीं। किसी नियन्त्रित अवदशा में किसी विशेष प्रकार के निरीक्षण को परीक्षण की संज्ञा दी जा सकती है। जैसे अन्य क्षेत्रों में परीक्षणात्मक विधियों का प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार बाल-अध्ययन में उनका सहारा लिया जाता है। इस विधि में नियन्त्रित टोली द्वारा किये गये कार्य की किसी स्वतन्त्र टोली के बालकों के कार्य से तुलना की जाती है, और तदनुसार एक निष्कर्ष पर पहुँचने की चेष्टा की जाती है।

७. चिकित्सक विधि—

इस विधि के अन्तर्गत व्यक्ति के इतिहास, साक्षात्[2] तथा परीक्षा आदि के आधार पर बालक के सम्बन्ध में विविध बातों को समझने का चिकित्सक प्रयास करता है। इस प्रकार बालक का अध्ययन करके उसके दोषों को दूर करने के लिए उपाय बताये जाते हैं। यदि इन उपायों से कुछ लाभ नहीं दिखलाई पड़ता तो चिकित्सक

---

1. *Brooks, F. D.*, Child Psychology, p. 13, Houghton Mifflin, Boston, 1937. 2. Interview.

विधि एक परीक्षण का रूप ले लेती है। परन्तु किसी प्रामाणिक निष्कर्ष पर पहुँचने के पूर्व बहुत से बालकों का अध्ययन करना आवश्यक होता है।

इसी विधि के अन्तर्गत मनोविश्लेषण[1] का उल्लेख किया जा सकता है। इस विधि में चेतनता[2] की धारा के विश्लेषण के आधार पर अन्तर्निहित भावनाग्रन्थियों[3], प्राथमिक प्रेरणाओं[4] तथा अवदमित स्मृतियों[5] को समझने की चेष्टा की जाती है। शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इस विधि की वैज्ञानिकता में सन्देह किया जा सकता है। इस सन्देह के कई कारण हो सकते हैं। पहले, मनोविश्लेषणवाद के सिद्धान्त अभी तक परीक्षण के आधार पर पूर्णरूपेण नहीं प्रतिपादित किये जा सके हैं। दूसरे, बालक मनोविश्लेषक के निर्देश[6] को स्वीकार करते हुए मनोविश्लेषक के सिद्धान्त को पुष्ट करने वाले उत्तर दे सकता है।

८. जीवन चरित—

बाल अध्ययन के लिए यह बड़ी ही पुरानी विधि है। बालकों के जीवन-चरित्र को लिखने वालों में पेस्तालॉजी, ह्विपिल, फेण्टन, स्टर्न, वैलनटाइन तथा वाटसन के नाम विशेषत: उल्लेखनीय हैं। जीवन चरित विधि वैज्ञानिक नहीं कही जा सकती, क्योंकि इसमें लेखक के अनुमान, रुचि तथा आवेश का बड़ा प्रभाव पड़ता है। अत: इनसे प्राप्त निष्कर्ष की प्रामाणिकता में सन्देह करना स्वाभाविक है।

केवल एक ही विधि का सहारा पर्याप्त नहीं—

बाल-अध्ययन के सम्बन्ध में यह याद रखना चाहिए कि किसी एक ही विधि के सहारे बालक को समझने का प्रयास करना ठीक नहीं। बहुत सम्भव है कि किसी बालक को समझने के लिए एक से अधिक विधियों की आवश्यकता हो; और विभिन्न बालकों के सम्बन्ध में इन विधियों में परिवर्तन करना आवश्यक जान पड़े क्योंकि सभी बालकों को समान विधि से नहीं समझा जा सकता।

बाल अध्ययन के उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक बातें

विधि वैज्ञानिक हो

बाल व्यवहार को नियन्त्रित करके उसका अध्ययन करना तथा उसके भावी विकास की ओर संकेत करना बाल अध्ययन के प्रधान उद्देश्य कहे जा सकते हैं। परन्तु इन उद्देश्यों की पूर्ति तभी अच्छी तरह हो सकती है जब बाल व्यवहार-सम्बन्धी बातों के संकलन, संगठन, विश्लेषण तथा व्याख्या की विधियाँ वैज्ञानिक हों।

1. Psychoanalysis. 2. Stream of Consciousness. 3. Underlying Complexes. 4. Basic Drives. 5. Repressed Memories. 6. Suggestions.

व्यक्तित्व की मनोवैज्ञानिक व्याख्या

बाल अध्ययन के विद्यार्थी को किसी विशिष्ट बाल-व्यवहार की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करने में समर्थ होना चाहिए। उसे बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को समझने के लिए उसकी सभी सम्भव परिस्थितियों का अध्ययन करना चाहिए। अतः बाल व्यवहार क्षेत्र का उसे अच्छा ज्ञान होना चाहिए। उसे अपने आवेश, रुचि तथा प्रवृत्ति से नहीं प्रभावित होना चाहिए। उसे याद रखना है कि प्रत्येक बालक का अपना एक व्यक्तित्व होता है, अतः प्रत्येक बालक का एक व्यक्तित्व के हैसियत से अध्ययन करना है।

आवश्यक ज्ञान और समुचित अन्तः प्रेरणा दोनों आवश्यक।

बाल व्यवहार-सम्बन्धी सभी बातों का ज्ञान प्राप्त कर लेने से ही बालकों के साथ मनोवैज्ञानिक व्यवहार दिखलाने में कोई समर्थ नहीं हो सकता। परन्तु यह सत्य है कि उचित व्यवहार दिखलाने की इच्छा रखते हुए भी इस ज्ञान के बिना बालकों के सम्बन्ध में पूर्णरूपेण कोई मनोवैज्ञानिक नहीं हो सकता। अतः बालकों के प्रति मनोवैज्ञानिक व्यवहार दिखलाने के लिए आवश्यक ज्ञान और समुचित अन्तःप्रेरणा दोनों अपेक्षित है। जिन बालकों को इस प्रकार अनुप्राणित माता-पिता अथवा अभिभावकों के सम्पर्क में रहने का सौभाग्य मिलता है वे अवश्य ही बड़े सुखी होते हैं, और उनके व्यक्तित्व का विकास अत्यन्त स्वस्थ दिशा की ओर चलता है। स्पष्ट है कि सफल बाल-मनोवैज्ञानिक होने के लिए आवश्यक बातों का ज्ञान तथा उन्हें बालकों के सम्बन्ध में प्रयोग लाने की सच्ची अन्तः-प्रेरणा आवश्यक है।

२

बचपन का महत्व और उसकी कुछ विशिष्टतायें[1]

बचपन का महत्व

सारे जीवन की नींव बचपन में

बचपन के महत्व के विषय में जितना कहा जाय थोड़ा है। प्रायः सभी मनोवैज्ञानिकों की यह धारणा है कि व्यक्तिगत और सामाजिक अनुकूलन के लिए जीवन के कुछ प्रथम वर्ष सबसे अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। सर जार्ज न्यूमैन के अनुसार प्रथम पाँच वर्षों में व्यक्ति शरीर और मन दोनों से बड़ा ही ग्रहणशील[2] होता है। एडलर के अनुसार पूरे जीवन का ढाँचा शैशव में ही पड़ जाता है। अतः बालक के भावी जीवन को बनाने के लिए उसके बचपन पर विशेष ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। फ्रॉयड का कथन है कि प्रथम पाँच-छः वर्षों में ही बालक अपने भावी जीवन में जो कुछ बनने को रहता है बन जाता है। प्रारम्भिक बचपन में ही व्यक्ति की प्रवृत्तियों और स्वभाव की नींव पड़ जाती है। गति तथा भाषा-सम्बन्धी कौशलों[3] के अतिरिक्त व्यक्ति की संवेगात्मक प्रवृत्तियाँ भी बचपन में प्राप्त कौटुम्बिक और सामाजिक परिस्थितियों पर निर्भर करती हैं। भावी चरित्र तथा व्यक्तित्व-सम्बन्धी विभिन्न गुण माता-पिता तथा अभिभावकों द्वारा प्राप्त व्यवहारों पर बहुत हद तक निर्भर करते हैं। बचपन में जिस हद तक बालक की शारीरिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है उसका उसके भावी सामाजिक अनुकूलन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। बालक डरपोक है, असामाजिक है, अहंकारी है, स्वार्थी है, परोपकारी है, अथवा पूर्णरूपेण व्यवस्थित है—इत्यादि बातें कुटुम्ब तथा निकट वातावरण से प्राप्त व्यवहारों का फल होती हैं। जैसे; जब तक मिट्टी का बर्तन कच्चा और गीला है तब तक उसे चाहे जिस ओर मोड़ा जा सकता है; परन्तु सूख अर्थात् पक जाने पर उसमें परिवर्तन लाना असम्भव हो जाता है; उसी प्रकार जब तक व्यक्ति अपने बचपन में है तब तक उसे बहुत सी बातें सिखलाई जा सकती हैं और उसमें विविध परिवर्तन लाये जा सकते हैं; परन्तु बड़े हो जाने पर

1. Significance and Some Characteristics of Childhood. 2. Receptive. 3. Motor and Language Skills.

उसमें परिवर्तन लाना बड़ा ही कठिन हो जाता है। इसीलिए सभी मनोवैज्ञानिक और शिक्षा-विशेषज्ञ बचपन की शिक्षा पर विशेष बल देते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि बचपन जीवन का एक बहुत ही महत्वपूर्ण अंग है और इसका पूर्ण ज्ञान बालकों के सफल लालन-पालन के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

मनोविश्लेषकों की खोजों से बचपन का महत्व और अधिक स्पष्ट हो जाता है। इस सम्बन्ध में समाज उनका बड़ा ऋणी रहेगा। मानसिक रोगियों की चिकित्सा के क्रम में उन्होंने प्रमाण द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि अधिकांश मानसिक उलझनों की जड़ बचपन के अमनोवैज्ञानिक व्यवहार में पाई जा सकती है। बचपन में मूल-प्रवृत्यात्मक इच्छाओं के अवदमन[1] से व्यक्तित्व का विकास कैसे अवांछित दिशा की ओर जा सकता है इसका स्पष्टीकरण फ्रॉयड, एडलर, युङ्ग तथा अन्य मनोविश्लेषकों की रचनाओं में भली-भाँति किया गया है। जिन्होंने अवांछित भय, प्रवृत्ति, झक तथा पाप-भावना के प्रारम्भ के कारणों का अध्ययन किया है उनका यह कहना है कि ये सब आदतें व्यक्ति अपने बचपन के दिनों में ही अधिकांशतः अपनाता है। इससे यह स्पष्ट है कि भावी मानसिक स्वास्थ्य के लिये बचपन प्रबल संवेगात्मक झकोरों[2] से बालकों को बचाना नितान्त आवश्यक है।

मानसिक उलझनों की जड़ बचपन में

बाल विकास की कुछ साधारण विशिष्टतायें[3]

कुछ बातें साधारणतः मानव विकास के सम्बन्ध में लागू होती हैं और उनका विकास के रूप पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। इन बातों को उनके महत्व की दृष्टि से एक क्रम में नहीं रखा जा सकता। ये बातें बचपन में विशेष रूप से स्पष्ट जान पड़ती हैं। अतः इन्हें बाल-विकास की विशिष्टतायें कहा जा सकता है। नीचे इन्हीं की ओर अति संक्षेप में संकेत किया जा रहा है :—

१. विकास का एक विशिष्ट क्रम[4]—

पशु अथवा मानव दोनों का विकास एक विशिष्ट क्रम में चलता है। यह क्रम प्रत्येक जाति का अपना अलग-अलग होता है। किसी जाति के प्रत्येक सदस्य का विकास इस क्रम के अनुरूप होता है। मानव जाति के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि विकास एक सुसंगठित रूप में चलता है। विकास की प्रत्येक अवस्था बीती हुई अवस्था

---

1. Repression of Instinctive Desires. 2. Excessive Emotional Disturbances. 3. Some General Characteristics of Child Development. 4. A Specific Pattern of Development.

की प्रतिफल होती है और आगे आने वाली अवस्था के लिए एक रास्ता बनाती रहती है। उदाहरणार्थ ; बच्चे के पहले सामने वाले दाँत आते हैं, तब क्रमशः चौभड़ और बगल वाले दाँत आते हैं, क्योंकि पहले सामने वाले दाँत की ही अधिक आवश्यकता होती है। इनके बाद चौभड़ और बगल वाले दाँत की बारी आती है। इसी प्रकार 'चलना' सीखने के पूर्व बालक पहले खड़ा होना सीख लेता है और खड़ा होना सीखने के पूर्व वह बैठना सीख लेता है। इस प्रकार बालक का विकास एक क्रम में चलता है। इसीलिए मनोवैज्ञानिकों ने उनके विकास के साधारण अनुमान के लिए ऊँचाई-उम्र[1], तौल उम्र[2], मानसिक उम्र[3], तथा सामाजिक विकास[4]-उम्र इत्यादि विभिन्न अनुपात निश्चित कर लिया है। यह देखा जाता है कि बालक वर्ग का अधिकांश भाग इस अनुपात के अन्तर्गत अनुमानतः आ ही जाता है।

शारीरिक विकास में शिशु सर्व प्रथम अपने सिर पर नियन्त्रण प्राप्त करता है; तब शरीर की साधारण बनावट में पहले से कुछ सुधार आ जाता है। इसके बाद धीरे-धीरे ऊपर से नीचे के क्रम में अन्य अवयवों पर शिशु नियन्त्रण प्राप्त करता है। इसी प्रकार चर्म-सम्बन्धी[5] संवेदनशीलता सर्वप्रथम शरीर के ऊपरी भाग में आती है। इसके बाद वह नीचे वाले अंगों में प्राप्त होती है। इसी प्रकार विकास के अन्य क्षेत्रों—जैसे गति-सम्बन्धी, खेल-सम्बन्धी तथा सामाजिक—आदि में भी एक विशिष्ट क्रम मिलता है।

२. विकास साधारण से विशिष्ट प्रतिक्रियाओं की ओर[6]—

सर्वप्रथम सभी क्षेत्रों में बालक साधारण प्रतिक्रियायें ही दिखला पाता है। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि किसी भी दशा में इसका उलटा नहीं होता। मांस-पेशीय[7] प्रतिक्रियाओं के सम्बन्ध में इस नियम का स्पष्टीकरण सर्वप्रथम मिलता है। नवजात शिशु अपना सारा शरीर एक बार हिलाता है, न कि अपने शरीर का कोई विशिष्ट अङ्ग। शिशु पहले अपनी पूरी भुजा हिलाता है। उसका यह हिलाना ऊट-पटाँग लगता है। ऐसी ऊट-पटाँग गतियाँ दिखलाने में समर्थ हो जाने के बाद ही हाथ-सम्बन्धी कोई विशिष्ट गति दिखलाने में वह समर्थ होता है।

शिशु पहले बड़ी वस्तुओं को देख पाता है। छोटी वस्तुओं को देख सकने की शक्ति उसमें बाद में आती है, क्योंकि पहले छोटी वस्तुओं पर समन्वित रूप में आँखें केन्द्रित करने की शक्ति उसमें नहीं रहती। यदि बालक किसी वस्तु की ओर

---

1. Height-age scale. 2. Weight-age scale. 3. Mental-age scale. 4. Social development scale. 5. Skin Sensitivity 6. Development goes from General to Specific Responses. 7. Muscular Responses.

पहुँचना चाहता है तो उस ओर उसका केवल हाथ अथवा पैर ही नहीं जाता, वरन् वह अपना पूरा शरीर ही उस ओर फेंकता है। लगभग छः महीने के हो जाने पर पहुँचने की प्रतिक्रिया वह दोनों हाथों से दिखलाता है और एक साल पर वह एक ही हाथ से प्रतिक्रिया दिखलाने में समर्थ हो जाता है। कोई नया काम सीखने में, जैसे कपड़ा पहनने में, उसका पूरा शरीर क्रियाशील दिखलाई पड़ता है। इस कौशल में कुछ उन्नति हो जाने पर कपड़ा पहनने के क्रम में उसके केवल हाथ ही क्रियाशील दिखलाई पड़ते हैं।

अन्य क्षेत्रों में भी बालक पहले साधारण प्रतिक्रियायें ही दिखला पाता है। उदाहरणार्थ; भाषा सीखने के क्रम में पहले वह 'गिल-बिल गिल-बिल' ध्वनियाँ उत्पन्न करता है। ऐसा करने के बाद ही वह कुछ शब्दों को स्पष्टतः उच्चारित कर पाता है। शिशु पहले एक ही नाम से प्रत्येक को पुकारना प्रारम्भ कर देता है, इसके बाद वह प्रत्येक को उसके नाम से पुकारने में समर्थ होता है। पाठक शिशुओं के साथ अपने अनुभव के आधार पर इस कथन की पुष्टि स्वयं कर सकते हैं। कुछ बच्चे प्रारम्भ में सभी को अम्मा, मामा, बाबा अथवा दादा पुकारते हैं। बच्चे के संवेगात्मक व्यवहार के सम्बन्ध में भी यही बात देखी जाती है। पहले वह किसी भी विचित्र वस्तु को देख कर भय प्रदर्शित कर सकता है। कुछ दिन बाद वह किसी विशिष्ट परिस्थिति में ही भय प्रदर्शित करता है और उसके भय-प्रदर्शन का रूप भी विशिष्ट हुआ करता है।

३. क्रमिक विकास[1]—

विकास की गति गर्भाधान के समय से प्रौढ़ावस्था तक चलती रहती है। यह गति बड़ी धीमी होती है और एक नियम के अनुसार चलती रहती है। शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के गुण[2] एक क्रम से धीरे-धीरे विकसित होते रहते हैं और किशोरावस्था[3] के अन्त होते-होते वे अपनी चरम सीमा तक पहुँच जाते हैं।

किसी गुण का यकायक विकास नहीं

कोई शारीरिक अथवा मानसिक गुण यकायक नहीं विकसित हो जाते। वस्तुतः उनकी नींव बच्चे में जन्म से ही पड़ जाती है। शारीरिक विकास के सम्बन्ध में कुछ लोग यह अनुमान कर सकते हैं कि दाँत प्रथम वर्ष के अन्तर्गत यकायक निकल आते हैं। परन्तु बात ऐसी नहीं है। दाँत की नींव तो गर्भाधान के लगभग पाँचवें महीने से ही पड़ जाती है, यद्यपि जन्म के ५–६ महीने के बाद ही मसूढ़े के बाहर वे निकल पाते हैं।

---

1. Continuous Development. 2. Traits. 3. प्रायः किशोरावस्था का काल लगभग १२ वें या १३ वें वर्ष से २१ वें या २२ वें वर्ष तक माना जाता है, और बाल-काल प्रथम १२ या १३ वर्ष तक।

इसी प्रकार एक ही दिन अथवा रात में भाषा का विकास बच्चे में नहीं हो जाता। भाषा विकास की नींव में बच्चे की अनेक 'गिल-बिल-गिल-बिल' अर्थात् निरर्थक ध्वनियाँ पड़ी रहती हैं।

विकास की गति का न रुकना

शारीरिक और मानसिक विकास की गति सदा समान नहीं रहती, परन्तु अपनी चरम सीमा पर पहुँचने के पूर्व वह कभी रुकती नहीं। इस गति का रुकना किसी विशिष्ट बीमारी, भोजन का अभाव, तथा वातावरण-सम्बन्धी कुछ अन्य कारणों से हो सकता है। मानसिक विकास की तुलना में शारीरिक विकास इन सब कारणों से अधिक प्रभावित होता है। जब किसी समय विकास की गति वाह्य रूप से धीमी जान पड़ती है तो उस समय विकास विशेषतः आन्तरिक रूप से अधिक चलता रहता है; और यह आन्तरिक रूप आगे चलकर स्वाभाविक वाह्य रूप ले लेता है।

एक अवस्था का दूसरी अवस्था पर प्रभाव

विकास के क्रमिक होने से एक अवस्था के विकास का दूसरी अवस्था के विकास पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ; यदि एक अवस्था में पौष्टिक भोजन बच्चे को नहीं दिया जा सका तो उससे शारीरिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बच्चे को इतनी हानि पहुँच सकती है कि विकास की दूसरी अवस्था में उसका शीघ्र ही पूरा करना अत्यन्त कठिन हो जाय। अमनोवैज्ञानिक वातावरण के कारण बच्चे को जो संवेगात्मक धक्के[1] लग सकते हैं उसका प्रभाव उसके व्यक्तित्व[2] पर सदा के लिए स्थायी हो सकता है। बचपन में यदि कोई अवांछित प्रवृत्तियों[3] को बालक ने अर्जित कर लिया है तो उनसे उसे पूर्णतः मुक्त नहीं किया जा सकता। ऐसी अवांछित प्रवृत्तियों का प्रभाव युवावस्था अथवा बुढ़ापे में भी देखा जाता है।

४. विकास की गति में वैयक्तिक वैभिन्य[4] की स्थिरता—

विकास की गति में अनुरूपता

कुछ लोगों की यह धारणा है कि प्रारम्भ में जो बालक शारीरिक और मानसिक विकास की दृष्टि से औसत से नीचे रहता है बाद में वह ठीक हो जाता है। परन्तु इस धारणा की पुष्टि के लिए कोई वैज्ञानिक प्रमाण नहीं मिलता। इसके विपरीत बहुत से ऐसे वैज्ञानिक प्रमाण मिलते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि विकास की गति में

1. Emotional Shocks. 2. Personality. 3. Undesirable Attitudes.
4. Constancy of Individual Differences in Rate of Development.

एक अनुरूपता मिलती है। इसका तात्पर्य यह है कि जिसका विकास पहले द्रुत गति से प्रारम्भ होता है उसका विकास सदैव द्रुत गति से ही चलता रहेगा और जिसका विकास मन्द गति से प्रारम्भ होता है उसका विकास मन्द गति से ही चलता रहेगा। कुशाग्र, साधारण तथा मन्द बालक की मानसिक उम्र की वक्र रेखा से इस बात की पुष्टि होती है। ऊँचाई की वक्र रेखा से यह ज्ञात होता है कि जो बालक एक उम्र पर लम्बे रहते हैं वे प्रायः दूसरी उम्र पर भी लम्बे मिलते हैं। जेसेल[1] ने कुशाग्र बालकों के अध्ययन में इस बात की सत्यता सिद्ध की है। प्रतिभाशाली[2] व्यक्तियों के अपने अध्ययन में टरमैन[3] ने देखा कि वे बचपन में भी बड़े प्रतिभाशाली थे।

भावी विकास का अनुमान

विकास की गति में वैयक्तिक वैभिन्य की स्थिरता के कारण बहुत प्रारम्भ में ही भावी अन्तिम विकास के रूप का अनुमान किया जा सकता है। यह अनुमान तभी सम्भव नहीं होता जब विकास की गति कुछ वातावरण-सम्बन्धी कारणों से रुक जाती है और बाद में कारण दूर कर दिये जा सकते हैं।

५. शरीर के विभिन्न अवयवों[4] के लिए विकास की विभिन्न गति—

शरीर के सभी अङ्गों का विकास समान गति से नहीं चलता, और न विभिन्न मानसिक शक्तियाँ समान गति से विकसित होती हैं। जन्म के समय शरीर के विभिन्न अंग एक दूसरे से विभिन्न अनुपात में रहते हैं। शारीरिक और मानसिक विकास के विभिन्न अंग विभिन्न समय में अपनी प्रौढ़ावस्था पर आते हैं। मस्तिष्क[5] ६वें तथा ८वें वर्ष के अन्तर्गत अपना अधिकतम तौल पा लेता है, परन्तु बाद में भी उसका सुसंगठन चलता रहता है। हाथ, पैर तथा नाक आदि विभिन्न अवयव किशोरावस्था के अन्तर्गत पूर्ण-रूपेण विकसित हो जाते हैं। कदाचित् इसीलिए किशोरावस्था में व्यक्ति के व्यवहार में बड़ा अव्यवस्थापन दिखलाई पड़ता है। हृदय, यकृत तथा विभिन्न पाचन-सम्बन्धी अंग किशोरावस्था में खूब बढ़ते हैं।

शारीरिक और मानसिक विकास के विभिन्न अंगों का विकास विभिन्न गति से

व्यक्ति की खेल-सम्बन्धी रुचियाँ बचपन में ही अपनी चरम सीमा पर पहुँच

---

1. *Gesell, A.*, Infancy and Human Growth, Macmillan, New York, 1928.

2. Genius. 3. *Terman, L. M.*, Genetic Siudies of Genius, Vol. 2, Stanford University Press, Stanford, 1926.

4. Different Rates of Development for Different Parts of the Body. 5. Brain.

जाती हैं। सामाजिक तथा स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी रुचियों का विकास कैशोर में अपनी चरम सीमा पर रहता है। बचपन में रचनात्मक कल्पनायें बड़ी द्रुत गति से विकसित होती हैं और उनका विकास प्रौढ़ावस्था तक चलता रहता है। तर्क-शक्ति का विकास अनुपातत: कुछ धीमी गति से चलता है। मूर्त वस्तुओं-सम्बन्धी स्मृति का विकास अमूर्त गुणों की अपेक्षा शीघ्रतर होता है। एक सामान्य व्यक्ति के लिए साधारण बुद्धि का विकास लगभग १६वें वर्ष में अपनी पराकाष्ठा को पहुँच जाता है।

किस अवस्था में किस प्रकार का विकास द्रुत गति से चल रहा है—इसके ज्ञान से बालकों का पथ-प्रदर्शन अधिक अच्छी तरह किया जा सकता है। उदाहरणार्थ; तरुणावस्था[1] में जब व्यक्ति में विभिन्न प्रकार के शारीरिक और ग्रन्थि-सम्बन्धी[2] परिवर्त्तन होते हैं उस समय व्यक्ति के लिए स्कूल और घर का कार्य कुछ हलका कर देना चाहिए। परन्तु इसके विपरीत बहुधा माता-पिता और अध्यापक इस समय व्यक्ति से अत्यधिक कार्य की अपेक्षा करते हैं। जब विकास बड़ी द्रुत गति से चलता है तो बालक को पर्याप्त नींद और विश्राम की आवश्यकता होती है। बालक की दिनचर्या के आयोजन में इन सब बातों पर अच्छी तरह ध्यान देना चाहिए।

विकास के रूप के ज्ञान से पथ-प्रदर्शन अच्छा

६. विकास की दृष्टि से अधिकांश गुणों में सह-सम्बन्ध[3]—

कुछ लोगों की यह धारणा है कि जो बालक एक गुण के विकास में तीव्र होता है वह दूसरे में धीमा होता है और जो एक में धीमा होता है वह दूसरे में तीव्र होता है। परन्तु परीक्षणों से देखा गया है कि इसका उलटा ही सत्य होता है। जिस बालक का बौद्धिक विकास औसत से ऊपर होता है वह ऊँचाई, आकार, सामाजिकता, तथा विशिष्ट झुकावों के विकास में भी उत्कृष्ट कोटि का दिखलाई पड़ता है। जिस बालक का बौद्धिक विकास औसत से नीचा होता है उसका विकास प्राय: अन्य क्षेत्रों में भी औसत से नीचे होता है। मानसिक दोष वाला व्यक्ति साधारणत: कद में नाटे ही दिखलाई पड़ते हैं। उत्कृष्ट बुद्धि वालों में सभी प्रकार की प्रौढ़ता शीघ्रतर आती है और साधारण बुद्धि वालों में प्रौढ़ता अपेक्षाकृत

तीव्र बालक के सभी प्रकार के विकास अच्छे

1. Puberty, nearly at the age of 13, 14 or so. 2. Glandular changes. 3. A Correlation in most of the traits from the point of view of development.

देर से आती है। इस सम्बन्ध में वातावरण, जलवायु तथा जाति-सम्बन्धी बातों पर भी ध्यान देना आवश्यक है।

७. विकास के अन्तिम रूप का अनुमान सम्भव[1]—

प्रत्येक बालक के विकास की गति में स्थिरता रहती है, इसलिए उसके विकास के भावी रूप का अनुमान किया जा सकता है। ऊपर भी इस ओर संकेत किया जा चुका है। इस प्रकार के अनुमान से बालक के शिक्षा-आयोजन में बड़ी सहायता मिल सकती है। बालकों को गोद लेने में भी इस बात से बड़ी सहायता मिलती है। परन्तु यह ध्यान रखना है कि सभी प्रकार के मानसिक विकास के सम्बन्ध में ठीक-ठीक अनुमान कर सकना सम्भव नहीं। जिस बालक की योग्यता सामान्य होती है उसके विषय में बहुत प्रारम्भ में ही अनुमान किया जा सकता है और जो सामान्य कोटि से नीचे होता है उसके विषय में ठीक-ठीक अनुमान करना कुछ कठिन होता है। मन्द बुद्धि बालकों के सम्बन्ध में तो यह और भी कठिन होता है।

सभी प्रकार के विकास के सम्बन्ध में ठीक-ठीक अनुमान सम्भव नहीं

८. प्रत्येक विकासावस्था की अपनी विशिष्टतायें[2]—

प्रत्येक विकासावस्था में कुछ बातें दूसरी से शीघ्रतर विकसित होती हैं। उदाहरणार्थ: जन्म[3] के पूर्व, शैशव[4] तथा पूर्व कैशोर[5] में शारीरिक विकास का अन्य अवस्थाओं की अपेक्षा अत्यधिक महत्व होता है। शैशव में शरीर पर नियन्त्रण प्राप्त करने का विकास उसी प्रकार अधिक महत्वपूर्ण जान पड़ता है जैसे उत्तरार्ध बचपन[6] में सामाजिकता[7] और सहकारिता[8], पूर्व कैशोर[9] में अव्यवस्थापन, तथा आत्मप्रदर्शन हेतु उत्तर-कैशोर[10] की स्फूर्ति[11] की वृद्धि को अधिक महत्व दिया जा सकता है।

९. किसी अवस्था के कल्पित समस्या-व्यवहार उस अवस्था के सामान्य व्यवहार—[12]

विकास की प्रत्येक अवस्था में व्यक्ति में कुछ अवांछित व्यवहार दिखलाई पड़ते

1. Development can be roughly predicted. 2. Each development phase has its own characteristic traits. 3. Parental. 4. Infancy, 5. Early Adolescence. 6. Late Childhood (between 10 and 11). 7. Sociability. 8. Co-operativeness. 9. Early Adolescence (Near 13,14 or so). 10. Late Adolescence (18,19, 20 or so). 11. Smartness. 12. The Supposed Problem behaviour of a stage is only a normal **behaviour.**

हैं। ये व्यवहार उस अवस्था के बीत जाने पर स्वतः दूर हो जाते हैं। परन्तु कुछ माता-पिता इस सामान्य नियम से अवगत नहीं रहते और बालक के कुछ व्यवहार से बड़े ही घबड़ा जाते हैं और सोचते हैं कि वह एकदम चौपट होता जा रहा है। उदाहरणार्थ; प्राइमरी स्कूल की अवस्था में बालक अपने शरीर और कपड़े को शीघ्र ही गन्दा कर डालता है। इससे कुछ मातायें बड़ी घबड़ाती हैं। वे सोचती हैं कि उनका बच्चा कभी स्वच्छता से रहना न सीख सकेगा। परन्तु कैशोर के आने पर वही बच्चा अपने शरीर तथा कपड़े के सौन्दर्य पर विशेष ध्यान देने लगता है। लड़के और लड़कियाँ दोनों प्राइमरी स्कूल की अवस्था में बड़े ही ऊधमी दिखलाई पड़ते हैं। उनका ऊधम उनके शारीरिक विकास की द्रुत गति का परिणाम होता है। परन्तु थोड़े ही दिनों बाद उनका यह ऊधम बन्द हो जाता है। इसी प्रकार कैशोर के प्रारम्भ में लड़के और लड़कियों के विभिन्न अवयवों में व्यवस्थापन की कमी होती है। वे बहुधा समय-समय पर लड़खड़ा जाते हैं और उनके हाथ से वस्तुएँ गिर जाती हैं। परन्तु ये सब दोष बाद में स्वतः दूर हो जाते हैं।

समस्या-व्यवहार का स्वतः दूर हो जाना।

१०. प्रत्येक व्यक्ति का अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँचना सम्भव[1]—

यह सत्य है कि व्यक्तियों के विकास की गति में विभेद पाया जाता है और सबका विकास एक ही गति से नहीं चलता। परन्तु साधारणतः यह देखा जाता है कि कुछ विरले व्यक्तियों को छोड़कर, २१ वें वर्ष में विकास अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है। यदि किसी व्यक्ति का सभी प्रकार का विकास इस अवधि के अन्तर्गत न हुआ तो उसके मन्द बुद्धि होने में कम सन्देह किया जा सकता है। बुरा स्वास्थ्य, पौष्टिक भोजन का अभाव, कोई विशिष्ट बीमारी, अवांछित वातावरण अथवा कुछ अन्य बातें व्यक्ति के विकास को कुछ अवश्य अवरोधित कर सकती हैं, परन्तु यह अवरोधक केवल अस्थायी ही होता है। कहने का अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने विकास की चरम सीमा पर किसी न किसी प्रकार एक दिन पहुँच सकता है।

लगभग २१ वें वर्ष पर

विकास-सिद्धान्त के ज्ञान से दो लाभ—

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि विकास के सिद्धान्तों से माता-पिता,

---

1. Every individual can reach his maximum stage of development.

विकास सिद्धान्त के ज्ञान से आवश्यक प्रेरणा दे सकना सम्भव

अभिभावकों तथा अध्यापकों को अवश्य अवगत होना चाहिए, अन्यथा वे बालकों से अत्यधिक अथवा बहुत कम अपेक्षा करने लगेंगे। कहना न होगा कि उनकी ऐसी अपेक्षा का लड़के अथवा लड़कियों के विकास पर बड़ा प्रभाव पड़ेगा। यदि उनसे अत्यधिक अपेक्षा की जाती है तो वे आत्महीनता की भावनाग्रन्थि[1] के अभियुक्त हो सकते हैं और उनमें आत्म-विश्वास की कमी आ सकती है। यदि उनसे कम की ही आशा की जाती है तो उनके सामने यथाशक्ति काम करने की प्रेरणा न रहेगी। ऐसी दशा में फल यह होगा कि उनका विकास कुण्ठित हो जायगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि विकास-सिद्धान्त के ज्ञान से बच्चों को आवश्यक प्रेरणा देना सरल हो सकता है।

शिक्षा की समुचित व्यवस्था सम्भव

विकास-सिद्धान्त के ज्ञान से दूसरा लाभ यह है कि इससे बालक की शिक्षा की समुचित व्यवस्था करना अधिक सरल हो सकता है, क्योंकि ऐसी अवस्था में यह समझना कठिन होगा कि कब कैसी प्रेरणा देनी चाहिए और कब कैसी नहीं देनी चाहिए।

३
शारीरिक विकास[1]

शारीरिक-विज्ञान के अन्तर्गत गर्भाधान से लेकर प्रौढ़ावस्था तक के विकास को इतना महत्व दिया जाता है कि इस विषय पर शरीर-विज्ञान वेत्ताओं ने अनेक पुस्तकें लिख डाली हैं। वस्तुतः शारीरिक विकास एक ऐसा विषय है जो बाल-विकास के क्षेत्र में प्रत्यक्षतः नहीं आना चाहिए। परन्तु मानसिक और शारीरिक विकास में इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि शारीरिक विकास के समुचित ज्ञान बिना बाल-व्यवहार-सम्बन्धी विभिन्न बातें समझना अत्यन्त कठिन है। इस अध्याय में शारीरिक विकास-सम्बन्धी केवल उन्हीं बातों पर संक्षेप में विचार किया जायगा जिनका मानसिक विकास से सीधा सम्बन्ध होता है।

मानसिक विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध

शारीरिक विकास का साधारण रूप वंशानुक्रम[2] द्वारा निर्धारित होता है और वातावरण[3] द्वारा उसमें विभिन्न प्रकार का सुधार आना सम्भव होता है। शारीरिक विकास इतने स्वाभाविक रूप से चलता रहता है कि उस पर हम कदाचित् ही कभी विशेष ध्यान देते हैं। हम यह कभी नहीं सोच पाते कि हमारे जीवन-काल का लगभग तृतीयांश शारीरिक विकास में चला जाता है। विगत तीस वर्षों में शारीरिक विकास तथा उसके सिद्धान्तों के विषय से बड़े अन्वेषण किये गये हैं और उनसे बड़ी नई-नई बातें प्रकाश में आई हैं। इन नई-नई बातों के समुचित ज्ञान बिना माता-पिता और अध्यापक बालकों के पथ-प्रदर्शन में पूर्णरूपेण सफल नहीं हो सकते। परन्तु इस अध्याय का तात्पर्य इन विषम अन्वेषणों के फल से पाठक को आश्चर्यचकित नहीं करना है, वरन् बालक के मानसिक और व्यक्तित्व-विकास के सम्बन्ध में शारीरिक विकास के महत्व पर थोड़ा प्रकाश डालना है।

अनेक अन्वेषण

1. Physical Development. 2. Heredity. 3. Environment.

शारीरिक और मानसिक विकास में दो प्रकार का सम्बन्ध

शारीरिक और मानसिक विकास में दो प्रकार के सम्बन्ध का उल्लेख किया जा सकता है। वे प्रकार ये हैं:—

१—मानसिक विकास के कई अंग शारीरिक विकास पर स्वभावतः निर्भर करते हैं।

२—किसी शारीरिक अंग के कुण्ठित विकास से मानसिक विकास केवल अवरोधित ही नहीं होता, वरन् उसके फलस्वरूप बालक में कुछ 'अवांछित' असामान्य 'व्यवहार'[1] भी देखे जा सकते हैं।

इन दोनों प्रकारों के तात्पर्य की ओर नीचे संकेत किया जा रहा है :—

साधारण शारीरिक विकास—

साधारणतः लोगों की यह धारणा है कि शारीरिक और मानसिक विकास एक दूसरे के विपरीत दिशा पर चलते हैं; अर्थात् यदि कोई व्यक्ति शरीर से हृष्ट-पुष्ट है तो वह प्रायः अति साधारण अथवा मन्द बुद्धि[2] का होता है और जो उत्कृष्ट बुद्धि का होता है उसका शारीरिक विकास अच्छा नहीं होता है। परन्तु इस धारणा के समर्थन में कोई वैज्ञानिक प्रमाण नहीं मिलता। इसके विपरीत, बहुत से ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि बचपन में शारीरिक और मानसिक विकास में सहसम्बन्ध होता है; अर्थात् अच्छे शारीरिक विकास के साथ मानसिक विकास भी प्रायः उतना ही अच्छा चलता है। प्रतिभाशाली[3] व्यक्तियों-सम्बन्धी अपने अध्ययन में टरमैन[4] ने यह देखा कि मन्द मानसिक विकास वाले बालकों का शारीरिक विकास भी मन्द गति से चलता है।

मानसिक विकास से सहसम्बन्ध

बालक में संवेगात्मकता[5] के विकास का उसमें दाँत आने से घनिष्ठ सम्बन्ध दिखलाई पड़ता है। तभी तो ६ महीने से २½ वर्ष की उम्र के अन्तर्गत दाँतों के आने के साथ बालक विभिन्न प्रकार का संवेगात्मक व्यवहार दिखलाता है। पाठक ने यह देखा होगा कि दाँत आने के समय बालक कुछ अस्वस्थ दिखलाई पड़ता है और वह

---

1. Undesirable abnormal behaviour. 2. Of average intelligence, or mentally backward. 3. Genius. 4. *Terman*, Genetic Studies of Genius Vol. 1, Stanford University Press Stanford, 1925.

5. Emotionality.

बड़ा चिड़चिड़ा स्वभाव का हो जाता है। तरुणावस्था में भी व्यक्ति में 'स्नायविक निर्बलता'[1] तथा संवेगात्मकता दिखलाई पड़ती है। यह भी उस समय शरीर में होने वाले परिवर्तन के फलस्वरूप ही होता है। तैंतीस शिशुओं के अध्ययन में वीच और कैम्पबेल[2] ने यह दिखलाया है कि शरीर के तौल का बालक के बैठने, रेंगने तथा चलने पर क्या प्रभाव पड़ता है। उन्होंने देखा कि जिन शिशुओं का शारीरिक विकास द्रुति गति से होता था उनका व्यवहार-सम्बन्धी विकास भी द्रुति गति से चलता था। बालकों के खेल-सम्बन्धी विकास सभी अवस्था में उनके शारीरिक और मानसिक विकास पर निर्भर करता है। शरीर के आकार तथा मांसपेशियों की शक्ति आदि पर यह निर्भर करता है कि बालक अपनी उम्र के अन्य बालकों के साथ कैसे खेलों में भाग लेगा। बुद्धि का विकास मस्तिष्क[3] के आकार तथा तौल पर बहुत हद तक निर्भर करता है।

संवेगात्मकता, गतिशीलता, खेल तथा बुद्धि का विकास

बालक के शारीरिक विकास का उसके सामाजिक विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध है। छोटे कद का अथवा शरीर से निर्बल होने के कारण बालक बड़ों के सामने लज्जा का अनुभव कर सकता है तथा अपनी उम्र के अन्य स्वस्थतर बालकों के सामने उसके मन में आत्महीनता की भावना आ सकती है। शरीर की स्थूलता का व्यक्तित्व पर पड़े प्रभाव का ब्रूश[4] ने इस प्रकार विश्लेषण किया है:—"जब बालकों को अपने माता-पिता अथवा अभिभावकों से समुचित प्यार या संवेगात्मक सन्तोष नहीं मिलता तो वे अपनी चिन्ता तथा उत्तेजित प्रवृत्तियों की शान्ति के लिए अत्यधिक भोजन करने की आदत में आ जाते हैं।" यह देखा भी जाता है कि ऐसे लड़के बहुधा भूख के नाम पर असमय पर खाने की माँग किया करते हैं। स्थूल बालक में स्फूर्ति नहीं होती। अतः अपने साथियों के साथ ठीक से खेलने में उसकी विशेष रुचि नहीं रहती। इसका फल यह होता है कि उसमें बहुत से आवश्यक सामाजिक गुणों का अभाव रह जाता है।

सामाजिक विकास पर प्रभाव

कुण्ठित शारीरिक विकास का प्रभाव—

ऊपर हम कह चुके हैं कि किसी शारीरिक अङ्ग के कुण्ठित विकास का मान-

---

1. Nervousness. 2. *Weech, A. A., and Cambell, R. V. D.*, The Relation between the Development of Behaviour and the Pattern of Physical Growth, Child Development, 12 : 237-240, 1941.

3. Brain. 4. *Bruch, H.*, Food and Emotional Security, Nervous Child 3 : 165-173, 1943.

सिक विकास पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। जो बालक कण्ठ-ग्रन्थि[1] से पीड़ित रहता है उसका शारीरिक तथा मानसिक दोनों विकास धीमा पड़ जाता है। बहरेपन, अन्धेपन तथा निर्बल हृदय के कारण बालक अन्य बालकों के साथ स्फूर्तिदायक खेलों में भाग नहीं लेता। फलतः बालक का सामाजिक विकास समुचित रूप से नहीं चल पाता और इसका प्रभाव उसके सारे व्यवहार पर पड़ता है। दूसरे बालक भी ऐसे बालक की ओर कुछ हेय दृष्टि से देखते हैं। वे उसे चिढ़ाते हैं, उसकी अवहेलना करते हैं अथवा उसके प्रति सहानुभूति दिखलाते हैं। चिढ़ाने, अवहेलना तथा सहानुभूति का बालक के व्यक्तित्व पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। मैक्सफील्ड और फेल्ड[2] का कहना है कि अन्धापन छोटे बालकों को अन्य समान सामान्य बालकों की अपेक्षा सुस्त तथा कम आत्मनिर्भरता वाला बनाता है। बहरेपन से उनके अनुसार लड़के कुछ मूर्ख दिखलाई पड़ते हैं। बहरे लड़के भाषा-सम्बन्धी सभी विषयों के पढ़ने में कमजोर हो जाते हैं, क्योंकि भाषा-ज्ञान के कम होने के कारण उन्हें समझने में बड़ी कठिनाई होती है।

कण्ठ-ग्रन्थि, बहरेपन, निर्बल हृदय तथा अंधेपन का प्रभाव

बालक जो कुछ सोचता है, अनुभव करता है तथा कहता है वह उसके शारीरिक विकास पर इतना अधिक निर्भर करता है कि यह कहा जाता है कि बालक अपने शारीरिक विकास की अवस्थानुसार ही व्यवहार करता है। इस प्रकार बालक के व्यवहार-विकास पर उसकी उम्र का उतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना कि उसके शारीरिक विकास का पड़ता है।

शारीरिक विकास के अध्ययन की विधियाँ

शारीरिक विकास के अध्ययन के लिये दो विधियों का प्रयोग किया जाता है—

१—पहली विधि में साल-साल पर उसी व्यक्ति का बार-बार अध्ययन किया जाता है और इस प्रकार उसके विकास-गति को समझने की चेष्टा की जाती है। इस विधि को अंग्रेजी में लॉङ्गीट्यूडिनल[3] मेथड कहते हैं।

२—दूसरी विधि में विभिन्न उम्रों के लिये विकास की दृष्टि से एक प्रतिमान[4] निर्धारित करने के हेतु विभिन्न उम्र के व्यक्तियों के बड़े समूह का अध्ययन किया जाता है। इस विधि को अंग्रेजी में हॉरीजंण्टल[5] या 'क्रॉस-सेक्शन

1 Thyroid gland. 2. *Maxfield, K. E., and Field, H. A.*, The Social Maturity of Visually Handicapped Pre-school Child, Child Development, 13 : 1-27, 1952.

3. Longitudinal Method. 4. Norm or Standard. 5. Horizontal Cross-section Method.

मेथड' कहते हैं। प्रतिमान को अत्यधिक प्रामाणिक बनाने के लिए इस विधि में किसी उम्र के बहुत से व्यक्तियों का अध्ययन किया जाता है, जिससे विविध व्यक्तियों की विभिन्नताओं का निष्कर्ष पर कम से कम प्रभाव पड़े।

आजकल पहली विधि के अनुसार अधिक कार्य किया जाता है। इस विधि में बहुत से बालकों के समूह का कुछ वर्ष तक नियमित मध्यान्तर पर परीक्षा की जाती है। इस प्रकार विकास-सम्बन्धी निष्कर्ष अधिक प्रामाणिक होता हैं। शटलवर्थ[1] ने इस विधि की श्रेष्ठता सिद्ध की है। उसने देखा कि १२ वर्ष तक २४८ व्यक्तियों के बार-बार परीक्षण करने से जो निष्कर्ष निकलता है उसकी प्रामाणिकता दूसरी विधि से २७०००० व्यक्तियों पर परीक्षण से प्राप्त निष्कर्ष के समान था। अतः पहली विधि अधिक प्रामाणिक निष्कर्ष देती है। इससे वैयक्तिक वैभिन्य को अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है और विकास की सामान्य गति का भी इससे अच्छा संकेत मिलता है।

पहली विधि अधिक प्रामाणिक

दूसरी विधि से किसी समूह, जाति, जनसंख्या तथा स्त्री अथवा पुरुष वर्ग के विकास के साधारण रुख का पता लगाया जा सकता है। पहली विधि से विभिन्न काल में अपने ही विकास से व्यक्ति के साधारण विकास का रुख समझना सम्भव होता है। इस प्रकार उसके समूह विशेष से भी उसकी तुलना की जा सकती है।[2] पहली विधि के अनुसार शारीरिक विकास के अध्ययन से यह पता चलता है कि विकास की गति एक चक्र के अनुसार चलती है। इस चक्र-गति में कभी विकास द्रुति चाल से चलता है और कभी उसकी चाल धीमी जान पड़ती है। पहली विधि के अनुसार अपने बारह वर्ष के 'हारवर्ड ग्रोथ स्टडी[3]' के फल-स्वरूप रॉथनी[4] का कथन है कि 'यह जोरदार शब्दों में कहा जा सकता है कि जन्म

पहली विधि द्वारा प्राप्त निष्कर्ष

1. *Shuttleworth, F. K*, Sexual Maturation and the physical growth of girls age six to nineteen, *Mcnogr. Soc. Res.* Child Development : 2. No. 5, 1937.

2. *Harold. E. Jones*, "Resources forthe Consultant" *Journal of Consulting Psychology*, 3 : 157--159, 1959.

3. *Dearborn, E. W. F. and Rothney J. W. M.*, Predicting the Child's Development, Sci—Art Publishers, Cambridge (Mass) 1941.

4. *Rothney, J. W. M.*, Recent Findings in the Study of the Physical Growth of Children, *Journal of Educational Research*, 35 : 161-182.

से प्रथम दो वर्ष तक विकास बड़ी ही द्रुति गति से चलता है, और तरुणावस्था आने के तीन वर्ष पहले तक विकास की गति चलती रहती है, पर प्रथम दो वर्ष के काल की तरह विकास-गति तीव्र नहीं होती, इसके बाद तरुणावस्था तक पहुँचने के लिए इसकी गति फिर बड़ी तीव्र हो जाती है। परन्तु १७वें और १९वें वर्ष के बीच में इसकी गति कुछ धीमी हो जाती है। लड़के और लड़कियों दोनों की विकास-गति प्रायः समानान्तर चलती है, परन्तु किशोरावस्था के पास दोनों की गतियों में भेद आ जाता है।

पहली विधि के अनुसार अपने अध्ययन के आधार पर कोर्टिस[1] ने विकास की अधोलिखित चार अवस्थाओं का उल्लेख किया है।

१—जन्म के पूर्व[2] गर्भाशय में।

२—प्रथम पाँच या छः वर्षों तक शैशव[3]। इस अवस्था में विभिन्न ज्ञानेन्द्रियाँ क्रियाशील हो जाती हैं और बच्चा रेंगना, चलना और बात करना सीख लेता है।

३—लगभग पाँच वर्ष से बारह वर्ष तक बचपन[4]। इस काल में स्थायी दाँत आ जाते हैं। बच्चा पढ़ना, लिखना और कुछ हद तक अपनी देख-रेख करना सीख लेता है। इस प्रकार के विकास के कारण व्यक्तित्व पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

४—साधारणतः १२ से १८ वर्ष तक कैशोर[5]। इस काल में ज्ञानेन्द्रियों का पूर्ण विकास हो जाता है। इस विकास से व्यक्ति में संवेगात्मक सामाजिक तथा अन्य व्यक्तित्व-सम्बन्धी गुणों में क्रान्तिकारी परिवर्तन आते हैं।

कोर्टिस के अनुसार इन विविध अवस्थाओं का ऊँचाई, तौल, हड्डियों, बुद्धि, ज्ञान-प्राप्ति, खेल में रुचि तथा सामाजिक क्रियाशीलतायें आदि के विकास से घनिष्ट सम्बन्ध है।

विकास चक्र[6]—

विकास का रूप सदा किसी एक नियम के अनुसार नहीं चलता; अर्थात् बालक की तौल वर्ष भर में किसी निश्चित रूप में नहीं बढ़ती। किसी वर्ष अधिक बढ़ती है और किसी वर्ष कम। वस्तुतः विकास का एक चक्र अथवा लहर[7] होती है। यदि विकास की गति किसी समय तीव्र हुई तो बाद में वह अवश्य कुछ धीमी पड़ जाती है, क्योंकि सुसंगठन के लिए अवयवों विशेष को कुछ समय की आवश्यकता होती है।

सदा एक सा नहीं

Courtis, S. A., "Maturation in Educational Diagnosis," in Educational Diagnosis, Thirty-Fourth Year Book, National Society for the Study of Education, pp. 177-178, 1935.

2. Parental. 3. In fancy. 4. Childhood. 5. Adolescence. 6. Growth Cycles,. 7. Wave.

मेरिडिथ[1] ने १२४३ बालकों के अध्ययन में विकास के चार चक्रों को पाया। उसके अनुसार प्रथम दो वर्ष तक विकास का एक ऐसा काल होता है जब विकास बड़ी ही द्रुत गति से चलता है। दूसरे से ११वें वर्ष तक विकास की गति धीमी रहती है। ग्यारहवें से १५ वें वर्ष तक विकास फिर पहले की तरह द्रुत गति से चलता है। फिर १५वें या १६ वें से १८वें वर्ष तक विकास की गति धीमी पड़ जाती है। जैसा ऊपर कहा गया है विकास चक्र में बड़ा वैयक्तिक वैभिन्न पाया जाता है।

प्रत्येक अंग के विकास का अपना-अपना नियम

शरीर के प्रत्येक अंग के विकास का अपना-अपना नियम होता है। प्रत्येक अंग के द्रुततम विकास का समय भिन्न-भिन्न होता है और प्रत्येक के विकास की चरम सीमा अलग-अलग समय पर पहुँचती है। मांस-पेशियाँ, हड्डियाँ, फेफड़े तथा जननेन्द्रियाँ अपने विकास-काल में अपने पूर्व अवस्था से बीस गुना बढ़ती हैं। आँखें, मस्तिष्क तथा कुछ अन्य अवयव इतना अधिक नहीं बढ़ते, क्योंकि जन्म के समय वे अपेक्षाकृत अधिक विकसित रहते हैं। उदाहरणार्थ; आँख की पुतली प्रथम पाँच वर्षों में अपने अन्तिम स्वरूप को प्रायः पहुँच जाती है। मस्तिष्क प्रथम दस और हृदय प्रथम बीस वर्षों में अपने अन्तिम स्वरूप पर आ जाता है। शरीर के ऊपरी अंगों का विकास अपेक्षाकृत शीघ्रता से होता है और वे अपनी परिपक्वावस्था पर जल्दी आते हैं। अतः मस्तिष्क और चेहरा आदि ऊपरी अंग धड़ तथा हाथ-पैर की अपेक्षा जल्दी बढ़ते हैं।

तौल और ऊँचाई की बाढ़ की गति एक दूसरे के विपरीत

अध्ययन के आधार पर यह देखा गया है कि जुलाई से जनवरी के अन्दर तौल बहुत बढ़ती है। फरवरी से अप्रैल तक तौल के इस बाढ़ का प्रायः एक चौथाई ही बढ़ पाता है। मई और जून के महीने में तौल की बाढ़ अन्य महीनों से बहुत कम होती है। ऊँचाई के सम्बन्ध में एक दूसरा ही नियम दिखाई पड़ता है। अप्रैल से अगस्त के अन्दर ऊँचाई सबसे अधिक बढ़ती है। अगस्त से नवम्बर के अन्दर ऊँचाई की बाढ़ कम होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि तौल और ऊँचाई की बाढ़ की गति एक दूसरे के विपरीत चलती है।

तौल की बाढ़[2]

जन्म के समय एक सामान्य शिशु की तौल ५ से ८ पौंड के अन्तर्गत होती है।

1. *Meredith, H. V.*, The Rhythm of **Physical** Growth. ***Univ. Ia. Stud. Child Welfare***, 11, No. 3 ; 1935.

2. The Growth of Weight.

प्रथम वर्ष में

साधारणतः जन्म के समय लड़कियाँ लड़कों से हलकी होती हैं। जन्म के बाद प्रथम सप्ताह में शिशु की तौल कुछ घट जाती है, क्योंकि नये प्रकार के भोजन तथा वातावरण के प्रति व्यवस्थित होने में उसे कुछ समय लगता है। प्रथम महीने के अन्त तक शिशु अपना खोया हुआ तौल पाकर उसमें कुछ बाढ़ भी दिखलाता है। चौथे महीने के लगभग जन्म से तौल दुगनी बढ़ जाती है ; अर्थात् इस समय शिशु की तौल १४ पौण्ड के लगभग होनी चाहिये। आठवें महीने पर शिशु की सामान्य तौल १६ से १६ पौण्ड के अन्तर्गत होती है। जिन शिशुओं को माँ का दूध पीने को नहीं मिलता उनकी तौल प्रथम आठ महीने में सामान्यतः कुछ कम होती है। प्रथम वर्ष के अन्त में उसकी तौल जन्म से लगभग तिगुनी, अर्थात् २१ पौण्ड, सामान्यतः होनी चाहिए इस प्रकार प्रथम वर्ष के अन्तिम चार महीनों में जो तौल में विशेष बाढ़ नहीं होती। उसका कारण यह है कि इस समय शिशु अपनी जागृतावस्था को अधिकांशतः रेंगने तथा चलने आदि सीखने में देता है, और इस शारीरिक परिश्रम से उसकी मांसपेशियों की मोटाई अनुपात की दृष्टि से पहले से कुछ कम हो जाती है।

दूसरे और तीसरे वर्षों में

दूसरे और तीसरे वर्ष के अन्तर्गत सामान्यतः प्रति वर्ष ३ से ५ पौण्ड के अन्तर्गत तौल में बाढ़ होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि दो वर्ष के एक शिशु को २५ और तीन वर्ष वाले को २६ या ३० पौंड का होना चाहिये। जन्म के समय जो शिशु साधारणतः तौल में अधिक होते हैं वे प्रथम तीन वर्ष के अन्तर्गत तौल में सामान्यतः कुछ अधिक होते हैं।

लड़कियों में बाढ

छः वर्ष की उम्र पर बच्चे की तौल जन्म से पचगुनी अर्थात् ३५ और ४० पौंड के अन्तर्गत होनी चाहिए। नवें या दसवें वर्ष के प्रारम्भ से लड़कियों की तौल में बाढ़ की गति द्रुत हो जाती है और बारहव वर्ष पर गति अपनी द्रुतता की चरम सीमा पर पहुँच जाती है और इस समय प्रति वर्ष लगभग १४ पौंड की बाढ़ उसमें होती है। वान डाइक[1] अपने अध्ययन के आधार पर इस बात की पुष्टि करते हैं।

लड़कों में बाढ़

लड़कों में तौल की सबसे अधिक बाढ़ लगभग १४ वर्ष में आती है और उनमें प्रायः १५ पौंड प्रति वर्ष के हिसाब से बाढ़ होती है। चौदह वर्ष के बालक की औसत तौल लगभग ६५·४ पौण्ड

---

1. *Van Dyke, G. E.*, The Effect of the Advent of Puberty on the Growth in Height and Weight of Girls, *School Review*, 38, pp. 211-221, 1930.

और १६ वर्ष के होने पर उसकी औसत तौल ११६·७ पौण्ड होती है। किशोरावस्था के अन्तिम वर्षों में जो बाढ़ होती है वह मांसपेशियों तथा अस्थिपञ्जर के विकास पर निर्भर करती है।

वैयक्तिक वैभिन्य

ग्यारहवें वर्ष से १४वें वर्ष तक के काल को छोड़कर अन्य समय लड़के लड़कियों से प्रायः तौल में अधिक होते हैं। इस काल में लड़कियों की तौल में अत्यधिक बाढ़ उनमें तरुणावस्था के आगमन के कारण होता है। हॉलिङ्गवर्थ[1] के अनुसार अधिक बुद्धिमान बालक अपनी ऊँचाई के हिसाब से अन्य बालकों से तौल में अधिक होते हैं।

ऊँचाई की बाढ़[2]

प्रथम छः वर्ष में

जन्म के समय शिशु की ऊँचाई लगभग १९ या २० इञ्च रहती है। वंशानुक्रम, स्त्री वा पुरुष-भेद तथा किसी जाति विशेष के कारण इस औसत ऊंचाई से जन्म के समय शिशु की ऊंचाई कुछ अधिक या कम हो सकती है। प्रथम दो वर्षों में ऊँचाई बहुत बढ़ती है। प्रथम चार महीने में शिशु लगभग २½ या ३½ इञ्च बढ़ जाता है और २२ या २३ इञ्च का हो जाता है। आठ महीने पर उसकी ऊँचाई २५ या २७ इञ्च के करीब होनी चाहिए। एक वर्ष पर उसकी औसत ऊँचाई २७ और २९ इञ्च के अन्तर्गत आती है। दूसरे वर्ष में उसकी ऊँचाई लगभग ४ इञ्च बढ़ जाती है। तीसरे से छठे वर्ष में ऊँचाई में बाढ़ की गति इतनी द्रुत नहीं रहती। इस काल में प्रति वर्ष लगभग ३ इञ्च लम्बाई बढ़ती है। इस प्रकार ६ वर्ष की अवस्था पर बच्चे की उम्र बचपन से लगभग दूना अर्थात् ४० इञ्च हो जाती है।

ऊँचाई की अन्तिम सीमा १८वें या २०वें वर्ष में

तरुणावस्था आने के पूर्व, अर्थात् १०वें और १२वें वर्ष के अन्तर्गत ऊंचाई की बाढ़ कम होती है, परन्तु यह बाढ़ नियमतः चलती रहती है। बारह वर्ष की अवस्था में बच्चा जन्म से २¾ गुना ऊँचाई में बढ़ जाता है, अर्थात् वह ५५ इञ्च के लगभग हो जाता है। दस से १४ वर्ष की उम्र में लड़कियों का और १२ से १४ वर्ष की उम्र में लड़कों का सभी दृष्टि से शारीरिक विकास बड़ी द्रुत गति से चलता है। इसके बाद १८ या २० वर्ष तक विकास बड़ी धीमी गति से चलता है। इसी समय ऊँचाई की अन्तिम सीमा पहुँच जाती है।

---

1. *Holliugworth, L. S.*, Gifted Chidren, Their Nature and Nurture, Macmillan, New York, 1926.

2. Growth of Height.

साइमन्स[1] का कहना है कि शैशव अथवा पूर्व कैशोर में भावी ऊँचाई का अनुमान करना अत्यन्त कठिन है। उसने देखा कि लड़के १५वें अथवा २०वें वर्ष में प्रौढ़ व्यक्ति की ऊँचाई पा सकते हैं, और लड़कियाँ १४वें या १८वें वर्ष में अपनी अन्तिम ऊँचाई पा सकती हैं। लड़के या लड़कियाँ कितने लम्बे होंगे यह प्रायः उनके वंशानुक्रम पर निर्भर करता है। तथापि एक पुरुष की औसत ऊँचाई ६६ इञ्च और स्त्री ६० इञ्च मानी जा सकती है।

वैयक्तिक वैभिन्य

जन्म से लगभग २१ वष तक लड़के लड़कियों से प्रायः लम्बे होते हैं। बारहवें वर्ष में लड़कियाँ लड़कों से कुछ अधिक ऊँची हो जाती हैं। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में प्रायः दोनों समान ऊँचाई के हो जाते हैं। इसके बाद लड़के लड़कियों से ऊँचाई में बढ़ जाते हैं और विकास-काल में सदा बढ़े ही रहते हैं। जो बालक कैशोर के पूर्व ही औसत ऊँचाई से लम्बे लगते हैं वे प्रौढ़ावस्था में भी औसत से ऊँचे होते हैं, और जो कैशोर के पूर्व छोटे कद के जान पड़ते हैं वे प्रौढ़ावस्था में भी छोटे कद के होते हैं। इस प्रकार कैशोर के पूर्व और उत्तर अवस्था की ऊँचाई में एक निश्चय सम्बन्ध दिखलाई पड़ता है। जो लड़कियाँ कैशोर में शीघ्र आ जाती हैं वे अपेक्षाकृत शीघ्रतर अपनी प्रौढ़ावस्था पर पहुँचती हैं। जो लड़की १३ वर्ष की उम्र के पहले ही रजस्वला हो जाती है वह १३ वर्ष के बाद रजस्वला होने वाली लड़कियों से लम्बाई में प्रायः १० वर्ष से १४ वें वर्ष तक ऊँची रहती है।

जाति, वंशानुक्रम तथा सामाजिक-आर्थिक स्थिति का प्रभाव

बच्चे की ऊँचाई पर जाति[2] अथवा वंशानुक्रम का काफी प्रभाव पड़ता है। महाराष्ट्री बालकों की औसत ऊँचाई प्रायः कम होती है और पञ्जाबी बालकों की औसत ऊँचाई अधिक होती है। ऐसा जाति-मिश्रण तथा वंशानुक्रमीय गुणों के कारण ही होता है। इसी प्रकार उत्तर योरुपीय प्रदेशों के माता-पिता के बच्चे दक्षिणी योरुप प्रदेशीय माता-पिता के बच्चे से कुछ अधिक लम्बे होते हैं। सामाजिक तथा आर्थिक अवस्था का भी प्रभाव पड़ता ही है। अतः गरीब घरों के बच्चों की औसत ऊँचाई अच्छे घरों के बच्चों से कुछ कम होती है। मजदूर-वर्ग के बच्चे प्रायः व्यावसायिक वर्ग के बच्चों से प्रायः दुर्बल और छोटे कद के होते हैं। विभिन्न सामाजिक—आर्थिक स्थिति से आये हुए

1. *Simmons, K.*, The Brush Foundation Study of Child Growth and Development, II. Physical Growth and Development. *Monogr. Soc. Res. Child Development*, 2, No. 5, 1944.

2. Race.
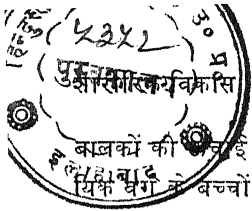
बालकों की ऊँचाई की तुलना में मेरिडिथ ने देखा कि मजदूर-वर्ग के बच्चे व्यावसायिक वर्ग के बच्चों से ऊँचाई में लगभग ३/४ इंच कम थे।

प्रारम्भिक दिनों के अत्यधिक पौष्टिक भोजन का भी ऊँचाई और तौल की बाढ़ पर प्रभाव पड़ता है। बाडल्स ने अपने अन्वेषण में देखा कि हारवर्ड के विद्यार्थियों की

उच्चतर रहन-सहन का प्रभाव

वर्तमान पीढ़ी अपने पिता की अपेक्षाकृत १ १/३ इंच अधिक लम्बी और १० पौण्ड अधिक तौल में है। चार पूर्वीय कालेजों के विद्यार्थी अपने पिता से १·१ इंच अधिक लम्बे और ३·९ पौण्ड अधिक तौल में थे। मेरिडिथ[1] के अनुसार संयुक्त राज्य अमेरिका के आजकल के बालक आज से ५० वर्ष पूर्व वाले बालकों से ६ से ८ प्रतिशत अधिक लम्बे होते हैं। कहना न होगा कि यह अन्तर पहले से रहन-सहन के उच्चतर हो जाने के कारण है।

ऊँचाई और बुद्धि में परस्पर-सम्बन्ध को समझाने के लिए हॉलिङ्गवर्थ[2] ने ९ से ११ वर्ष की उम्र वाले बालकों पर अन्वेषण किया। इन बालकों की बुद्धि लब्धि[3]

ऊँचाई और बुद्धि में सम्बन्ध

सम्बन्धी गुणक १३५ से १९० के अन्तर्गत थे। उसने इन बालकों की ९० से ११० बुद्धि लब्धि-गुणक वाले बालकों से तुलना की। उसने इन बालकों की तुलना एक तीसरे समूह से भी की जिसकी बुद्धि लब्धि-गुणक ६५ के नीचे था। इन तीनों समूहों के बालकों की औसत ऊँचाई क्रमशः ५२·९, ५१·२ तथा ४९·६ इंच आई। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि बुद्धि और ऊँचाई में एक सम्बन्ध होता है; अर्थात् अधिक बुद्धि वाले बालक मन्द बुद्धि की अपेक्षा लम्बे होते हैं। काज़[4] के अन्वेषण से भी हॉलिङ्गवर्थ के उपर्युक्त निष्कर्ष का समर्थन होता है। उसने देखा कि 'अति प्रतिभाशाली[5] लड़कियाँ' 'प्रतिभाशाली[6] लड़कियों' से, और प्रतिभाशाली लड़कियाँ साधारण[7] लड़कियों से तौल और ऊँचाई में अधिक होती हैं।

विभिन्न अवयवों के विकास में परस्पर[8]-सम्बन्ध

जन्म के समय शिशु के विभिन्न अवयवों में जो सम्बन्ध होता है वह सम्बन्ध

---

1. *Meredith, H. V.*, Stature and Weight of Children of the United States; *Amer. J. Dis. Child*, 62, pp. 909–932, 1941. 2. Ibid. 3. Intelligence Quotient or I. Q. Scores. 4. *Katz, E.*, "The Relationship of I. Q. to Height and Weight from Three to Five Years;, *Genet. Psychol.*, 57, pp. 65–82, 1940.

5. Very superior. 6. Superior. 7. Average. 8. Physical Proportions in the Development of Various Organs.

प्रौढ़ावस्था पर नहीं रह जाता उदाहरणार्थ; जन्म के समय सिर अन्य अवयवों की तुलना में अनुपाततः अधिक बड़ा लगता है। इस अनुपात का विभिन्न अवयवों के विकास पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। विकास के क्रम में विभिन्न अवयव-सम्बन्धी अनुपात शीघ्रातिशीघ्र पाने के लिए प्रकृति की ऐसी व्यवस्था है कि कोई अवयव शीघ्र बढ़ जाता है और किसी का विकास बड़े ही धीरे-धीरे होता है। अतः कोई अवयव पहले परिपक्वावस्था पर आ जाता है और कुछ बाद में आता है। परन्तु १७-१८ वर्ष के लगभग विभिन्न अवयव अपने समुचित अनुपात में प्रायः आ जाते हैं। फलतः तब व्यक्ति प्रौढ़[1] की तरह लगता है।

सभी अवयवों का विकास समान गति से नहीं

सिर—

ऊपर हम कह चुके हैं कि जन्म के समय सिर अन्य अवयवों की अपेक्षा अधिक बड़ा लगता है। अतः जन्म के बाद इसका विकास कम होता है, क्योंकि इसे कम ही बढ़ना रहता है। जन्म के समय सिर की तौल पूरे शरीर के तौल का २२ प्रतिशत होती है। यदि सिर के तौल का यह अनुपात बना रहे तो प्रौढ़ावस्था पर व्यक्ति का सिर औसतन ८ या ९ इंच लम्बा न होकर लगभग १६ इंच अर्थात् इतना बड़ा हो जायगा कि वह दैत्य सा मालूम होगा। प्रौढ़ावस्था तक पहुँचने के क्रम में सिर की लम्बाई जन्म से दुगनी हो जाती है, परन्तु इसका पूरा आकार जन्म से ३½ गुना हो जाता है। ब्यॉएड[2] का कहना है कि जन्म के समय शरीर के पूरे क्षेत्रफल का २१ प्रतिशत सिर का क्षेत्रफल होता है, पाँचवें वर्ष में यह प्रतिशत १३, १२वें वर्ष में १०, और १८वें वर्ष में केवल ८ रह जाता है।

जन्म के समय अनुपाततः बड़ा

जन्म के समय सिर की खोपड़ी काफी बड़ी होती है और चेहरे का क्षेत्रफल छोटा होता है। इस समय चेहरे और खोपड़ी में १ : ८ का अनुपात रहता है। पाँच वर्ष की अवस्था पर यह अनुपात १ : ५ का और प्रौढ़ावस्था पर १ : २·५ का होता है। जन्म से तरुणावस्था तक खोपड़ी का विकास बहुत धीरे-धीरे होता है और तरुणावस्था के बाद इसका विकास नहीं होता। अतः सिर के आकार में जो वृद्धि होती है उसमें चेहरे का विकास का विशेष स्थान होता है। क्योंकि जन्म के समय सिर की

सिर और चेहरा

---

1. Adult. 2. *Boyd, E.*, The Growth of the Surface Area of the Human Body, Univ. of Minnesota, Institute of Child Welfare Monogr, No. 10, Minnepolis, 1935.

परिधि तीन वर्ष वाली परिधि का २/३ होती है। छः वर्ष पर प्रौढ़ आकार का ९० प्रतिशत और १२ वर्ष पर ९५ प्रतिशत सिर हो जाता है। विकास की प्रत्येक अवस्था में लड़के के सिर का आकार लड़की के सिर से बड़ा होता है।

चेहरा

खोपड़ी का आकार जन्म के समय ही बहुत बड़ा होता है। अतः प्रारम्भ में सिर अन्य अवयवों की तुलना में भद्दा जान पड़ता है। सिर का ऊपरी हिस्सा चेहरे की तुलना में बड़ा दिखलाई देता है। चेहरे के नीचे का हिस्सा शैशव तथा बचपन में दाँतों के न होने अथवा छोटे होने के कारण छोटा होता है। प्रथम सात वर्ष के अन्दर चेहरे की हड्डियाँ बहुत बढ़ जाती हैं। जब तक स्थाई दाँत नहीं आ जाते तब तक मुँह, दाढ़ी और नीचे का सारा भाग ऊपर के भाग की तुलना में छोटा होता है। परन्तु इस समय तक मस्तिष्क का विकास बड़ी ही द्रुत गति से चलता रहता है। तरुणावस्था के आते-आते माथा चिपटा हो जाता है, होंठ भर जाते हैं और चेहरा गोलाकार के स्थान पर अण्डाकार[1] दिखलाई पड़ता है।

तरुणावस्था पर इसका पूरा विकास

चेहरे के अन्य अंगों की अपेक्षा नाक का विकास बड़े बेडौल रूप में चलता है। कुछ प्रथम वर्षों तक नाक बहुत छोटी दिखलाई पड़ती है और चेहरे में चपटी जान पड़ती है। परन्तु नाक की कोमलास्थि[2] के बढ़ने के साथ नाक बड़ी होने लगती है और इसका स्वरूप भी सुडौल होने लगता है। तेरह या चौदह वर्ष की अवस्था में नाक का पूर्ण रूपेण विकास हो जाता है और लड़कों की नाक के बाल पहले से बहुत मोटे और मजबूत हो जाते हैं। नाक के इस प्रकार जल्दी प्रौढ़ हो जाने से किशोर थोड़ा चिन्ता करने लगता है और सोचता है कि उसका चेहरा सदा के लिए भद्दा हो गया।

नाक

धड़[3]

यदि बालक की धड़ बेडौल रूप में बढ़ जाती है तो उसका संतुलन बिगड़ जाता है और बैठने, खड़े तथा चलने में उसे कठिनाई होती है। अतः इसे ठीक करने की शीघ्र चेष्टा करनी चाहिए। धड़ और पैर के लम्बा हो जाने से यह अपने आप ठीक हो जाता है और शरीर सुडौल होने लगता है। बेले और डेविस[4] के अनुसार प्रथम वर्षों में शरीर के साधारण आकार में बड़ा परिवर्तन आता है। प्रथम वर्ष में शिशु बड़ा मोटा हो जाता है। इसीलिए तो इस समय तौल में जितनी वृद्धि होती है उतनी

1. Oval. 2. Cartilage. 3. Trunk.

4. *Bayley, N., and Davis, F. C.*, "Growth Changes in Bodily Size and Proportions during the First Three Years, Biometrika 27, pp. 26-87, 1935.

३

ऊँचाई में नहीं होती। छः वर्ष की अवस्था पर धड़ लम्बाई और चौड़ाई में जन्म से दुगनी हो जाती है। इसके बाद शरीर दुबला होता जाता है और तरुणावस्था के आने पर उसकी चौड़ाई फिर बढ़ने लगती है। छठे वर्ष से किशोर तक शरीर लगभग ५० प्रतिशत लम्बाई में बढ़ जाता है। प्रौढ़ावस्था पर धड़ जन्म से लगभग २½ गुने से कुछ ही कम होता है। किशोर के आते-आते छाती गहरी और लम्बी हो जाती है। किशोर में कूल्हे भी खूब बढ़ते हैं।

भुजायें और पैर[1]

पैर की वृद्धि से शरीर पहले से अधिक सुडौल होने लगता है। जन्म के समय अनुपातत: शिशु के पैर बहुत ही छोटे होते हैं और भुजायें बहुतब ड़ी जान पड़ती हैं, हाथ और पाँव बहुत छोटे होते हैं। अतः सुडौलपन लाने के लिए विकास की विभिन्न गतियों का आना आवश्यक है।

जन्म के समय बहुत छोटे

जन्म से दूसरे वर्ष के अन्दर भुजायें और हाथ ६० से ७५ प्रतिशत के लगभग बढ़ जाती हैं। आठ वर्ष की अवस्था में भुजायें दो वर्ष की अवस्था से ५० प्रतिशत बढ़ जाती हैं इस समय वे बड़ी ही पतली जान पड़ती हैं और मालूम होता है कि उनमें मांस-पेशियों का अधिक विकास नहीं हुआ है। आठ से १६ या १८ वर्ष तक भुजाओं का विकास बड़ी ही धीमी गति से चलता है।

भुजायें

जन्म से दूसरे वर्ष तक पैर ४० प्रतिशत बढ़ जाते हैं। आठवें वर्ष में दूसरे वर्ष की अपेक्षा वे ५० प्रतिशत बढ़ जाते हैं। इस प्रकार भुजाओं की तुलना में पहले पैर का विकास धीमी गति से चलता है। किशोर में जन्म के समय से पैर चौगुने और प्रौढ़ावस्था पर पँचगुने हो जाते हैं। भुजाओं की तरह पैर भी किशोर तक पतले रहते हैं। जब लम्बाई का बढ़ना कुछ बन्द हो जाता है तब मांसपेशियों का विकास पहले से अधिक होने लगता है।

पैर

नवजात शिशु के हाथ और पाँव बड़े ही छोटे होते हैं। जब तक वे आकार में और बढ़ नहीं जाते और उनमें कुछ अधिक शक्ति नहीं आ जाती तब तक उनसे कोई काम लेना असम्भव होता है। अतः प्रथम दो वर्षों में उन का विकास बड़ी द्रुत गति से चलता है। इसके बाद तरुणा-वस्था तक विकास की गति धीमी रहती है। परन्तु चौदह

हाथ और पाँव

1. Arms and Legs.

वर्ष की अवस्था पर उनकी लम्बाई प्रायः अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। जो लड़के और लड़कियाँ विकास के नियमों से अवगत नहीं रहते उन्हें इससे बड़ा मानसिक क्लेश होता है, क्योंकि उनके अनुसार हाथ और पाँव का बहुत बढ़ जाना सौन्दर्य के विरुद्ध है। कुछ लड़कियाँ अपने पाँव को छोटा करने के हेतु अथवा उसकी लम्बाई को छिपाने के लिए चुस्त जूते पहनती हैं। कुछ अन्य किशोर अपने हाथ को पीछे रखकर अथवा जेब में छिपाकर उनकी लम्बाई के कारण कल्पित भद्देपन को छिपाने का प्रयास करते हैं।

हड्डियाँ

हड्डियों में विकास का तात्पर्य उनके आकार की वृद्धि, संख्या का बढ़ना तथा उनकी रचना में परिवर्तन का आना है। एक्सरे द्वारा परीक्षा के आधार पर अन्वेषण करके बेले[1] ने यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रथम वर्ष में हड्डियों का विकास बड़ी द्रुत गति से चलता है, इसके पश्चात् ज्यों-ज्यों उम्र बढ़ती जाती है उनके विकास की गति में धीरे-धीरे कमी आने लगती है।

उम्र के साथ विकास-गति में कमी

भुजाओं और पैर की लम्बी हड्डियाँ तरुणावस्था में विशेष रूप से बढ़ती है; परन्तु इसके बाद भी इनका विकास कई वर्षों तक चलता रहता है। तरुणावस्था पर कूल्हे की हड्डियाँ लड़के और लड़कियों दोनों में बहुत बढ़ जाती हैं। इससे कमर के पास की परिधि काफ़ी बढ़ जाती है। चेहरे की हड्डियों के बढ़ने से किशोर में व्यक्ति के चेहरे के स्वरूप में भी बड़ा परिवर्तन दिखलाई पड़ता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि किशोर में हड्डियों का विकास पर्याप्त होता है।

कैशोर में अधिक विकास

हड्डियों की दशा और संख्यायें

जन्म के समय शरीर में कुल २७० हड्डियाँ होती हैं। चौदह वर्ष की अवस्था तक इनकी संख्या ३५० तक पहुँच जाती है। आश्चर्य है कि तरुणावस्था के बाद हड्डियों की संख्या में वृद्धि न होकर कमी आ जाती है और प्रौढ़ावस्था के बाद मध्य जीवन में जन्म से भी उनकी संख्या में कमी आ जाती है और अब शरीर में केवल २०६ हड्डियाँ ही पाई जाती हैं। एक्सरे द्वारा किसी बच्चे के हाथ की हड्डियों की परीक्षा से इस कमी का कुछ अनुमान मिलता है। दो वर्ष की

पहले बढ़ना पर बाद में संख्या का घटना

---

1. *Bayley, N.* "Studies in the Development of Young Children." Univ. California Press, Berkeley, 1940.

अवस्था में कलाई में दो या तीन हड्डियाँ दिखलाई पड़ती हैं। छः वर्ष पर ६ या ७ हड्डियाँ जान पड़ती हैं और १२ से १५ वर्ष के अन्दर ८ हड्डियाँ मालूम होती हैं। बात यह है कि उम्र के बढ़ने पर अपने विकास के क्रम में कई हड्डियाँ आपस में मिलकर एक हो जाती हैं। फलतः कुछ दिन के बाद उनकी संख्या में कमी हो जाती है।

जन्म के समय हड्डियाँ बड़ी ही कोमल और लचीली होती हैं। शरीर के कुछ स्थान में कुछ ऐसी झिल्लियाँ होती हैं जो बाद में हड्डियों के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। अस्थिपञ्जर के कुछ भागों में कुछ ऐसी हड्डियाँ होती हैं जो बाद में मिल कर एक हो जाती हैं। अठारह महीने की अवस्था तक लगभग ५० प्रतिशत शिशुओं के कपाल की एक दूसरे से अलग हड्डियाँ आपस में जुट जाती हैं और दो वर्ष की अवस्था तक तो प्रायः सभी की जुट जाती हैं। लड़कियों की ये हड्डियाँ बालकों से शीघ्रतर जुटती हैं। जन्म के समय रीढ़ बड़ी ही कोमल होती है और उसे बड़ी सरलता से अव्यवस्थित किया जा सकता है, क्योंकि वह कोमलस्थियों से निर्मित होती है। प्रथम तीन वर्ष के अन्दर रीढ़ की हड्डियों का प्रायः $\frac{1}{2}$ या $\frac{1}{3}$ भाग विकसित हो जाता है।

बच्चे की हड्डियों में दोष आना कठिन नहीं

बच्चों की हड्डियाँ बड़ी ही कोमल होती हैं। अतः बिना किसी विशेष कठिनाई के उन्हें किसी भी आसन में व्यवस्थित किया जा सकता है; उदाहरणार्थ : उनके मस्तक को घुटने से छुआया जा सकता है, अथवा पाँव को हलासन के क्रम में मस्तक से छुवाना कठिन न होगा। परन्तु लचीली होने के कारण समुचित सावधानी के अभाव में हड्डियों में दोष भी आ सकते हैं। यदि शिशु को बहुत देर तक पीठ के बल पर नित्य सुलाया जाय तो सिर का आकार चिपटा हो सकता है, या यदि वह बहुत देर तक नित्य पेट के बल सुलाया जाता है तो छाती चिपटी हो सकती है। बचपन में छोटे जूतों [illegible] पाँव छोटा हो सकता है अथवा उसका आकार बिगड़ सकता है। स्कूल [illegible] झुक कर बैठते रहने से छोटे बालक के रीढ़ की हड्डी टेढ़ी हो सकती है।

हड्डी के बनने अथवा दृढ़ होने की क्रिया[1]

ऊपर यह कहा जा चुका है कि बाद में चलकर [illegible] हड्डियों के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। यह क्रिया जन्म के [illegible] आरम्भ

1. Ossification.

होती है और तरुणावस्था के कुछ ही पूर्व बन्द हो जाती है। कैलशियम,[1] फॉसफोरस[2] तथा अन्य खनिज पदार्थों[3] की सहायता से हड्डियाँ बनती अथवा दृढ़ होती हैं। हड्डी बनने की क्रिया में हड्डी में ६० प्रतिशत अधिक विभिन्न खनिज पदार्थ आ जाते हैं। शरीर के विभिन्न अंगों में हड्डियों के बनने अथवा दृढ़ होने की क्रिया विभिन्न गति से चलती है। लड़कियों में यह क्रिया लड़कों से दो वर्ष पहले ही समाप्त हो जाती है।

तरुणावस्था के पूर्व

दाँत

बच्चों के दो प्रकार के दाँत होते हैं अस्थाई अथवा दूध के और स्थाई। इन दोनों प्रकारों के दाँतों में कई विभेद पाये जाते हैं। अस्थाई दाँत संख्या में २० और स्थाई ३२ होते हैं। अस्थाई दाँत स्थाई से छोटे होते हैं। स्थाई दाँत में उत्तमतर तत्वों का समावेश रहता है। अतः वे अधिक दिन तक चलते हैं।

स्थाई और अस्थाई

दाँत का विकास एक क्रमिक रूप से चलता है। यह क्रम गर्भाशय में पाँचवें महीने से ही प्रारम्भ हो जाता है। अस्थाई दाँतों के आगमन के समय शिशु को बड़ी यातना सहनी पड़ती है, उसे कई दस्त आते हैं, उसकी भूख मारी जाती है और वह बहुत ही चिढ़चिढ़ा हो जाता है। अस्थाई दाँतों के गिर जाने पर स्थाई दाँत मसूड़ों से ऊपर आ जाते हैं और उनके आने के क्रम में बच्चे को कोई कष्ट नहीं होता। स्थाई दाँतों के आगमन का मनोवैज्ञानिक प्रभाव यह होता है कि प्रत्येक स्थाई दाँत यह दिखलाता है कि बालक प्रौढ़ावस्था की ओर अग्रसर हो रहा है और अपने विकास-क्रम के अनुसार वह प्रौढ़ व्यक्तियों के अधिकारों को भी पहले से अधिक समझने लगता है।

अस्थाई दाँत के आने में कष्ट और स्थाई के आने का मनोवैज्ञानिक प्रभाव

अस्थाई दाँत

तीसरे महीने से लेकर १६वें महीने के अन्दर पहला अस्थाई दाँत अवश्य आ जाता है; परन्तु सामान्यतः ६ठे या ८वें महीने में पहला दाँत आ जाता है। नीचे के दाँत ऊपर वालों से पहले आते हैं। दाँतों के आने का समय साधारण स्वास्थ्य, जन्म के पूर्व और बाद पौष्टिक भोजन, सामाजिक स्थिति, जाति तथा अन्य कुछ बातों पर निर्भर कर सकता है। प्रायः यह देखा जाता है कि लड़-

६ठे या ८वें महीने में आना कई बातों पर निर्भर

1. Calcium. 2. Phosphorus. 3. Mineral Salts.

कियों में लड़कों से पहले दाँत आते हैं और स्थाई दाँतों को स्थान देने के लिए वे पहले गिर भी जाते हैं।

स्थाई दाँत

अस्थाई दाँतों के आ जाने पर स्थाई दाँत ऊपर आने के क्रम में मसूड़ों के नीचे-नीचे अपनी तैयारी करने लगते हैं। साधारणतः ६ वर्ष की अवस्था में बच्चे को एक या दो स्थाई दाँत आ जाते हैं। आठ वर्ष की उम्र में १० या ११; दस वर्ष पर १४ या १६; बारह वर्ष पर २४ या २६; और तेरह वर्ष पर २७ या २८ दाँत प्रायः आ जाते हैं। प्रत्येक अवस्था में लड़कियों के स्थाई दाँत लड़कों की अपेक्षा शीघ्रतर आते हैं। अन्तिम चार स्थाई दाँत १७ वें और २५ वें वर्ष के अन्तर्गत आते हैं। बहुत सम्भव है कि किसी-किसी को वे न भी आयें।

स्थाई दाँत और मानसिक उम्र

मन्द बुद्धि के बालकों के एक स्कूल से कोहेन और एण्डरसन[1] ने २१८ बालकों का यह जानने के लिए अध्ययन किया कि स्थाई दातों के आगमन और मानसिक[2] उम्र में क्या सम्बन्ध होता है। उन्होंने देखा कि विकास की प्रत्येक अवस्था में मन्द बुद्धि बालक के स्थाई दाँत कम आते हैं और सामान्य बालक के स्थाई दाँत अपेक्षाकृत पहले आते हैं। पूर्वकाल में दाँतों के आगमन के सम्बन्ध में उम्र का भेद उतना स्पष्ट नहीं था जितना कि उत्तर-काल में दाँतों के सम्बन्ध में स्पष्ट था। मन्द बुद्धि बालकों में 'बगल के दाँत'[3] कभी-कभी नहीं होते थे; परन्तु सामान्य बालकों के सम्बन्ध में यह बात नहीं पाई जाती थी।

मांसपेशियाँ

विकास की सभी अवस्था में तौल में वृद्धि चरबी तथा मांसपेशियों के बढ़ने से होती है। बचपन के प्रारम्भ में चरबी की वृद्धि मांसपेशियों की अपेक्षा अधिक होती है।

तरुणावस्था के बाद विकास द्रुततर

परन्तु १२ से १५ वर्ष के अन्दर लड़कियों में और १५ से १६ वर्ष के अन्दर लड़कों में मांसपेशियों की वृद्धि विशेष रूप से होती है। शरीर की तौल के अनुपात में मांसपेशियों की तौल प्रौढ़ावस्था के समय द्रुतगति से बढ़ती है, क्योंकि जन्म

---

1. *Cohen, J. T.*, and *Anderson, J. E.* "Note on the eruption of the permanent teeth in a group of subnormal children, including an observation on the frequency of congenitally missing laterals, *J. Genet. Psychology* 39, pp. 279- 284, 1931

2. Mental Age. 3. Permanent laterals.

के समय मांसपेशियों की तौल शरीर के तौल की २३·४ प्रतिशत, आठ वर्ष पर २७·२, पन्द्रह वर्ष पर ३२·६ और सोलह वर्ष पर ४४·२ प्रतिशत हो जाती है। इस प्रकार बचपन में मांसपेशियों का विकास धीमी गति से चलता है और तरुणावस्था के बाद गति द्रुततर हो जाती है।

मांसपेशियों की तौल में वृद्धि होना तरुणावस्था के आने का एक लक्षण कहा जा सकता है। मांसपेशीय विकास के कारण भुजा तथा पैर के विभिन्न अंगों की परिधियों में बड़ा परिवर्तन आ जाता है। पीठ और कन्धे पर चरबी तथा मांसपेशियों के विकास से धड़ पहले से कुछ गोल हो जाती है। पहले से अब मांसपेशियाँ मोटी और लम्बी होने लगती हैं। प्रौढ़ावस्था पर वे जन्म से लगभग पँचगुनी मोटी होती हैं। बचपन में मांसपेशियों की रचना में ७२ प्रतिशत पानी तथा २८ प्रतिशत स्थूल पदार्थ होता है, और प्रौढ़ावस्था में पानी का प्रतिशत ६४ और स्थूल पदार्थ का ३४ हो जाता है। फलतः मांसपेशियाँ पहले से दृढ़तर हो जाती हैं। परीक्षाओं से यह पता चला है कि इस समय मांसपेशियों की शक्ति बहुत बढ़ जाती है।

पहले से लम्बी, मोटी और दृढ़तर

आन्तरिक अवयवों में परिवर्तन[1]

यह ध्यान देने की बात है कि बच्चे के आकार और तौल में जो वृद्धि होती है वह चरबी तथा मांसपेशियों के केवल बढ़ने से ही नहीं होती। बचपन में रक्त–संचार,[2] पाचन–क्रिया[3] तथा श्वास–सम्बन्धी[4] विभिन्न आन्तरिक अवयव भी बहुत बढ़ते हैं। इनके बढ़ने से तौल और आकार में पर्याप्त वृद्धि होती है। नीचे हम संक्षेप में यह देखेंगे कि इन आन्तरिक अवयवों में कब विशेष परिवर्तन आते हैं—

श्वास-सम्बन्धी अवयव

जन्म के समय फेफड़े बड़े छोटे होते हैं। इसीलिए तो जन्म के समय छाती की परिधि सिर की परिधि से छोटी होती है। दो वर्ष की अवस्था में सिर और छाती की परिधि प्रायः समान रहती है। पन्द्रह वर्ष पर सिर और छाती की परिधि में २ : ३ का अनुपात रहता है और प्रौढ़ावस्था पर यह अनुपात ३ : ५ हो जाता है। बारहवें या १३वें वर्ष के लगभग छाती का अन्तिम स्वरूप निश्चित हो जाता है। इसके बाद केवल आकार में ही परिवर्तन होता है।

छाती का विकास

---

1. Changes Occuring in Internal Organs. 2. Circulation.
3. Digestion. 4. Respiration.

किशोरावस्था तक फेफड़े तौल और आयत में बढ़ते रहते हैं फेफड़े के बढ़ने से श्वांस लेने की शक्ति बढ़ जाती है। सत्तरह वर्ष की अवस्था में लड़कियों के फेफड़े पूर्णरूपेण विकसित हो जाते हैं। लड़की में इसका पूर्ण विकास इसके बहुत दिन बाद होता है।

फेफड़े

रक्त-संचार-सम्बन्धी अवयव

जन्म के समय हृदय छाती में ऊपर की ओर होता है और उसकी स्थिति विशेषतः लम्बात्मक[1] दिशा में रहती है। इस समय शरीर की पूरी तौल के अनुपात में जीवन के अन्य समय की अपेक्षा हृदय अधिक भारी और बड़ा होता है। तरुणावस्था के थोड़े पहले ही शरीर की तुलना में इसकी तौल का अनुपात इतना कम हो जाता है कि ऐसा कम अनुपात जीवन में और कभी नहीं रहता। परन्तु किशोरावस्था में हृदय की तौल पहले से बढ़ जाती है। इस समय हृदय की मांसपेशियाँ आकार और संख्या दोनों में बढ़ती हैं।

हृदय

बचपन में धमनियाँ बड़ी होती हैं और हृदय अपेक्षाकृत छोटा होता है। किशोर में रक्तवाहिनी नलिकायें[2] लम्बाई, मोटाई और क्षेत्रफल तीनों में बढ़ती हैं। फलतः बचपन में रक्त-चाप[3] कम रहता है और तरुणावस्था के प्रारम्भ से धीरे-धीरे बढ़ता है। बचपन में नाड़ी की गति १२० से १४० बार होती है। इसकी तुलना में एक प्रौढ़ व्यक्ति की ७२ के लगभग होती है। किशोर में हृदय और धमनियों की चौड़ाई में ५ : १ का अनुपात रहता है। इसका फल यह होता है कि हृदय को एक बहुत पतली नली में खून को पम्प करना होता है। इससे हृदय पर कुछ बल पड़ता है और रक्त-चाप पहले से बढ़ जाता है। पूर्व किशोर में हृदय तथा रक्तवाहिनी नलिकाओं में बड़ा परिवर्तन होता है। अतः इस काल में अत्यधिक शारीरिक परिश्रम से सिर-दर्द, हृदय अथवा उसके धड़कन का बढ़ना तथा सिर में चक्कर आदि व्यक्ति में आ सकते हैं। अतः किशोर में लड़कों और लड़कियों से परिमित रूप में ही शारीरिक परिश्रम करवाना चाहिए।

किशोरावस्था में विकास

पाचन-सम्बन्धी अवयव[4]

प्रारम्भ में शिशु का पेट नली के आकार का होता है और उसकी स्थिति तिरछे रूप में होती है। अतः उसकी समाई बहुत ही कम होती है। जन्म के समय पेट में

1. Horizontal position. 2. Blood Vessels. 3. Blood Pressure
4. Digestive Organs.

लगभग एक औंस, दो सप्ताह पर २½ औंस तथा एक महीने पर तीन औंस समा सकता है। तिरछी स्थिति में होने के के कारण कुछ वस्तु ले लेने के बाद बच्चे का पेट उसे शीघ्र ही खाली भी कर देता है। जब बच्चा दाहिनी करवट लेटे रहता है अथवा अर्ध-सीधे स्थिति में ऊपर उठाया जाता है तो उसका पेट सरलता से खाली हो जाता है। बचपन में पेट शीघ्रतर खाली हो जाता है। किशोर तथा प्रौढ़ व्यक्ति का पेट देर में खाली होता है।

बच्चे का पेट

छोटे बच्चे की अतड़ियाँ बहुत छोटी होती हैं। पाचन-रस बहुत कम मात्रा में निकलते हैं। बच्चे के पाचन-सम्बन्धी सभी अवयव बड़े ही कोमल होते हैं। तरुणा-वस्था के लगभग वे काफ़ी प्रौढ़ हो जाते हैं। मैके और फाउलर[1] ने कुछ नर्सरी स्कूल के बच्चों के अध्ययन में देखा कि लड़के लड़कियों से अधिक खाते हैं। फलतः उनके प्रवीणता-सम्बन्धी गुणाङ्क[2] लड़कियों से अच्छे आते हैं।

स्नायुमण्डल का विकास[3]

जन्म के पूर्व भी स्नायुमण्डल का विकास बड़ी द्रुत-गति से चलता है और प्रथम तीन या चार वर्ष तक भी यह द्रुत गति चलती रहती है। गर्भाशय में प्रधानतः स्नायु-कोषों[4] की संख्या तथा आकार सम्बन्धी विकास होता है। जन्म के बाद पहले उन स्नायु-कोषों का विकास होता है जो अप्रौढ़ दशा में पड़े रहते हैं। इस क्रम में नये स्नायु-कोषों का बनना कुछ दिनों के लिए रुका रहता है। तीन-चार वर्ष की उम्र के बाद स्नायुमण्डल के विकास की गति पहले से कुछ कम हो जाती है।

तीन-चार वर्ष तक

मस्तिष्क के विकास का अध्ययन प्रत्यक्षतः नहीं किया जा सकता। इसके विकास का अनुमान मृत व्यक्तियों के मस्तिष्क से अथवा जीवित बच्चों के सिर के बाह्य आकार के माप से कुछ किया जा सकता है। इस प्रकार के माप से यह अनुमान किया जाता है कि जन्म से प्रथम चार वर्ष तक मस्तिष्क का विकास बड़ी द्रुत-गति से चलता है। चौथे से ८ वें वर्ष तक विकास की गति कुछ धीमी पड़ जाती है। इसके बाद गति बड़ी ही धीमी पड़ जाती है और लगभग १६वें वर्ष में इसका

1. *Mckay, J. B.* and *Fowler, M. B.*, Some Sex Differences Observed in a Group of Nursery School Children, *Child Development* 12, pp: 75-79, 1941

2. Efficiency Score. 3. The Development of Nervous System.
4. Nerve cells.

विकास एक प्रकार से रुक जाता है। कहा जाता है कि इस अवस्था तक वह अपनी पूर्ण प्रौढ़ता को पा जाता है। कुछ प्रथम महीनों तक खोपड़ी की विभिन्न हड्डियाँ, झिल्लियों द्वारा एक-दूसरे से सम्बन्धित रहती हैं। अतः उनके बढ़ने के लिए काफ़ी स्थान रहता है। जन्म के समय मस्तिष्क की तौल ३५० ग्राम के लगभग रहती है। प्रौढ़ावस्था पर यह तौल १२६० से १४०० ग्राम के बीच आ जाती है। इस प्रकार प्रौढ़ावस्था के तौल की लगभग एक-चौथाई जन्म के समय, नौ महीने में आधा, दूसरे वर्ष तक तीन-चौथाई, चौथे वर्ष तक चार-पँचाई और छठे वर्ष तक नव-दसाईं तौल मस्तिष्क की होती हैं। जन्म के समय मस्तिष्क की तौल पूरे शरीर की तौल का १/८, दसवें वर्ष में १/१८, तथा, पन्द्रहवें में और प्रौढ़ावस्था में १/४० रहता है। इससे यह स्पष्ट है कि बचपन के प्रथम वर्षों में मस्तिष्क का विकास बड़ी ही द्रुत-गति से चलता है। किशोर में मस्तिष्क का विकास बहुत ही कम होता है, क्योंकि इस समय तक उसकी तौल की प्रौढ़ता आ जाती है; परन्तु वाह्य-रचना-सम्बन्धी[1] इसका विकास कुछ न कुछ चलता रहता है। आठवें वर्ष तक मस्तिष्क का विकास पूर्ण हो जाता है, परन्तु इससे सम्बन्धित भूरे[2] तत्व का विकास अभी पूर्णरूपेण नहीं हुआ रहता। इस प्रकार स्पष्ट है कि मस्तिष्क का अधिकांशतः विकास आन्तरिक होता है और तौल अथवा आकार की माप से उसका ठीक-ठीक अनुमान नहीं किया जा सकता।

1. Corfical Tissue. 2. Gray Matter.

४

गति विकास[1]

गति विकास के अध्ययन का महत्त्व

बच्चा सर्व प्रथम अपने शरीर पर नियन्त्रण प्राप्त करना सीखता है। शरीर पर नियन्त्रण प्राप्त करने का तात्पर्य विभिन्न मांसपेशियों पर नियन्त्रण प्राप्त करना है। जीवन की साधारण क्रियाओं को चलाते रहने के लिए यह आवश्यक है कि बच्चा सर्व प्रथम अपने विविध मांसपेशियों पर कुछ नियन्त्रण प्राप्त करले। भोजन और जल की आवश्यकता की पूर्ति, मल-मूत्र को निकालने की क्रिया तथा हानिकर परिस्थितियों से बचने के लिए किसी कौशल-विशेष की आवश्यकता नहीं होती। मांसपेशियों पर साधारण नियन्त्रण पा जाने से यह सब अपने आप व्यक्ति के नियन्त्रण में आ जाता है। इन सबसे सम्बन्धित गतियों का सम्बन्ध प्राण-रक्षा से होता है। परन्तु सिर और आँख की गति, विविध वस्तुओं के साथ खेलना, बैठना, खड़ा होना, रेंगना, चलना, दौड़ना और कूदना आदि क्रियाओं का बालक के सामाजिक और बौद्धिक विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध है। किसी भाषा-ध्वनि का उत्पन्न करना एक प्रकार का गति-सम्बन्धी व्यवहार[2] है। लिखना भी एक प्रकार का गति-सम्बन्धी व्यवहार है। इसी प्रकार सभी प्रकार के सामाजिक व्यवहार की पृष्ठि-भूमि में किसी न किसी प्रकार की गति रहती है।

गति पर नियन्त्रण सन्तोषजनक जीवन के लिए आवश्यक

गति-सम्बन्धी कौशल पर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए केवल बच्चा ही निर्भर नहीं रहता, वरन् प्रौढ़ लोगों को भी उस पर निर्भर रहना पड़ता है। यदि व्यक्ति औद्योगिक, व्यावसायिक, व्यापारिक, सामाजिक अथवा मनोरंजन आदि सम्बन्धी क्षेत्रों में अपने विचारों का दूसरों पर प्रभाव डालना चाहता है तो उसे पहले गति-सम्बन्धी क्रियाओं का सहारा लेना पड़ेगा। उदाहरणार्थ; उसे अपने विचारों को स्वयं कार्यान्वित करके दिखाना होगा, व्यवसाय तथा उद्योग आदि में उसे फैक्टरी का सहारा लेना होगा, यातायात के साधन होने ही चाहिए तथा पुस्तकों का प्रकाशन होना चाहिए। पढ़ने के क्रम में

1. Motor Development. 2. Motor Behaviour.

नेत्रों और अक्षरों में जो नया सम्बन्ध स्थापित होता है, यात्रा में शरीर पर प्राप्त नियन्त्रण तथा परीक्षणशाला में प्राप्त कौशल आदि का व्यक्ति के बौद्धिक विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अपने निष्कर्ष का व्यक्ति भाषण द्वारा अथवा लेखनी द्वारा दूसरों पर अधिक प्रभाव डाल सकता है। घात रोग से कदाचित इसीलिए बहुत लोग डरते हैं कि उसके आने पर गति-विहीनता आ जायगी और दूसरों पर अपने व्यवहारों द्वारा तब कम प्रभाव डाला जा सकता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि शैशव से वृद्धावस्था तक गति पर नियन्त्रण प्राप्त करना सन्तोषजनक जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है। कहना न होगा कि सन्तोषजनक शिक्षा-क्रम के लिए गति-विकास को समझना और उस पर नियन्त्रण प्राप्त करना आवश्यक है।

गति के विकास की कुछ साधारण विशिष्टतायें[1]

गति का विकास ऊटपटाँग ढंग पर नहीं चलता, वरन् इसका विकास एक सुसंगठित रूप में चलता है। इसमें एक सुनिश्चित क्रम होता है। सर्व प्रथम बच्चा सिर पर नियन्त्रण प्राप्त करता है। इसके बाद क्रम से भुजायें, हाथ, धड़ के ऊपरी भाग तथा पेट और पाँव का नम्बर आता है। विकास का यही क्रम प्रायः गर्भाशय में भी चलता है। तभी तो जन्म के समय सिर सभी दृष्टि-कोण से सबसे अधिक विकसित रहता है। विकास पहले केन्द्र की ओर से प्रारम्भ होता है; तब विभिन्न अंगों की ओर चलता है। इस सिद्धान्त के अनुसार भुजा पर नियन्त्रण आ जाने के बाद ऊँगलियों पर व्यक्ति नियन्त्रण प्राप्त करता है। जन्म के समय शिशु का सिर उसके कन्धों पर अथवा जो व्यक्ति उसे लिए रहता है उसके शरीर पर विश्राम करता है। इस समय शिशु में इतनी नियन्त्रण-शक्ति नहीं रहती कि उसका सिर स्वतन्त्र रूप से नियन्त्रित रह सके। कुछ ही दिनों बाद गर्दन और सिर की मांसपेशियों पर कुछ नियन्त्रण प्राप्त कर लेने पर सिर को सँभालने के लिए गर्दन पर ही हाथ लगाने की आवश्यकता होती है। इसके बाद क्रमशः कन्धे पर, पीठ पर तथा कूल्हे पर हाथ लगाना आवश्यक होता है।

विकास एक विशिष्ट क्रम में

यद्यपि गति के विकास में एक विशिष्ट क्रम मिलता है, परन्तु इसमें कुछ वैयक्तिक वैभिन्य भी मिलता है। उपयुक्त अभ्यास के लिए अवसर न मिलने पर बालक अपने हाथ पर नियन्त्रण प्राप्त करने में अथवा चलना सीखने में अन्य बालकों से पीछे रह सकता है। बुद्धि, स्वास्थ्य तथा अन्य बातों में विभिन्नता के कारण

वैयक्तिक वैभिन्य

1. Some General Characteristics of Motor Development.

बालक में गति का विकास पहले पूरा हो सकता है, अथवा उसमें देर लग सकती है।

सीखने और विवृद्ध का फल

माँसपेशियों पर नियन्त्रण प्राप्त करना, सीखना अथवा विवृद्धि[1] का फल हो सकता है। स्नायविक रचनाओं, हड्डियों तथा विभिन्न मांसपेशियों की विवृद्धि पर गति का विकास निर्भर करता है। किसी समन्वित रूप में व्यक्ति अपनी विभिन्न माँसपेशियों को प्रयोग में लाने का जितना अवसर पाता है उसका भी उसकी गति के विकास पर प्रभाव पड़ता है। गतियों के सुव्यवस्थित होने के लिए यह आवश्यक है कि बच्चा अपने माँसपेशीय यन्त्रों की प्रौढ़ता पर कुछ हद तक पहुँच जाय। जब तक उसका स्नायुमण्डल उसकी आवश्यक सहायता करने के लिए विकसित नहीं रहेगा वह सुव्यवस्थित गतियाँ नहीं दिखला सकता। इस प्रकार विवृद्धि आने के पूर्व ही यदि बालक को कुछ सिखलाया जायगा तो परिश्रम और समय नष्ट होगा और बालक में भी आवश्यक रुचि का लोप हो जायगा।

विभिन्न अवयवों में गति के विकास का अनुक्रम[2]

सिर के भाग में गति का विकास[3]

नेत्रों की गतिशीलता, मुस्कराना, हँसना और सिर को ऊपर उठाने की योग्यता बड़ी शीघ्र आती है। जन्म के बाद कुछ घण्टों तक शिशु का अपने नेत्रों पर नियन्त्रण नहीं रहता। परन्तु चार महीने पर एक सामान्य शिशु नेत्र की कठिन गतिशीलता दिखलाने में समर्थ होता है। लम्बात्मक,[4] उत्तानात्मक[5] और गोलात्मक[6] नेत्र-एकीकरण[7] में लम्बात्मक एकीकरण सबसे पहले प्राप्त होता है। जोन्स[8] ने अपने परीक्षण में देखा कि ३३ दिन का शिशु लम्बात्मक प्रकाश का बहुत देर तक अनुसरण कर सका। उत्तानात्मक और गोलात्मक नेत्र-एकीकरण ५१ वें दिन पाया गया। इस एकीकरण की प्राप्ति-काल में भेद भी पाया जाता है। जोन्स ने देखा कि किसी-किसी शिशु को लम्बात्मक एकीकरण में ९० दिन, उत्तानात्मक में ११० दिन और गोलात्मक में १३० दिन लग गए। जन्म के समय ही शिशु नेत्र मुलकाने में समर्थ

नेत्र

---

1. Maturation. 2. Sequence of Motor Development in the Different Organs. 3. Motor Development in the Head Region. 4. Horizontal 5. Vertical 6. Circular 7. Co-ordination.

8. *Jones, M. G*, The Development of Early Behaviour Patterns in Young Children. *Journal of Genetic Psychology*, 33, pp. 537-585, 1926.

रहता है। नेत्र के आस-पास छूने से अथवा उसे किसी प्रकार तनिक प्रभावित करने से उसमें मुलकाने की सहज-क्रिया[1] देखी जाती है। कुछ दिन बाद यह सहज-क्रिया अनैच्छिक हो जाती है और किसी पहुँचते हुए पदार्थ की आशंका से आँख अपनी प्रतिक्रिया स्वभावतः दिखलाती है। जोन्स ने अपने अन्वेषण में देखा कि ४६ दिन पर कुछ शिशु आँख मुलकाने की अनैच्छिक सहज-क्रिया दिखलाने में समर्थ थे और कुछ १२४ दिन के हो जाने पर इस योग्यता को पा सके।

मुस्कराना

मुस्कराने की सहज-क्रिया शिशु जन्म के बाद पहले ही सप्ताह पर दिखलाने में समर्थ हो जाता है। यह सहज-क्रिया स्पर्श-सम्बन्धी, आवयविक अथवा गति-सम्बन्धी उद्दीपक के फलस्वरूप हो सकती है। किसी के मुस्कराने के उत्तर में शिशु का मुस्कराना अथवा 'सामाजिक'[2] मुस्कराना कुछ दिन के बाद आता है। जोन्स ने अपने उपर्युक्त अन्वेषण में देखा कि पहली सामाजिक मुस्कराहट ३९ दिन की अवस्था पर आती है। बहुत से मनोवैज्ञानिक सामाजिक मुस्कराहट से शिशु में सामाजिक व्यवहार का प्रारम्भ समझते हैं।

सिर की गति

ब्रायन[3] ने अपने अन्वेषण में देखा कि शिशु-जन्म के २० मिनट बाद अपना सिर थोड़ा ऊपर करने में समर्थ होता है। यदि एक महीने का शिशु छाती और पेट के बल सुला दिया जाता है लम्बात्मक स्थिति में वह अपना सिर सीधा रख सकता है, और दो महीने की उम्र में वह अपना सिर इस स्थिति से ३०° ऊपर उठा सकता है। पीठ के बल पर सोये रहने पर सिर को उठाने में प्रारम्भिक दिनों में बड़ी कठिनाई होती है और यह योग्यता बाद में ही आती है। शर्ली[4] का कहना है कि इस प्रकार सिर ऊपर उठा सकने में प्रायः २० सप्ताह लग जाते हैं। जेसेल[5] ने अपने अन्वेषण में देखा कि चार महीने की अवस्था में लगभग ७५ प्रतिशत शिशु गोद में लेने पर अपने सिर ऊँचा उठाने में समर्थ रहते हैं। छः महीने पर प्रायः सभी अपना सिर उठाने में समर्थ रहे। जेसेल[6] ने एक दूसरे अध्ययन में देखा कि १६ सप्ताह पर

1. Blinking Reflex. 2. Social Smiling. 3. *Bryan, E.*, Variations in the Responses of Infants during first ten days of portnata life, *Child Development* 1, pp. 56-77, 1930.

4. *Shirley, M. M.*, The First Two Years. Univ. Minnesota Press, Minneapolis, 1931.

5. *Gesell, A.*, Infancy and Human Growth, Macmillan, *New York* 1928.

6. *Gesell, A.*, The Firt Fivse Years of Growth, *Harper New York* 1940.

शिशु का शरीर जब इधर-उधर सरलता से घूम सकता है तो उसका सिर मध्य स्थिति में रहता है। बीस सप्ताह की अवस्था में कुर्सी पर बैठाने पर सिर इधर-उधर सरलता से घूम सकता है।

भुजायें और हाथों की गति का विकास[1]

प्राय: यह देखा जाता है कि जन्म से ही शिशु की भुजायें और हाथ गतिशील रहते हैं। पहले इनकी गति ऊटपटाँग क्रम में चलती है। आगे-पीछे झटका देना तथा ऊँगलियों का खोलना और बन्द करना आदि गति का प्रधान रूप होता है। कभी-कभी सोने में भी कुछ ऐसी ही गतियाँ दिखलाते हुए शिशु जान पड़ता है। अपनी गतिशीलता में हाथ प्राय: सिर की ओर जाता रहता है। कदाचित् गर्भाशय में स्थिति विशेष के कारण पड़ी हुई आदत के कारण ही ऐसा होता है। कभी-कभी ऊँगलियाँ होठों को भी छू देती हैं। इससे शिशु को कदाचित् कुछ सुखद संवेदना मिलती हैं। तभी तो धीरे-धीरे वह अँगूठा चूसने की आदत अपने में डाल लेता है।

सिर की ओर ऊटपटाँग क्रम में

जन्म के समय अपने बचाव के लिए शिशु अपनी गतियों का एकीकरण नहीं कर पाता। परन्तु एक दिन के बाद शिशु इस सम्बन्ध में कुछ योग्यता पाने लगता है। शेरमैन[2] ने अपने अध्ययन में देखा कि २० से ४० घण्टे की उम्र के बाद शिशु ११ बार भुजाओं की गतियाँ कर लेने के बाद अपने बचाव के लिए उनका कुछ एकीकरण कर सका। उम्र के बढ़ने से एकीकरण की योग्यता स्वत: बढ़ती जाती है; परन्तु यह देखा गया कि १३ दिन बाद भी कुछ शिशु ऐसा एकीकरण दिखलाने में शीघ्र सफल न हो सके।

बचाव के लिए गतियों का एकीकरण

जन्म के समय यह देखा जाता है कि मुट्ठी बाँधने की सहज-क्रिया में अँगूठे और ऊँगलियाँ हुँक की तरह काम करते हैं। मुट्ठी बाँधने के अतिरिक्त हाथ को उपयोगी होने में यह आवश्यक है कि अँगूठा उँगलियों से स्वतन्त्र अस्तित्व में काम कर सके। इस स्वतन्त्र अस्तित्व काआना तीसरे या चौथे महीने से आरम्भ हो जाता है और आठवें या नवें महीने से बच्चा अपने हाथ में वस्तुएँ के पकड़ने योग्य हो जाता है।

अँगूठे

---

1. Motor Development of the Arms and Hands.

2. *Sherman, M., and Sherman, I. C., The Procees of Human Behaviour*, Norton, New York, 1929.

यदि हाथ का अचानक उद्दीपक से स्पर्श नहीं होता तो आगे पहुँच कर किसी वस्तु को पकड़ने में आँख और हाथ का एक साथ ही काम करना आवश्यक है, जिससे हाथ की गति आँख से संचालित हो सके। इस प्रकार का साथ काम कर सकना लगभग आठवें महीने पर सम्भव होता है। इस सम्बन्ध में वाटसन[1] ने अपने अन्वेषण में देखा कि जन्म के १२२ वें दिन शिशु मुट्ठी बाँधने में बड़ा ढीला था, परन्तु १७१ वें दिन दाहिने हाथ से मुट्ठी अच्छी तरह बाँधना शिशु को आ गया। जब शिशु ६ या ७ महीने का हो जाता है तो मुट्ठी बाँधकर वह विभिन्न वस्तुएँ उठा सकता है। ऐसा करने में उसकी दृष्टि वस्तु की ओर एक टक लगी रहती है, मुँह खुला रहता है, दोनों हाथ वस्तु की ओर बढ़ते हैं, परन्तु एक दूसरे से कुछ आगे रहते हैं और शरीर आगे की ओर कुछ झुका रहता है।

आँख और हाथ का एक साथ काम करना

वस्तु को उठा कर मुँह में डालना शिशु शीघ्र सीख लेता है। जोन्स[2] ने अपने अन्वेषण में देखा कि ऐसा करने में समर्थ शिशुओं में सबसे कम उम्र वाला शिशु ११६ दिन का था। साधारणतः २६६ दिन में प्रायः सभी शिशु ऐसा करने में समर्थ हो जाते हैं। परन्तु कुलमेन[3] और जेसेल[4] के अनुसार यह योग्यता ६ महीने के अन्तर्गत आ जाती है। शिशुओं के साधारण निरीक्षण से भी हमें यही बात मिलती है।

वस्तु को मुँह में उठा कर डालना

पहले साल के अन्दर किसी उद्देश्य से कुछ दूर जाकर किसी वस्तु को मुट्ठी में पकड़ लेने में शिशु प्रायः समर्थ हो जाता है। किसी वस्तु के दिखाने पर पहले शिशु एक या दोनों हाथ उसे पाने के लिए हिलाता है। चार महीने पर वह किसी वस्तु के पास पहुँच कर उसे पकड़ने में कुछ समर्थ हो जाता है। परन्तु यह समर्थता केवल आंशिक रहती है। पूर्ण समर्थता लगभग सातवें महीने में आती है। चल-चित्र[5] की सहायता से हैल-वैर्सन[6] तथा जेसेल और

वस्तु तक पहुँचना और उसे पकड़ना

---

1. *Watson, J. B., and Watson.,* R. R. Studies in Infant Psychology, Sci Mon., 13, pp. 493 515, 1921. 2. *Jones. M.C.* Ibid.

3. *Kubeman* F. *A Handbook of Mental Tests,* Warwick and York, Baltimore, 1922.

4. *Gesell, A., Infacy and Human Growth* Macmillan New York, 1928

5. Moving Pictures. 6. *Halverson, H. M.,* An Experimental Study of Prehension in Infants by means of Systematic Cinema Records, *Genetic Psychology Monogram,* 10, pp. 107-236, 1931.

हैलवर्सन[1] ने एक त्रिघात तक पहुँचने और उसे पकड़ने की शिशु की क्रिया का अध्ययन किया। उन्होंने देखा कि २४ सप्ताह के हो जाने पर ही शिशु ने पहले प्रयत्न में ही त्रिघात को पा लिया। त्रिघात तक पहुँचने की गति में ३२ सप्ताह तक तो वृद्धि हुई, परन्तु उसके बाद गति धीमी पड़ने लगी। त्रिघात तक पहुँचने के लिए २८ सप्ताह की उम्र तक शिशु अपना हाथ कुछ ऊपर उठाता था; परन्तु ५२ वें सप्ताह में हाथ की ऊँचाई कम हो गई। अट्ठाइस सप्ताह की उम्र में शिशु दोनों हाथ से पकड़ने की चेष्टा करता था, परन्तु इसके बाद वह एक ही हाथ से पकड़ने की चेष्टा करने लगा। साठ सप्ताह की उम्र में शिशु प्रौढ़ व्यक्ति की तरह वस्तु को हाथ से पकड़ने या उठाने में समर्थ हो जाता है।

लिपमैन[2] ने यह जानने की चेष्टा की कि शिशु एक बार कितनी वस्तुएँ अपने हाथ में पकड़ सकता है। अपने अन्वेषण के फलस्वरूप लिपमैन ने यह निष्कर्ष निकाला है कि पाँच महीने की उम्र में देने पर एक सामान्य शिशु एक वस्तु हाथ में ले सकता है, सात महीने का शिशु दो वस्तुएँ ले सकता है और दस महीने पर वह प्रायः तीन वस्तुएँ पकड़ने में समर्थ हो जाता है। कहना न होगा कि इन सब वस्तुओं का आकार इतना छोटा हो कि शिशु उसे सरलता से सँभाल सके।

उठा सकने वाली वस्तुओं की संख्या

खाने के समय शिशु अपने हाथ को कितना सुव्यवस्थित रख सकता है इसका भी अध्ययन किया गया है। आठ महीने का हो जाने पर मुँह में लगा देने से शिशु दूध वाली शीशी स्वयं पकड़ सकता है और नवें महीने पर वह स्वयं उसे अपने मुँह में डाल सकता है और उसे बाहर निकाल सकता है। एक साल की उम्र पर वह प्याले से स्वयं दूध पी सकता है और हाथ अथवा चम्मच उठा कर कुछ खा सकता है। यह सब करने में उससे दूध गिर सकता है और अपने शरीर में वह इधर-उधर जूठा भी पोत लेगा। दूसरे वर्ष में शिशु स्वयं उठा कर कुछ खा सकता है; जैसे टमाटर, अमरूद, सेव और बेर आदि। तीन वर्ष की उम्र में शिशु सरलता से स्वयं भोजन कर सकता है।

खाना

कपड़े उतार देना बालक कपड़े पहन सकने से पहले सीख लेता है, क्योंकि

---

1. *Gesell, A. and Halverson, H.M.*, The Development of Thumb Opposition in the Human Infant, *Journal of Genetic Psychology*, 48, pp. 339-361, 1936.

2. *Lippman, H. S.*, Certain Behaviour Responses in Early Infancy, *Journal of Genetic Psychology*, 34, pp. 424-440, 1927.

उतार देना कुछ सरल पड़ता है। की[1] ने अपने अन्वेषण में देखा कि १½ से ३½ वर्ष की उम्र में कपड़े पहनने की योग्यता का विकास बड़ी द्रुत

कपड़े पहनना

गति से चलता है। विभिन्न प्रकार के कपड़े पहनने के सीखने की गति भिन्न-भिन्न होगी। उदाहरणार्थ, कुर्ता, कमीज़ और कोट आदि पहनना बालक को धोती पहने से शीघ्रतर आ जाता है। मोजा पहन लेना जूता पहन सकने से सरल होता है। प्रायः यह देखा जाता है कि लड़कियाँ लड़कों से अधिक पहले कपड़ा पहनना सीख लेती हैं। उनके शीघ्रतर सीख लेने का कारण उनकी अधिक लचीली कलाई, गति-सम्बन्धी अधिक अच्छा एकीकरण करने की योग्यता और पहनावे का सरलतर ढङ्ग हो सकता है। पहनने-सम्बन्धी परीक्षण के लिए वैगॉनर और आर्मस्ट्राङ्ग[2] ने एक विशेष प्रकार की जैकेट बनवाई। इस जैकेट के सामने, पीछे और बगल में बटन लगे हुये थे। बटनें विभिन्न आकार और प्रकार की थीं। इस अन्वेषण में यह देखा गया कि शिशुओं के लिए बटन निकालना लगाने से सरल था। दो वर्ष की उम्र के बाद बटनें लगाना अथवा निकालना शिशु के लिए एक मनोरंजन था। तीन से पाँच वर्ष की उम्र में सामने अथवा बगल में बटनें शिशु लगा सकता था; और इसमें समय भी पहले से कम लगता था। कपड़े पहनने में हाथ और आँख के एकीकरण की तब तक आवश्यकता होती है जब तक शिशु स्पर्श के अनुभव से कपड़े पहन लेने में समर्थ न हो। पहनने में पहले बटन, हुक, काज तथा डोरी आदि का देखना छोटे शिशु के लिए आवश्यक है। छठे वर्ष के बाद से बालक बिना देखे ही बटनें आदि लगा सकता है।

गटरिज[3] ने अपने अन्वेषण में देखा कि दो या तीन वर्ष की अवस्था में कोई भी बालक गेंद को एक सुनिश्चित दिशा में फेंकने में समर्थ नहीं था। चार वर्ष की उम्र में केवल २० प्रतिशत, पाँच वर्ष पर ७४ प्रतिशत और

गेंद फेंकना, उछालना और पकड़ सकना

छः वर्ष पर ८४ प्रतिशत बच्चे ठीक दिशा में गेंद फेंकने में समर्थ थे। पहले दोनों हाथ का प्रयोग किया जाता था और इसमें पूरा शरीर ही हिल जाया करता था। धीरे-धीरे एक

1. *Key, C. B.* and others, The Process of Learning to Dress among nursery School Children, *Journal of Applied Psychology*, 18, pp. 67-163, 1936.

2. *Wagoner, L. C. and Armstrong, E. M.*, The Motor Control of Children as Involved in the Dressing Process, *Journal of Genetic Psychology*, 35, pp. 84-97, 1928.

3. *Gutteridge, M. V.*, A study of Motor Achievement of Young Children, *Arch. Psychology*, N. Y. No. 244, 1939.

ही हाथ से फेंकना सम्भव सका। गटरिज ने देखा कि चार वर्ष की उम्र में बच्चे गेंद को ठीक से उछालने में समर्थ न थे। साढ़े छः वर्ष की अवस्था में केवल ६१ प्रतिशत ही बच्चे गेंद ठीक से उछाल सकते थे। लड़के लड़कियों से इसमें कुछ कम प्रवीण दिखलाई पड़ते थे। उछाल सकने की तरह गेंद को पकड़ सकना भी कठिन सिद्ध हुआ। चार वर्ष की उम्र पर २९ प्रतिशत, पाँच वर्ष पर ५६ प्रतिशत और छः वर्ष पर ६३ प्रतिशत बच्चे गेंद पकड़ने में समर्थ थे।

लिखना

बालकों के लिखने के सम्बन्ध में हिल्ड्रेथ[1] ने एक अन्वेषण किया। इसमें उसने देखा कि तीन वर्ष की अवस्था तक बच्चे कागज पर एक ऊँटपटाँग रूप में खींचना जानते हैं। दो और ३½ वर्ष की अवस्था में बच्चे लम्बात्मक रूप में लिखने का स्वाङ्ग रचते हैं। इसके साथ ही साथ वे ऊपर-नीचे भी रेखाएँ खींचते हुए देखे जाते हैं। साढ़े तीन से चार वर्ष की उम्र में बच्चे कुछ सुसंगठित चिन्ह बनाने का प्रयास करते हैं। परन्तु यह चिन्ह अक्षर का रूप नहीं ले पाता। साधारणतः ४½ वर्ष का बच्चा कुछ अक्षर लिखना प्रारम्भ कर देता है; जैसे क, ख, च, त, न आदि। पाँच और ५½ वर्ष के अन्दर बच्चा अच्छी तरह लिखने में समर्थ हो जाता है। छः वर्ष से लिखने की गति पहले से तीव्र होने लगती है।

हाथ के अन्य कार्य

प्रायः यह देखा जाता है कि चार वर्ष की उम्र पर बालक कहने पर कुछ वस्तुओं को उठाकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर उन्हें बिना बिगाड़े रख देने में समर्थ होता है। साढ़े चार वर्ष पर वे भोजन की थाली, ग्लास में पीने का पानी तथा अन्य छोटा सामान आदेश के अनुसार लाने में समर्थ हो जाते हैं। जेसेल के अनुसार ८५ से १०० प्रतिशत ५ वर्ष के लड़के कागज को कर्ण रेखावत मोड़ सकते हैं, किसी छोटे वर्ग की नकल कर सकते हैं तथा कुछ साधारण अक्स भी कर सकते हैं। ६५ से ८४ प्रतिशत बच्चे त्रिभुज, तथा पहचानने योग्य आदमी का चित्र खींच सकते हैं। वे किसी सन्दूक में अपने खिलौनों को एक ढंग से रख सकते हैं। वे अपने कपड़े को बिना अधिक भिगोये हाथ, मुँह और पैर धो सकते हैं।

कुछ प्रारम्भिक महीनों में यह समझना कठिन होता है कि बच्चा किस हाथ से अधिक काम कर रहा है। वस्तुतः इस समय वह अपने दोनों हाथ समान रूप से प्रयोग

1. *Hildreth, G.*, Developmental Sequences in Name Wirting, *Child Development*, 7, pp. 791-303, 1936.

में लाता है। परन्तु प्रथम वर्ष के मध्य से कुछ बच्चों में यह देखा जाता है कि उनका झुकाव बायें अथवा दाहिने हाथ के प्रयोग की ओर विशेष हो रहा है। नवें महीने से यह स्पष्ट हो जाता है कि बच्चा दाहिने अथवा बाँये हाथ वाला होगा। इस समय से यह देखा जाता है कि किसी वस्तु को पकड़ने के लिए वह प्रायः एक ही हाथ बढ़ाता है। प्रथम वर्ष में कुछ बालकों में बायें हाथ की प्रधानता दिखलाई पड़ती है, परन्तु यह प्रधानता प्रायः शीघ्र ही दाहिने हाथ को चली जाती है।

दाहिने अथवा बाँये हाथ की प्रधानता

अभी तक यह निश्चय नहीं किया जा सका है कि दाहिने अथवा बाँये हाथ का होना अभ्यास अथवा घरेलू स्थिति के कारण होता है। साधारणतः लोगों की यह धारणा है कि बाँये हाथ का होना एक जन्मजात गुण होता है और इसमें किसी प्रकार की बाधा डालने से बालक में स्नायविक कमजोरी आ जाने का भय रहता है। अधिकांशतः दाहिने हाथ के प्रयोग के कई कारण दिये जाते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि बाँयी ओर का मस्तिष्क दाहिनी ओर से मजबूत होता है, इसलिए व्यक्ति बहुधा दाहिने हाथ वाला होता है। कुछ दूसरों का कहना है कि गर्भाशय में भ्रूण की विशिष्ट स्थिति के कारण दाहिना हाथ बाँये हाथ से स्वभावतः मजबूत होता है, इसलिए उसका प्रयोग अधिक किया जाता है। कुछ अन्य लोगों का विचार है कि व्यक्ति स्वभावतः शरीर के एक अंग को अधिक प्रयोग में लाता है, जैसे एक ही आँख से किसी निशाने की ओर ध्यान केन्द्रित करना, इसलिए व्यक्ति दाहिने अथवा बाँये हाथ वाला हो जाता है।

किसी विशिष्ट हाथ वाला होने के सम्भव कारण

धड़ में गति का विकास[1]—

जन्म के समय शिशु करवट लेने में अथवा पीठ के बल से पेट के बल पर आ जाने में समर्थ नहीं रहता। दूसरे महीने पर शिशु करवट से पीठ के बल पर आ जाने में; चौथे महीने में पीठ से करवट के बल पर और छः महीने पर एक करवट से दूसरी करवट पर आ जाने में समर्थ होता है। इस प्रकार घूमने में शरीर पहले सिर की ओर से घूमता है और अन्त में पैर के घूमने की बारी आती है। शिशु पहले अपना सिर घुमाता है; इसके बाद कन्धों, कूल्हों तथा पैरों का नम्बर क्रमशः आता है।

करवट लेना

शरीर की मांसपेशियों की वृद्धि पर अकेले बैठने की समर्थता निर्भर करती है।

1. Motor Development in the Trunk.

अकेले बैठना

बैठ सकने के पूर्व पूरे धड़ पर नियन्त्रण पा जाना आवश्यक है। जैसेल[1] के अनुसार १६ सप्ताह की उम्र में शिशु अपने को बैठने के आसन में खींच सकता है; परन्तु बैठ जाना अभी उसके लिए सम्भव नहीं होता। बीस सप्ताह पर सहारा पाने पर शिशु बैठ सकता है। यदि सहारा छोड़ दिया जाय तो आगे की ओर थोड़ा वह झुक जायगा। नवें अथवा दसवें महीने में बिना किसी सहारे ही शिशु को स्वयं बैठ जाने में समर्थ होना चाहिए।

बैठने की विधि

अकेले बैठने में अपना संतुलन ठीक करने के लिए शिशु थोड़ा आगे झुक जाता है, उसकी भुजायें शरीर के बगल में फैली रहती हैं, और उसके पैर धनुषाकार में रहते हैं। इस स्थिति में बैठे रहने से शिशु खड़े होने की स्थिति में स्वयं नहीं आ सकता, यदि वह थोड़ा उठने का प्रयत्न करता है तो लड़खड़ा जाता है। धीरे-धीरे चौथे या पाँचवें वर्ष में बच्चा प्रौढ़ व्यक्ति की तरह बैठने और उठने लगता है।

पैरों में गति का विकास[2]—

रेंगना

बालक को चलना सीखने में काफी कठिनाई होती है। वस्तुतः चलने का अभ्यास जन्म से ही प्रारम्भ हो जाता है जब शिशु पैरों को आगे पीछे फेंकते हुए दिखलाई पड़ता है। इस क्रम में शिशु अपने पैरों तथा धड़ की मांसपेशियों में एकीकरण स्थापित करना सीखता है। सर्व प्रथम शिशु रेंगना सीखता है। यह प्रथम चार महीनें में देखा जा सकता है। उतान सोने के क्रम में शिशु अपने पैर इधर-उधर फेंकता रहता है। फेंकने के इस क्रम में कुछ इञ्च वह ऊपर या नीचे, अथवा दाहिनी या बाईं ओर खिसक जाता है। कभी-कभी वह इधर-उधर लुढ़क भी जाता है। सातवें और नवें महीने के अन्दर रेंगना अपनी चरम सीमा को पहुँच जाता है। रेंगने में शिशु पेट के बल रहता है; उसका शरीर जमीन से लगा रहता है; सिर और कन्धे थोड़ा ऊपर उठे रहते हैं; और शरीर के ऊपरी भाग का वजन केहुनियों पर पड़ता है।

नवें महीने की उम्र में एक सामान्य शिशु घुटनों के बल चलने में समर्थ हो जाता है। इस प्रकार की गति में धड़ जमीन से ऊपर और समानान्तर रहती है। हाथ और

---

1. *Gesell, A.*, The First Five Year of Life, Harper, New York, 1940.

2. Motor Development in the Legs.

घुटनों की सहायता से शिशु आगे बढ़ता है। पहले इस गति में लय नहीं दिखलाई पड़ती; परन्तु अभ्यास से इसमें लय आ जाती है और एक बार आगे बढ़ने को एक ही अंग उठता है। कुछ अधिक शक्ति पा जाने पर शिशु घुटनों को ऊपर उठा लेता है; और तब वह हाथों और पैरों से बल पर पशुओं की तरह चलने लगता है।

घुटनों चलना

यह याद रखना है कि सभी शिशुओं में रेंगने और घुटनों पर चलने का विकास समान रूप से नहीं होता। कुछ शिशु बैठने की स्थिति में झटका मार कर रेंगते हैं। कुछ शिशु रेंगने से घुटनों पर चलने की स्थिति में बड़े शीघ्र आ जाते हैं।

चलना सीखने के लिए खड़ा होने में समर्थ हो जाना आवश्यक है। प्रायः यह देखा जाता है कि शिशु जब घुटनों चलने लगता है तो कुछ पकड़ कर खड़ा हो जाना भी उसके लिए सम्भव होता है। प्रायः आठवें महीने में किसी सहारे के बल खड़े होने में शिशु समर्थ हो जाता है। ऐसा कर सकने के बाद धीरे-धीरे बिना सहारे के भी खड़े होने की समर्थता शिशु में ९ वें या १० वें महीने तक आ जाती है। अपना संतुलन बनाने के लिए पहले शिशु दोनों पाँवों को एक दूसरे से कुछ दूरी पर व्यवस्थित करता है, अँगूठे बाहर की ओर रहते हैं, घुटने तने रहते हैं और सिर तथा धड़ का ऊपरी भाग कुछ आगे को झुका रहता है।

खड़ा होना

खड़ा होना अच्छी तरह सीख लेने पर शिशु चलने के लिए कदम उठाता है। धीरे-धीरे इसमें उसकी प्रवीणता बढ़ती है और किसी सहारे के बल पर सरलता से चलना उसे आ जाता है। जितनी उम्र में शिशु अकेले बैठना सीखता है उसकी प्रायः दुगनी उम्र में वह अकेले चलना सीख लेता है। यदि बालक रेंगता है तो उसके रेंगने की १½ गुनी उम्र पर उसके चलने की उम्र आ जायगी। यदि शिशु अकेले बैठ जाने में शीघ्र समर्थ हो जाता है तो चलना भी उसे शीघ्र ही आ जायगा। यदि अकेले बैठने में उसे देर लगती है तो चलना भी उसे देर में ही आयेगा। बहुत से शिशुओं पर अन्वेषण से यह निष्कर्ष निकला है कि सहारे के बल चलने की औसत उम्र एक वर्ष होती है। सहारे से चलने वाले शिशु का ६४ प्रतिशत १४ महीने पर बिना सहारे के चलने में समर्थ हो जाते हैं और १८ महीने पर एक सामान्य बालक प्रौढ़ व्यक्ति की तरह चलने लगता है।

चलना

चलने के क्रम में सिर सीधा रहता है जिससे बच्चा यह देखता रहे कि वह कहाँ जा रहा है। शरीर भी सीधा रहता है। केवल पैरों की गतियों से ही वह आगे

बढ़ता है। पहले उसमें संतुलन की कमी मालूम होती है। संतुलन के लिए शिशु अपने हाथ कुछ ऊपर उठाये रहता है। चलने के क्रम में बच्चा कई बार गिरता रहता है, क्योंकि संतुलन पाने में कुछ देर लगती है।

प्रारम्भ में संतुलन की कमी

प्रारम्भ में बच्चा बहुत छोटा-छोटा पग डालता है। पग डालने में गलती करने से वह गिर पड़ता है। चलने में प्रवीणता आने से पग की दूरी भी बढ़ने लगती है। यह दूरी दूसरे वर्ष तक क्रमशः बढ़ती रहती है। पहले बच्चा पहला पाँव अच्छी तरह जमीन पर जमा लेता है तो दूसरा आगे बढ़ाने के लिए उठाता है। प्रवीणता पा जाने पर पहला पाँव अच्छी तरह रखने के पूर्व ही वह दूसरा पाँव उठा लेता है।

पग का क्रम

प्रारम्भ में चलने के क्रम में बच्चे का पूरा शरीर ही हिलता हुआ दिखलाई पड़ता है। धीरे-धीरे पूरे शरीर का हिलना बन्द होने लगता है और हिलना केवल पैरों तक ही सीमित रह जाता है। पैरों के पूर्व भुजाओं का एकीकरण पहले प्राप्त हो जाता है, इससे संतुलन आने में बड़ी सहायता मिलती है। अभ्यास से पैरों की गति बढ़ती है और उनमें एक सामञ्जस्य आ जाता है। फलतः बच्चा पहले से अब तेज चलने लगता है।

अभ्यास से प्रवीणता

चलने की विधि में बच्चों में वैयक्तिक वैभिन्य पाया जाता है। यह वैभिन्य बच्चे के स्वास्थ्य पर भी निर्भर करता है। डेढ़ वर्ष के बाद से प्रायः छः वर्ष की उम्र तक बच्चे का चलने-सम्बन्धी कौशल बढ़ता रहता है। इस सम्बन्ध में दौड़ने, कूदने, उछलने तथा चढ़ने आदि को चलने का ही विभिन्न रूप कहा जा सकता है। प्रारम्भ में बच्चे का दौड़ना तेज चलने के समान लगता है और इस क्रम में वह बहुधा गिर जाया करता है। पाँच-वर्ष की अवस्था में बच्चा केवल दौड़ ही नहीं पाता, वरन् दौड़ने वाले विविध खेल भी खेल सकता है। बच्चा दौड़ना सीखता है, क्योंकि दौड़ने की क्रिया में उसे आनन्द आता है। कुछ दिन के बाद वह किसी विशेष अवसर पर ही दौड़ना पसन्द करता है और इसके लिए उसके दौड़ने की गति भी धीरे-धीरे बढ़ने लगती है।

दौड़ना

दो वर्ष की अवस्था में बच्चे को अच्छी तरह कूदना नहीं आता। चार वर्ष की अवस्था पर वह अच्छी तरह कूदना सीख लेता है। गटरिज[1] ने अपने अन्वेषण में

1. *Gutteridge, M. V.*, A Study of Motor Achievements of Young Children, *Arch Psychology*, N. Y. No. 244, 1939.

देखा कि ४२ प्रतिशत बच्चे तीन वर्ष की अवस्था में और ५ वर्ष पर ८१ प्रतिशत बच्चे अच्छी तरह कूद सकते थे। पाँच वर्ष की अवस्था में बच्चे लम्बी कूद करने का भी प्रयत्न करते हैं।

कूदना

चलने के पहले ही बच्चे को सीढ़ियों पर चढ़ना और उनसे उतरना आ जाता है। परन्तु चलना सीख लेने पर चढ़ना उसके लिए सरल हो जाता है। तब वह ऊँची सीढ़ियों से सरलतापूर्वक उतर भी सकता है। गटरिज ने अपने अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला है कि तीन वर्ष की अवस्था तक प्रायः सभी सामान्य बालकों को चढ़ना आ जाता है। उसने यह भी देखा कि दो, तीन और छः वर्ष की उम्र में लड़के लड़कियों से चढ़ने में अधिक प्रवीण होते हैं, परन्तु चौथे और पाचवें वर्ष पर इस सम्बन्ध में दोनों की योग्यता समान रहती है।

चढ़ना

तैरने-सम्बन्धी बच्चे का कौशल तत्सम्बन्धी अवसर पर बहुत हद तक निर्भर करता है। इसीलिए तो यह देखा जाता है कि नदी तथा तालाब आदि के पास रहने वाले बच्चों को तैरना शीघ्रतर आ जाता है, और दूसरे इसे प्रायः कैशोर में ही सीख पाते हैं।

तैरना

तीन पहिए की साइकिल को चलाना बच्चे प्रायः दो या ढाई वर्ष पर सीख जाते हैं। तीन वर्ष की उम्र पर वे उसे पीछे और आगे दोनों ओर चला सकते हैं। गटरिज ने अपने अन्वेषण में देखा कि दो वर्ष की उम्र में १७ प्रतिशत, तीन वर्ष में ६३ प्रतिशत और चार वर्ष में १०० प्रतिशत बच्चे तीन पहिए की साइकिल चलाने में समर्थ हो जाते हैं।

तीन पहिए की साइकिल चलाना

स्ट्रैङ्ग[1] ने अपने अन्वेषण में देखा कि छः वर्ष की उम्र में बच्चे रस्सी के ऊपर कूद सकते हैं, रेल की लाइन अथवा दीवाल पर अपने को सन्तुलित कर सकते हैं। चार वर्ष की उम्र में बच्चा दो पहिए की साइकिल के प्रति उदासीन दिखलाई पड़ सकता है, परन्तु पाँच साल पर बहुधा यह देखा जाता है कि वह उसे सीखना ही चाहता है।

गति के विकास में विलम्ब

सभी बच्चों में गति का विकास समान गति से नहीं चलता। कुछ बच्चों में शीघ्र विकास हो जाता है और कुछ में देर लगती है। जब गति का विकास बहुत धीमा

1. *Strang*, R., An Introduction to Child Study, Rev. Ed. Macmillan, New York, 1938.

चलता है तो उसे शीघ्र पहचाना जा सकता है और आवश्यक उपचार से विकास की गति द्रुततर बनाई जा सकती है।

गति के विकास में बिलम्ब का कुपरिणाम—

आत्महीनता की भावना-ग्रन्थि का आना

गति के विकास में बिलम्ब का होना अच्छा नहीं, क्योंकि इससे बच्चा अपनी कुछ दैनिक आवश्यकताओं के लिए स्वतन्त्र नहीं हो सकता। इससे उसके सामाजिक विकास में भी बड़ी देर लगेगी, क्योंकि तब बच्चा अपनी उम्र के अन्य बच्चों से हिलने-मिलने में संकोच करेगा। जब बच्चा स्वयं खा नहीं सकता, कपड़े नहीं पहन सकता तथा स्नानादि नहीं कर पाता तो अपनी उम्र के अन्य बच्चों के आगे उसे लज्जा आती है और उसमें आत्महीनता की भावना-ग्रन्थि भी बैठने लगती है।

गति के विकास में बिलम्ब के कारण—

बीमारी अथवा पौष्टिक भोजन का अभाव

बच्चे के स्वास्थ्य का उसकी गति के विकास पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। स्वस्थ बालक में गति का विकास शीघ्र होता है, और अस्वस्थ बालक में देर लगती है; उदाहरणार्थ; स्वस्थ बालक १० या ११ महीने ही पर चलना सीख लेता है, परन्तु अस्वस्थ बालक को इसमें बड़ी देर लग सकती है। बच्चे का स्वास्थ्य किसी विशिष्ट बीमारी अथवा पौष्टिक भोजन के अभाव में बिगड़ सकता है।

शरीर का आकार

बैठने, खड़े होने, चलने तथा कुछ अन्य कौशलों के विकास में शरीर के आकार का प्रभाव पड़ता है। शरीर के सन्तुलन के लिए यह आवश्यक है कि पैर और धड़ की लम्बाई का अनुपात बढ़ जाय और उनमें तौल और ऊँचाई का अनुपात घट जाय। छोटी हड्डियों वाले पतले और अच्छी मांसपेशी वाले बच्चे मोटे बच्चों से शीघ्रतर चलना सीख लेते हैं।

पहनावे का प्रभाव

बच्चे के शरीर पर जितना ही कम कपड़ा रहेगा वह उतनी ही सरलता से अपने विभिन्न अवयवों को घुमा-फिरा सकेगा और उतनी ही शीघ्र वह मांसपेशीय नियन्त्रण प्राप्त कर लेगा। यह बात जूते के सम्बन्ध में विशेष लागू होती है। यदि जूता चुस्त और कड़ा हुआ तो चलना सीखने में बच्चे को कठिनाई होगी। अतः यह

आवश्यक है कि बच्चे के जूते पर विशेष ध्यान दिया जाय। जब तक बिना जूता का सरलता से काम चल जाता है तब तक न पहनाया जाय तो अच्छा है। यही बात अन्य कपड़ों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। बच्चे का पहनावा ढीला तथा कम से कम होना चाहिए। गर्म देशों में बच्चों को कम कपड़े पहनाने की आवश्यकता होती है। अतः गर्म देश के बच्चे ठण्डे देश के बच्चों की अपेक्षा शीघ्रतर चलना सीखते हैं।

समुचित वातावरण के अभाव में भी बच्चों का गति-विकास देर से होता है। जिन बच्चों को इधर-उधर चलने का अधिक स्थान तथा अवसर मिलता है वे मांस-पेशीय नियन्त्रण शीघ्रतर पाते हैं। जो ऐसा स्थान और अवसर नहीं पाते वे मांसपेशीय नियन्त्रण पाने में पिछड़ जाते हैं। जो बच्चे बहुधा गोद में रखे जाते हैं वे चलना-फिरना देर में सीख पाते हैं। अतः यह आवश्यक है कि बच्चों को अधिक से अधिक स्वतन्त्रता दी जाय। उनके खेलने के लिए उपयुक्त और पर्याप्त स्थान का भी होना आवश्यक है।

समुचित वातावरण का अभाव

समुचित वातावरण के होते हुये भी प्रेरणा के अभाव में बच्चे में गति का विकास अच्छा न हो सकेगा। जिन बच्चों के संकेत पर लोग हर समय नाचने के लिए तैयार रहते हैं और जिनका अत्यधिक लाड़-प्यार किया जाता है उन्हें चलने-फिरने की कम प्रेरणा मिलती है। ऐसे बच्चे आलसी हो जाते हैं और उनमें गति का विकास बड़े धीरे-धीरे चलता है।

प्रेरणा का अभाव

जब तक बच्चा किसी प्रकार की गति दिखलाने का स्वयं कुछ संकेत नहीं देता उसके पूर्व ही उसे गतियाँ दिखलाने के लिए विवश कर उन गतियों के प्रति बालक में भय उत्पन्न करना है। अतः उसे चलने, दौड़ने अथवा कूदने आदि के लिए विवश नहीं करना चाहिए; अन्यथा इन सब गतियों का विकास उसमें देरी से होगा। यदि चलने के लिए उसे विवश किया जा रहा है, और इस प्रयास में वह गिर जाता है तो चलने की क्रिया से वह डरने लगेगा, और फिर पग उठाने में उसे हिचक होगी। अतः बच्चे को किसी प्रकार की गति दिखलाने के लिए विवश नहीं करना चाहिए।

भय

कुछ प्रथम वर्षों में बुद्धि और गति के विकास में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। परीक्षणों द्वारा यह देखा गया है कि वे बच्चे जो चलना, बैठना, और दौड़ना आदि

सीखने में विलम्ब करते हैं निर्बल बुद्धि के होते हैं । जो तीव्र बुद्धि के होते हैं उनमें विभिन्न गतियों का विकास शीघ्रतर होता है । मीड[1] ने अपने एक अन्वेषण में देखा कि सामान्य बच्चा १३·८८ महीने की उम्र पर चलने में समर्थ था और मन्द बुद्धि बच्चे २५·८८ महीने औसत उम्र पर भी चलने में समर्थ नहीं थे । टरमैन[2] ने देखा कि प्रतिभाशाली बच्चे १२ महीने पर ही चलने में समर्थ हो जाते हैं ।

बुद्धि में कमी का होना

---

1. *Mead, C. D.*, The Age of Walking and Talking in Relation to General Intelligence, Ped. Sem., 20, pp. 460-484, 1913.
2. *Terman, L. M.*, Genetic Studies of Genius, Stanford Univ. Press, Stanford University, Vol. 1, 1925.

५

मानसिक विकास[1]

मानसिक और शारीरिक विकास में सम्बन्ध[2]

मानसिक और शारीरिक विकास के परस्पर-सम्बन्ध को समझने के लिए मनोवैज्ञानिकों ने कई अन्वेषण किए हैं। इन अन्वेषणों के फलस्वरूप दोनों में ·१० और ·२० के अन्तर्गत सहसम्बन्ध[3] आता है। इस सहसम्बन्ध से यह सारांश निकलता है कि किसी बालक के वर्तमान शारीरिक अथवा मानसिक विकास से उसके भावी मानसिक अथवा शारीरिक विकास के रूप का ठीक-ठीक अनुमान नहीं किया जा सकता, अर्थात् किसी बालक की ऊँचाई तथा तौल के अध्ययन से उसके मानसिक विकास का अनुमान लगाना ठीक नहीं; तथापि यह तो मानना ही पड़ेगा कि एक का दूसरे पर कुछ प्रभाव पड़ता ही है। किशोरों के अध्ययन में शटलवर्थ[4] ने प्रमाण सहित यह दिखलाया है कि निर्बल बुद्धि वाले किशोरों का शारीरिक विकास प्रतिभाशाली तथा सामान्य कोटि के किशोरों की अपेक्षा देर में होता है, उनमें दाँत देर से आते हैं, उनमें अधिक शारीरिक दोष मिलते हैं और उनका जीवन-विस्तार भी दूसरों की अपेक्षा कम होता है। शटलवर्थ के निष्कर्ष का समर्थन फ्लोरी[5] ने भी अपने अन्वेषण के द्वारा किया है। फ्लोरी ने यह कहा है कि मन्द मानसिक विकास वाले बालकों का शारीरिक विकास धीरे-धीरे होता है और वे अधिक दिन तक अप्रौढ़ बने

1. Mental Development. 2. The Relation between Mental and Physical Development.

3. *Thorpe, Louis P.*, Child Psychology and Development, p. 339, The Ronold Press Company, New York, 1946.

4. *Shuttleworth, Frank.*, The Adolescent Period : A Graphic and Pictorial Atlas, Monographs of the Society for Research in Child Development, Vol. 3, No. 3, 1938.

5. *Flory, C. D.*, The Physical Growth of Mentally Deficient Boys, Monographs of the Society for Research in Child Development, Vol. I, No. 6, 1936.

रहते हैं। एक अध्ययन[1] में स्कूल में ६०० कमजोर बालकों तथा २७०० मानसिक विकास की दृष्टि से सामान्य बालकों के विकास की तुलना की गई। कमजोर बालकों के स्वास्थ्य की कुछ विशेष परिचर्य्या की गई। तथापि यह देखा गया कि उनमें सामान्य बालकों की अपेक्षा अधिक शारीरिक दोष हैं। ली और नेमजिक[2] को भी अपने अन्वेषण में यही फल मिला। उन्होंने देखा कि अंग्रेजी, सामाजिक विज्ञान तथा साधारण विज्ञान में उन लड़कियों को अच्छे अङ्क मिले जिनमें शारीरिक दोष कम थे।

कार्य और कारण का सम्बन्ध नहीं

उपर्युक्त अन्वेषणों के निष्कर्षों से यह फल निकालना ठीक न होगा कि शारीरिक दोष स्वभावत; बुद्धि के विकास को अवरुद्ध कर देते हैं। अब तक इन दोनों में कार्य और कारण का घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं पाया गया है। शारीरिक तथा मानसिक विकास की मन्द गति का कारण वातावरण-सम्बन्धी विभिन्न बातें हो सकती हैं।

जन्म के समय चोट तथा बाद के मानसिक विकास में कुछ सहसम्बन्ध पाया गया है। डॉल, फेल्प्स तथा मेल्चर[3] ने अपने अन्वेषण के बल पर कहा है कि जन्म के समय शिशु को चोट लग जाने से उसकी कुछ ही दिन बाद मृत्यु, बाद में विकसित होने वाले विभिन्न प्रकार के शारीरिक दोष, व्यवहार-सम्बन्धी दोष तथा मानसिक विकास-सम्बन्धी दोष आ सकते हैं। कॉज[4] ने अपने अन्वेषण के फलस्वरूप उपर्युक्त बात की प्रामाणिकता सिद्ध की है। उन्होंने प्रमाण सहित यह दिखलाया है कि जन्म के समय चोट लग जाने से केवल मानसिक विकास ही अवरुद्ध नहीं होता, वरन् उससे बात, मिरगी का रोग तथा अन्य शारीरिक रोग भी आ सकते हैं।

जन्म के समय चोट का परिणाम

1. *Goldwassel, M.* "Physical Defects in Mentally Retarded School Children", California and Western Medicine, 47, pp. 310-315, 1937.

2. *Lee, Frank H. and Nemzek, C. L.*, "Relation between Certain Physical Defects and School Achievement," *Journal of Social Psychology*, 13, pp. 385-394, 1941.

3. *Doll, E. A., Phelps, W. M., and Melcher*, R. T., Mental Deficiency due to Birth Injuries, Macmillan, New York, 1932.

4. *Katj, B.*, The Etiology of the Deteriorating Psychoses of Adolescence and early Adult Life, Doctoral Dissertation, The Univ. of Southern California, 1939.

शारीरिक और मानसिक विकास के विभिन्न अङ्गों में विशेष सहसम्बन्ध न रहने से बाल-विकास के विद्यार्थियों का झुकाव इस विश्वास की ओर हो गया है कि मानव विकास अपनी प्रारम्भिक अवस्था में एक इकाई में चलता है। उनका अब विश्वास है कि प्रत्येक प्रकार का शारीरिक अथवा मानसिक विकास एक गति से चला करता है; और विभिन्न प्रकार के विकासों को एक आन्तरिक संतुलन शक्ति एक ही सूत्र में बाँधने की चेष्टा करती रहती है। हमें यह ध्यान रखना है कि शिक्षा-सम्बन्धी तथा अन्य सामाजिक अवसर के मिलने से बालक का मानसिक विकास बहुत आगे बढ़ सकता है, परन्तु यह सम्भव है कि इन सबका उसके शारीरिक विकास पर कुछ भी प्रभाव न पड़े। पौष्टिक भोजन की प्राप्ति या अभाव से व्यक्ति का शारीरिक विकास कई प्रकार से प्रभावित हो सकता है, और सम्भव है कि इसका उसके मानसिक विकास पर विशेष प्रभाव न पड़े। अतः आश्चर्य नहीं कि मानसिक और शारीरिक विकास में बहुत ही कम सहसम्बन्ध मिलता है।

विभिन्न अंगों का विकास एक इकाई में

उपर्युक्त विवरण से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि बालक के विकास के विभिन्न अंग अलग-अलग रूप में नहीं चलते, वरन् एक प्रकार के विकास का दूसरे प्रकार पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। अतः विभिन्नता रहते हुए भी उनमें एक एकता है और इस एकता के कारण ही एक का दूसरे पर प्रभाव पड़ता रहता है।

एक का दूसरे पर प्रभाव

बुद्धि के स्वरूप को समझने की चेष्टा में मनोवैज्ञानिकों ने अधिक परिश्रम किया है, परन्तु वर्षों के अन्वेषण के फलस्वरूप भी वे इससे सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं का समाधान अभी तक नहीं कर पाये हैं। बुद्धि का विकास एक वर्ष से दूसरे वर्ष में किस गति से चलता है, विकास के किसी अवस्था में बुद्धि को कैसे मापा जा सकता है, इसका विकास कब रुक जाता है, इसका वास्तविक स्वरूप क्या है, तथा मानसिक और शारीरिक विकास में क्या सम्बन्ध है इत्यादि प्रश्न बुद्धि के सम्बन्ध में उठते हैं। अन्तिम प्रश्न का उत्तर तो हम ऊपर दे चुके हैं। नीचे अन्य प्रश्नों से सम्बन्धित कुछ बातों पर विचार किया जायगा।

बुद्धि के स्वरूप-सम्बन्धी प्रतिपादित सिद्धान्त[1]

बच्चों के मानसिक विकास के स्वरूप को समझने के लिए बुद्धि की जो विभिन्न परिभाषायें दी गई हैं अथवा उसके सम्बन्ध में जो विभिन्न विवरण हैं उन्हें समझ

1. Theories of the Nature of Intelligence.

लेना आवश्यक है। इन परिभाषाओं और विवरणों में बड़ा ही मतभेद पाया जाता है, परन्तु उनसे बालक के विकास-सम्बन्धी बहुत सी बातों पर प्रकाश पड़ता है। अतः नीचे हम यह समझने की चेष्टा करेंगे कि बुद्धि के स्वरूप के अन्तर्गत कौन-कौन सी बातें ली जा सकती हैं, अर्थात् किन-किन बातों से बुद्धि की पहचान की जा सकती है।

बुद्धि के विषय में मतभेद[1]

बाल अध्ययन में बुद्धि को एक महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है, क्योंकि बुद्धि व्यक्तित्व का एक बहुत ही महत्वपूर्ण अंग है। यदि बुद्धि व्यक्तित्व का महत्वपूर्ण अंग है तो हमारे सामने दो प्रश्न उठते हैं :—

१—क्या बुद्धि वह आन्तरिक शक्ति है जो हमारे व्यवहार को संचालित करती रहती है ? अथवा,

२—क्या बुद्धि व्यक्ति का वह गुण है जिससे वह अपने को विभिन्न नये वातावरण में समय-समय पर व्यवस्थित करता रहता है ?

उपर्युक्त दो प्रश्नों के अतिरिक्त हमारे सामने अधोलिखित प्रश्न भी उठते हैं—

१—क्या बुद्धि वंशानुक्रमागत होती है ? अथवा,

२—क्या बुद्धि का स्वरूप और विकास वातावरण के प्रकार पर निर्भर करता है ?

वस्तुतः उपर्युक्त प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर देना अभी तक सम्भव नहीं हो सका है। नीचे हम उन बातों का उल्लेख करेंगे जिनका उपर्युक्त प्रश्नों के उत्तर से सम्बन्ध है।

व्यवहार का आधार

जो कुछ व्यक्ति कर पाता है उसके आधार पर उसकी बुद्धि को समझने की वर्तमान मनोवैज्ञानिक प्रगति है। ह्विटमर[2] का कहना है कि "बुद्धि परीक्षा के फलस्वरूप हमें कोई ऐसी शक्ति का अस्तित्व नहीं मिलता जिसे जीवन की साधारण क्रियाशीलता से अलग समझा जाय। अब तक किसी ऐसे साधन का निर्माण नहीं किया जा सका है जिससे बुद्धि को ठीक-ठीक प्रत्यक्षतः मापा जा सके, और जान पड़ता है कि ऐसा कदाचित् कभी सम्भव भी न होगा। यह कहना अधिक ठीक है कि वह बुद्धिमानी से काम करता है, परन्तु यह कहना कि उसके पास बुद्धि है उतना ठीक नहीं

---

1. Controversies Regarding Intelligence.

2. *Whitmer, C. A.*, "Has man Measured his Intelligence ?" University of Pittsburgh Quarterly, November 9, 1941. Pittsburgh.

जान पड़ता। वस्तुतः व्यवहार के आधार पर ही कोई व्यक्ति अधिक बुद्धिमान अथवा मूर्ख समझा जाता है।"

मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि बुद्धि-परीक्षाओं के आधार पर व्यक्ति की भावी शिक्षा सम्बन्धी-योग्यता का बहुत अच्छा अनुमान किया जा सकता है। ऐसा सम्भव इसलिए है क्योंकि बुद्धि-परीक्षा के अधिकांश प्रश्नों का सम्बन्ध भाषा, गणित तथा अन्य ऐसे विषयों से रहता है जिन्हें बालक को स्कूल में पढ़ना होता है। स्टॉडर्ड[1] का कहना है कि बुद्धि-परीक्षा से "बुद्धि का जो अर्थ निकलता है वह शिक्षा-सम्बन्धी व्यक्ति के झुकाव की ओर ही संकेत करता है।" इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि बुद्धि का तात्पर्य शिक्षा से अधिक से अधिक लाभ उठाने की योग्यता से है और बुद्धि-परीक्षा से इस योग्यता का अनुमान किया जाता है। परन्तु यह ध्यान रखना है कि बुद्धि-परीक्षा के लिए बनाये हुए प्रश्न साधारणतः उन बातों की ओर संकेत नहीं करते जिन पर जीवन में आवश्यक सामाजिक व्यवस्थापन निर्भर करता है अथवा जिनके विषय में समय-समय पर महत्वपूर्ण और उपयुक्त निर्णय देने के लिए व्यक्ति बाध्य होता है। जिस प्रकार आजकल बुद्धि की परीक्षा ली जाती है उससे बालक के केवल कुछ सीमित व्यवहार पर ही प्रकाश पड़ता है। इससे बालक के नैतिक प्रवृत्ति, सामाजिक व्यवहार-सम्बन्धी गुण[2] तथा व्यक्तित्व के गुणों की पहचान करना कठिन जान पड़ता है।

बुद्धि-परीक्षा की अपर्याप्तता

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बुद्धि से केवल सीखने की योग्यता का ही तात्पर्य नहीं समझना चाहिए। मनोवैज्ञानिकों का बहुमत भी इस बात से सहमत है, और बुद्धि-परीक्षा के प्रचार से यह बात भी मानी जाती है कि बुद्धि का सम्बन्ध अमूर्त वस्तुओं के सम्बन्ध में चिन्तन करने की योग्यता से भी है। टरमन[3] का कहना है कि जीवन की नई समस्याओं और अवस्थाओं के अनुसार आवश्यक चिन्तन कर लेने की व्यक्ति की योग्यता से उसकी बुद्धि का संकेत मिलता है। बुद्धि के स्वरूप का यह दृष्टिकोण अपने अन्तर्गत उन सब बातों

बुद्धि व्यवस्थापन की योग्यता

1. *Stoddard, G. D.*, "On the Meaning of Intelligence", Psychological Review, 48, pp. 250-260, 1941.

2. Social Traits.

3. *Terman, L. M.*, In the Symposium "Intelligence and Its Measurement", *Journal of Educational Psychology*, 12 : 123-147, 195-213, 1921.

को भी ले लेता है जिनका सम्बन्ध स्कूली शिक्षा से नहीं है । इनमें यान्त्रिक[1], कलात्मक[2] तथा सामाजिक गुण-सम्बन्धी बातें आ जाती हैं। इस दृष्टिकोण का मेल आधुनिक शिक्षा की उस प्रगति से भी दिखलाई पड़ता है जो पुस्तकीय ज्ञान की अपेक्षा बालक के सामाजिक व्यवस्थापन तथा व्यक्तित्व के विकास पर कम ध्यान नहीं देती । इस दृष्टिकोण की ओर बिने[3] ने भी संकेत किया है। बिने के अनुसार बुद्धि के अन्तर्गत समझने[4], आविष्कार[5] करने, पथ-निर्देशन[6] करने तथा आलोचना[7] करने की योग्यता भी निहित है।

व्यक्ति तथा समाज के लिए प्राप्त वास्तविक फलों के आधार पर भी बुद्धि की योग्यता के अनुमान की चेष्टा की गई है। इसे प्रयोग-सिद्धात्मक[8] दृष्टिकोण कहा जा सकता है। पिन्टर[9] का कहना है कि हमें अपने मस्तिष्क से इस विचार को निकाल देना चाहिए कि बुद्धि की कोई एक विशेष आन्तरिक शक्ति होती है। बुद्धि को 'विशिष्ट परिस्थितियों में उपयुक्त प्रतिक्रियाओं को दिखलाने की योग्यता समझना चाहिए। थॉर्नडाइक ने बुद्धि के तीन पक्ष की चर्चा की है :—१. ऊँचाई,[10] २. चौड़ाई,[11] और ३. गति[12]। १–ऊँचाई का तात्पर्य कठिन कार्य को करने की योग्यता के परिमाण से है। २–चौड़ाई का तात्पर्य एक निश्चित अवधि में समान कठिनाई वाले कार्यों को करने की संख्या से है। ३–गति का तात्पर्य दिखलाई जाने वाली प्रतिक्रियाओं की शीघ्रता से है। थार्नडाइक के इस सिद्धान्त के अनुसार बुद्धि-परीक्षा के लिए विभिन्न प्रश्नावलियों की रचना की गई है।

प्रयोग सिद्धात्मक दृष्टिकोण

बुद्धि के उपर्युक्त तीन दृष्टिकोणों के प्रधान क्रियात्मक और तार्किक गुणों के आधार पर स्टाडर्ड ने बुद्धि को ऐसे कार्यों को करने की योग्यता को माना है जिनमें कठिनाई, विषमता, अमूर्तता, कम से कम समय में किसी निर्दिष्ट उद्देश्य की ओर नियोजन, सामाजिक मूल्य, मौलिकता, शक्तियों का केन्द्रीकरण और संवेगात्मक प्रभावों को अवरुद्ध करने का गुण हो। कहने का अर्थ यह है कि यदि व्यक्ति में इन विभिन्न गुणों सम्बन्धी योग्यता होगी तो उसे अच्छी बुद्धि वाला कहा जा सकता है।

स्टाडर्ड का मत

1. Mechanical. 2. Artistic. 3. Alfred Binet (father of Intelligence (Testing). 4. Comprehension. 5. Invention. 6. Direction. 7. Criticism. 8. Empirical Conception.

9. *Pinter*, R., "An Empirical View of Intelligence", Journal of Educational Psychology, 17, pp. 608-616, 1926.

10. Altitude. 11. Breadth. 12. Speed.

बुद्धि की उपर्युक्त परिभाषाओं से बुद्धि के कार्य का जितना आभास मिलता है उतना उसके स्वरूप का नहीं। बुद्धि के स्वरूप के विषय में अन्वेषण के फलस्वरूप तीन मत का प्रतिपादन किया गया है। नीचे इन्हीं मतों की ओर संक्षेप में संकेत किया जा रहा है।

स्पीयरमैन सिद्धान्त[1]

सामान्य और विशिष्ट योग्यता

स्पीयरमैन[2] के अनुसार बुद्धि का तात्पर्य एक, सामान्य योग्यता[3] तथा कई विशिष्ट योग्यताओं[4] से है। व्यक्ति में सामान्य योग्यता जितनी ही अधिक होती है वह उतना ही बुद्धिमान होता है। सामान्य योग्यता के अतिरिक्त व्यक्ति में विशिष्ट योग्यता या योग्यतायें होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति में कुछ न कुछ सामान्य तथा विशिष्ट योग्यतायें होती हैं। अपनी विशिष्ट योग्यता के अनुसार कोई संगीत की ओर झुक सकता है और कोई शिल्पकला की ओर। स्पीयरमैन सामान्य योग्यता (अथवा जी फ़ैक्टर[5]) को ही बुद्धि की संज्ञा देता है। उसके अनुसार सामान्य योग्यता व्यक्ति को हर समय सहायता देती हैं, परन्तु विशिष्ट योग्यता केवल अपनी ही परिधि में व्यक्ति को सहायक होती है। सामान्य योग्यता के सहारे व्यक्ति किसी परिस्थिति-सम्बन्धी विविध वस्तुओं अथवा विचारों के परस्पर-सम्बन्ध को समझता है। समस्या के सुलझाव में व्यक्ति अपनी सामान्य और विशिष्ट योग्यता दोनों से सहायता प्राप्त करता है। सामान्य योग्यता हर परिस्थिति में उसकी सहायता करती है, परन्तु विशिष्ट योग्यता केवल अपनी विशिष्ट परिधि के अन्तर्गत ही। अधिक सामान्य योग्यता के होने से व्यक्ति अधिकांश परिस्थितियों में अच्छा करता है। बहुत सम्भव है कि सामान्य योग्यता के अच्छी न होते हुये भी व्यक्ति अपनी विशिष्ट योग्यता के कारण अपने विशिष्ट क्षेत्र में कौशल दिखलाये, परन्तु यदि उसके पास सामान्य योग्यता अधिक होती तो अपने विशिष्ट क्षेत्र में वह और अधिक कौशल दिखला पाता।

थॉर्नडाइक का सिद्धान्त

थॉर्नडाइक के अनुसार बुद्धि तीन प्रकार की होती है:—यान्त्रिक[6], भाववाचक[7]

---

1. Spearman Two Factor Theory.

2. *Spearman, C.*, The Nature of Intelligencet and the Principles of Cognition," Macmillan, New York, 1923.

3. General Ability. 4. Specific Abilities. 5. G. Factor. 6. Mechanical. 7. Abstract.

और सामाजिक[1]। थॉर्नडाइक के अनुसार बुद्धि में केवल सामान्य योग्यता और विशिष्ट योग्यताओं का ही सन्निवेश नहीं होता, वरन् उसमें कई प्रकार की शक्तियाँ निहित होती हैं :—जैसे, ध्यान, धारणा-शक्ति, स्मृति, पहचान, संगठन-शक्ति, सिद्धान्तात्मक तथा परिणामात्मक तर्क, सीखने तथा ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति बुद्धि के आवश्यक अंश हैं। थॉर्नडाइक के अनुसार बौद्धिक कार्य एक जटिल स्नायुमण्डल द्वारा नियन्त्रित होता है और यह स्नायुमण्डल इतने विभिन्न रूप में कार्य करता है कि उसे एक समान्य योग्यता और कई विशिष्ट योग्यताओं का योग नहीं माना जा सकता।

कई प्रकार की शक्तियों का सन्निवेश

थर्स्टन का सिद्धान्त[2]

थर्स्टन के अनुसार बुद्धि नौ प्राथमिक योग्यताओं[3] से बनी है : जैसे १—दृष्टि-सम्बन्धी योग्यता[4], २—प्रत्यक्षीकरण की योग्यता[5], ३—संख्या-सम्बन्धी[6] योग्यता, ४—तार्किक योग्यता[7], ५—शाब्दिक योग्यता[8] ६—स्मरण शक्ति[9], ७—परिणाम निकालने की योग्यता[10], ८—सैद्धान्तिक तर्क करने की योग्यता,[11], तथा ९—किसी समस्या को सीमाबद्ध कर सकने की योग्यता[12]। थर्स्टन के अनुसार किसी कार्य को करने में व्यक्ति इन सभी शक्तियों का मिश्रित उपयोग करता है। परन्तु कुछ प्राथमिक योग्यतायें किसी विशिष्ट क्षेत्र में अन्य योग्यताओं से अधिक सहायक होती हैं। जैसे इञ्जीनियर बनने के लिए संख्या, दृष्टि तथा परिणात्मक तर्क करने की योग्यतायें अधिक उपयोगी हो सकती हैं; परन्तु संगीत सीखने में इनका उतना उपयोग नहीं हो सकता। थर्स्टन के अनुसार इन नौ शक्तियों के आधार पर व्यक्ति का पथ-निर्देशन एक ही बुद्धि-परीक्षा के आधार की अपेक्षा अधिक लाभप्रद होगा।

नौ प्राथमिक योग्यता में

मानसिक विकास का क्रम[13]

बुद्धि-सम्बन्धी सैद्धान्तिक विचार-विनिमय से बालकों के मानसिक विकास सम्बन्धी

1. Social.

2. *Thurstone's* Multiple-Factor Theory of Intelligence in his 'Primary Mental Abilities', Chicago, Univ. of Chicago Press, 1938.

3. Primary Mental Abilities. 4. Visual or Spatial Ability. 5. Perceptual Ability. 6. Numerical Ability. 7. Logical or Verbal Relations Ability. 8. Fluency in dealing with words. 9. Memory. 10. Inductive Ability. 11. Deductive Ability. 12. Ability to Restrict the solution of a Problem. 13. The Process of Mental Development.

हमारे ज्ञान में वृद्धि नहीं हो सकती। यह हमारे अनुभव की बात है कि विकसित होता हुआ बालक अपने प्राकृतिक तथा सामाजिक वातावरण के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की व्यवस्थापन विषयक प्रतिक्रियायें दिखलाता है। उसके मानसिक विकास का आभास हमें उसकी विभिन्न क्रियाशीलताओं, शाब्दिक कौशल की प्राप्ति, निर्णय करने की शक्ति में सुधार और सामाजिक आवश्यकताओं के सम्बन्ध में उपयुक्त व्यवस्थापन करने की योग्यता से चल सकता है। बालकों की मानसिक विकास की गति में वैयक्तिक भेद पाया जाता है, परन्तु उसमें सुधार को अच्छी प्रकार समझा और कुछ हद तक उसे नापा भी जा सकता है। परन्तु बालकों के मानसिक विकास के स्वरूप के बारे में मनोवैज्ञानिकों में एकमत नहीं है; तथापि नीचे इस विकास के फलस्वरूप की ओर संकेत किया जा रहा है।

बुद्धि के विकास की वक्ररेखाओं[1] से ज्ञात बातें

यह मानी हुई बात है कि बुद्धि-परीक्षा से प्राप्त गुणांकों[2] के ग्राफ़[3] से बालक के मानसिक विकास का स्वरूप ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता, परन्तु उसकी सहायता से कुछ बातें तो अवश्य ही मालूम होती हैं। तीन वर्ष की उम्र के शिशुओं के मानसिक विकास का बेले[4] ने अध्ययन किया। उसने अपने अध्ययन में तीन वर्ष के ३१ लड़कों और ३१ लड़कियों को लिया। वक्ररेखा के आधार पर बेले ने देखा कि प्रथम नवें और दसवें वर्ष तक इन शिशुओं के मानसिक विकास की गति बड़ी द्रुत थी; इसके बाद गति कुछ धीमी पड़ गई और यह धीमापन तीन वर्ष तक बना रहा। बेले का कथन है कि कुछ प्रथम महीनों में देखे जाने वाले व्यवहार-विकास से शिशुओं के बुद्धि-विकास का अनुमान नहीं किया जा सकता। वक्ररेखाओं के अध्ययन से पता चलता है कि मानसिक विकास की गति सदा समान नहीं रहती, अर्थात् बहुत सम्भव है कि ७वें और ८वें वर्ष के बीच में हुआ मानसिक विकास चौथे और पांचवें वर्ष के बीच में हुए विकास से अधिक या कम हो। मानसिक विकास की गति और प्रकार दोनों में वैयक्तिक भेद पाया जाता है। परन्तु यह कहा जा सकता है कि शैशव में मानसिक विकास की गति बड़ी तीव्र होती है। प्राइमरी स्कूल की अवस्था में गति प्रायः एकरस रहती है, परन्तु पहले से अवश्य कम होती है। तरुणावस्था[5] के आने पर गति बचपन से कुछ तीव्र हो जाती है।

गति सदा समान नहीं

---

1. Things Known from the Growth Curves of Intelligence.
2. Scores. 3. Graph.
4. *Bayley, N.*, Mental Growth During the First Three Years, *Genetic Psychology*, Monographs, Vol. 14, No. 1, pp. 1-92, 1933.
5. Puberty—near about 12, 13 or 14.

विकास का अन्त[1]

सीमा विषयक एकमत नहीं

मानसिक विकास का अन्त कब होता है ? इस सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों में बड़ा मतभेद है । कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार यह विकास प्रथम १४ से १६ वर्ष तक चलता रहता है । इस धारणा के आधार पर किशोर[2] अपनी बुद्धि में (परन्तु अनुभव में नहीं) प्रौढ़ व्यक्तियों की तरह ही प्रौढ़ होंगे । टरमैन के अनुसार १५ वें वर्ष और स्पीयरमैन के अनुसार १४ वें या १६ वें वर्ष में बुद्धि अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँच जाती है । जोन्स और कॉनरैड के अनुसार १६ वें वर्ष में इसके विकास का अन्त हो जाता है । फ्रीमैन के अनुसार ८ वें वर्ष से १५ वें या १६ वें वर्ष के अन्तर्गत मानसिक विकास की गति प्रायः समान रूप से चलती रहती है; और बुद्धि २० वें वर्ष या इसके ऊपर तक भी बढ़ती रहती है । माइल्स के अनुसार १८ वें वर्ष तक बुद्धि बढ़ती रहती है और वृद्धावस्था में बुद्धि का ह्रास बहुत ही कम होता है । थॉर्नडाइक के अनुसार बुद्धि का विकास १८ वें वर्ष तक होता है और इसके बाद २९ वें वर्ष तक भी कुछ न कुछ चलता रहता है ।

सामान्य बालकों की अपेक्षा उत्कृष्ट कोटि के बालकों का मानसिक विकास पूर्व कैशोर[3] में द्रुततर गति से चलता है, परन्तु इसके बाद नहीं । विकास की वक्र-रेखा के आधार पर अधिकांश मनोवैज्ञानिकों का यह मत है कि बुद्धिलब्धि[4] प्रायः समान रहती है ।

मानसिक विकास की व्याख्यायें

वंशानुक्रमीय[5] गुणों के अपने-अपने विश्वास के आधार पर मानसिक विकास की व्याख्या में विभिन्नता पाई जायगी । जिनका यह विश्वास है कि बुद्धि वंशानुक्रमागत होती है वे बुद्धि के विकास को नाड़ी मण्डल के विकास से सम्बन्धित समझेंगे । कोटिस और जेसेल दोनों इस कथन की पुष्टि करते हैं । इससे यह संकेत मिलता है कि मानसिक विकास पर स्कूली शिक्षा तथा अन्य लाभप्रद अनुभवों का प्रभाव नहीं पड़ता । पर इससे यह निष्कर्ष निकालना ठीक न होगा कि वातावरण का बुद्धि के विकास पर प्रभाव पड़ता ही नहीं । प्रत्युत इस सम्भावना पर विश्वास किया जा सकता है कि

---

1. The End of Growth. 2. किशोरावस्था १२ वें या १३ वें वर्ष से प्रारम्भ होकर २१ वें या २२ वें वर्ष तक अनुमानतः मानी जाती है। 3. Preadolescent period. 4. I. Q. is the ratio between the Mental and Chronological age. To get the whole number this ratio is multiplied by 100 i.e. I. Q. = $\frac{M.A.}{C.A.} \times 100$. 5. Hereditary Traits.

उपयुक्त परिस्थितियों और वातावरण के आयोजन से बुद्धि के विकास में योग दिया जा सकता है; अर्थात् बुद्धि-सम्बन्धी अप्रौढ़ता का कारण शिक्षा-सम्बन्धी अवसरों का अभाव भी हो सकता है। यदि नाड़ी-मण्डल, ग्रन्थि तथा अन्य शारीरिक बनावट-सम्बन्धी दोष न हुये तो सामाजिक और शिक्षा-सम्बन्धी अवसरों के अनुसार मानसिक विकास चलता रहेगा। इसका यह तात्पर्य नहीं कि बालक की बौद्धिक सम्भावनाओं पर प्रकृति कोई सीमा नहीं रखती, अथवा कोई ऐसा मानसिक दोष नहीं है जिसे समुचित अवसर के आयोजन से दूर नहीं किया जा सकता।

बुद्धि का माप[1]

यह साधारण ज्ञान की बात है कि बालकों की बुद्धि में प्रत्येक अवस्था पर वैयक्तिक वैभिन्य पाया जाता है। बुद्धि-परीक्षा की सहायता से इस वैभिन्य को मापने की चेष्टा कर यह समझने का प्रयास किया जाता है कि जिन्हें कुछ स्कूली-शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिला है उनकी बुद्धि का विस्तार और प्रकार क्या होता है। बुद्धि-परीक्षा की विधियों की रचना से बाल-अध्ययन में बड़ी सहायता मिली है, क्योंकि उनसे बालक के मानसिक विकास पर कुछ प्रकाश पड़ता है। बुद्धि-परीक्षा-सम्बन्धी कुछ बातों पर ही नीचे विचार किया जायगा।

बालक की बुद्धि-परीक्षा में समस्यायें

बालक की बुद्धि-परीक्षा के क्रम में कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है। उनमें से कुछ ये हैं :—

१—बुद्धि के स्वरूप का निर्धारण।

२—बुद्धि के विकास में वंशानुक्रम तथा वातावरण के स्थान का पता लगाना।

३—शिशुओं के लिए निर्धारित बुद्धि-परीक्षा-सम्बन्धी उपकरणों की आवश्यकता।

४—बुद्धि-परीक्षा की प्रश्नावलियों की विश्वस्तता[2] का पता लगाना।

५—बुद्धि परीक्षा की प्रश्नावलियों की यथार्थता के निर्धारण के लिये कुछ आधारों का पता लगाना।

६—समान बुद्धि-लब्धि वाले बालकों के असमान मानसिक विकास-सम्बन्धी समस्याओं का समाधान खोजना।

नीचे इनमें से कुछ समस्याओं पर संक्षेप में प्रकाश डाला जायगा—

बुद्धि-परीक्षा में क्या मापा जाता है ?

इस प्रश्न का उत्तर गत पृष्ठों में कुछ हद तक दिया जा चुका है। बुद्धि-

1. The measurement of Intelligence. 2. Unreliability.

परीक्षा में अव्यवस्थापन-सम्बन्धी व्यवहारों को मापा जाता है जिनका सम्बन्ध प्रधानतः स्कूली शिक्षा के उपकरणों से रहता है। इससे प्रवृत्ति, झुकाव, आकांक्षा, चरित्र तथा व्यक्तित्व के गुणों को नहीं मापा जा सकता। वस्तुतः यह कहा जा सकता है कि बुद्धि-परीक्षा से यह जानने का प्रयत्न किया जाता है कि अपने विकास के क्रम में बालक किस हद तक अमूर्त ज्ञान[1] प्राप्त कर सका है।

बुद्धि-माप में वंशानुक्रम और वातावरण

बुद्धि-माप में यह जानने का प्रयास किया जाता है कि बालक में किसी निश्चित कार्य के करने की कितनी योग्यता है। यह जानना असम्भव है कि बालक किस हद तक सीखने की योग्यता संक्रमित[2] करता है। परन्तु इतना देखा गया है कि जिन बालकों में कोई संक्रमित दोष नहीं होता उनमें अपने में परिवर्तन लाने की पर्याप्त सामर्थ्य होती है। तथापि, जैसा ऊपर कहा गया है, यह मानना ही होगा कि प्रकृति विकास को कुछ हद तक सीमाबद्ध कर ही देती है।

शिशुओं के लिये निर्धारित प्रश्नावलियों की अविश्वस्तता और यथार्थता

शिशुओं की बुद्धि-परीक्षा के लिये जो प्रश्नावलियाँ निर्धारित की गई हैं उन पर अधिक निर्भर नहीं रहा जा सकता। उदाहरणार्थ 'ब्यूहलर' शिशु-परीक्षा की प्रश्नावलियों के सम्बन्ध में हेरिङ्ग[3] नामक अन्वेषक का कथन है कि कई महीनों बाद उनके द्वारा पुनर्परीक्षा का फल पहले के सदृश् नहीं मिलता। अन्य प्रश्नावलियों के सम्बन्ध में भी यही बात देखी गई है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि शिशुओं के लिये निर्मित प्रश्नावलियों की सीमा उनकी ऐसी प्रतिक्रियाओं के अन्तर्गत होती है जो हर परिस्थिति में समान नहीं देखी जा सकतीं। प्रश्नावलियों के यथार्थता के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। यदि कोई प्रश्नावली वही गुण मापती है जिसके मापने के लिये वह बनाई गई है तो यह कहा जाता है कि उस प्रश्नावली में यथार्थता है। विश्वस्तता की अपेक्षा शिशु की बुद्धि-परीक्षा के लिये निर्मित प्रश्नावलियों में यथार्थता अधिक पाई जाती है।

साधारणतः यह माना जाता है कि समान बुद्धि लब्धि वाले बालक समान मानसिक योग्यता के होते हैं। परन्तु बात ऐसी नहीं है। मनोवैज्ञानिकों ने बालकों की विविध परीक्षा के आधार पर इसे सिद्ध कर दिया है। यह देखा गया है कि

1. Abstract knowledge. 2. Inherit.

3. *Herring Amanda* : "An Experimental Study of the Reliability of the Buhler Baby Tests", J. of Exp. Educ. 6, pp. 147-160, 1937.

समान बुद्धि-लब्धि का अर्थ समान मानसिक योग्यता नहीं

समान बुद्धि-लब्धि के बालकों में स्मृति, तर्क तथा भाषा की शक्तियों में बड़ा भेद हो सकता है। इससे यह स्पष्ट है कि समान बुद्धि-लब्धि वाले बालकों के मानसिक विकास में वैभिन्य पाया जा सकता है।

शैशव में मानसिक विकास की रेखा

बुद्धि-परीक्षा की प्रश्नावलियों तथा उनके फलों की विश्लेषण से व्यक्ति के मानसिक विकास के स्वरूप का कुछ-कुछ अनुमान किया जा सकता है। प्रथम दो महीने की अवस्था में शिशु का मानसिक विकास इतना हो जाना चाहिये कि सिर से लगभग एक फुट की दूरी पर चमकती हुई वस्तु की ओर उसका ध्यान चला जाय। लगभग डेढ़ फीट की दूरी पर यदि कोई झुनझुना उसके कान की ओर बजाया जाता है तो उसे मानो खोजने के लिये वह अपना सिर इधर-उधर हिलाता है। चौथे महीने में किसी नई स्थिति में वह पहले से अधिक स्फूर्ति से देख पाता है और हाथ में खिलौना लेने पर उसे कुछ देर तक ध्यानपूर्वक देखता भी है। छठे महीने पर किसी उद्दीपक[2] की आवृत्ति करने पर उसकी प्रतिक्रिया के लिए वह कुछ पहले से ही सचेष्ट दिखलाई पड़ता है। इस समय साधारण रूप में वह मुस्कराता भी है। आठवें महीने पर खिलौने के छिन जाने से उसे पुनः प्राप्त करने के लिये वह रोने लगता है। कई खिलौनों में से अपनी रुचि अनुसार एक खिलौने को चुनने की भी प्रतिक्रिया लगभग आठवें महीने में शिशु दिखलाने में समर्थ होता है। दसवें महीने पर वह किसी ढँकी हुई वस्तु का ढँकना उतार सकता है और घण्टी बजाने का अनुकरण भी करता है। लेखक का १० महीने का शिशु टेबुल पर रखी घण्टी को प्रायः बजाया करता था। इसमें उसकी अनुकरण प्रवृत्ति अवश्य ही सहायक रही होगी। एक वर्ष का शिशु दर्पण में अपनी सूरत ध्यान से देखने लगता है। शिशु के मानसिक विकास-सम्बन्धी ये बातें बुद्धि-परीक्षा की प्रश्नावलियों के विश्लेषण से मालूम होती हैं। इसी प्रकार की अन्य बहुत सी बातें भी मालूम की जा सकती हैं।

बाल्यावस्था में मानसिक विकास

अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बालकों के लिए निर्धारित बुद्धि-परीक्षा की प्रश्नावलियों से उनके मानसिक विकास के विषय में शिशुओं की अपेक्षा अधिक बातें मालूम होती हैं। इस दृष्टि से उनके लिये निर्मित प्रश्नावलियों में अधिक यथार्थता होती है। प्रायः यह देखा जाता है कि तीन-चार वर्ष के बाद बच्चों की क्रियाओं में अधिक बुद्धि तथा भाषा-शक्ति का समावेश दिखलाई पड़ता है। बुद्धि-परीक्षा की प्रश्नावलियों के अध्ययन से बच्चों के मानसिक विकास के बारे में जब

2. Stimulus.

पड़ता है कि तीन वर्ष की अवस्था में वे अपना नाम बता देते हैं। वे खींची हुई वृत्त को देखकर दूसरी वृत्त खींचने का प्रयास कर सकते हैं और तीन अङ्कों की संख्याओं को दोहरा सकते हैं। चार वर्ष की अवस्था में बच्चे किसी मनुष्य की खींची हुई तस्वीर में गायब भाग को बतला सकते हैं। वे बारह छोटे-छोटे शब्दों के वाक्यों को दोहरा सकते हैं। वे 'दो' या 'तीन' संख्याओं का तात्पर्य भी समझते हैं। पाँच वर्ष की अवस्था में वे गेंद तथा टोपी ऐसे साधारण शब्दों की परिभाषा कर सकते हैं। वे दस शब्दों के वाक्यों को कण्ठस्थ कर सकते हैं। वे चार विभिन्न वस्तुओं को एक, दो, तीन, चार के क्रम से कहते हुये गिन सकते हैं। छः वर्ष की अवस्था में वे तेरह विभिन्न वस्तुओं को गिन सकते हैं। वे पेन्सिल से किसी साधारण भूलभुलैया का ग्रॉक्स कर सकते हैं। सात वर्ष की अवस्था में वे किसी चतुर्भुज की नकल कर सकते हैं। वे कोयला और लकड़ी, दूध और घी ऐसी वस्तुओं की समानता की ओर संकेत कर सकते हैं। वे पाँच अङ्कों की संख्याओं को गिन सकते हैं। आठ वर्ष की अवस्था में वे हवाई जहाज और पतंग, गाय व भैंस आदि की समानता और विभिन्नता की ओर संकेत कर सकते हैं। वे सोलह शब्दों वाले वाक्यों को दोहरा सकते हैं। वे रेलगाड़ी तथा मोटरकार के खड़े होने में अन्तर को समझ सकते हैं। नव वर्ष की अवस्था में वे तुकान्त शब्दों को खोज सकते हैं और चार अङ्कों की संख्याओं को उलटे क्रम में दोहरा सकते हैं। दस वर्ष की अवस्था में वे चित्रों में पाई जाने वाली गलत बातों की ओर संकेत कर सकते हैं। वे छः अङ्कों की संख्याओं को दोहरा सकते हैं। वे छोटी-छोटी कहानियों को अपनी स्मरण-शक्ति से कह सकते हैं। ग्यारह वर्ष की अवस्था में वे बीस शब्दों वाले वाक्यों को दोहरा सकते हैं। इस समय वे 'सम्बन्ध' 'तुलना' तथा 'बदला' आदि जैसे कठिन शब्दों की व्याख्या कर सकते हैं। वे 'साँप, गाय, गौरैया; तथा गुलाब, आलू और पेड़' जैसी वस्तुओं की समानता की ओर संकेत कर सकते हैं। बारह वर्ष की अवस्था में वाक्य में पाई जाने वाली गलत बातों को वे समझ सकते हैं। वे किसी साधारण चित्र की व्याख्या कर सकते हैं और पाँच अङ्कों की संख्याओं को उलटे क्रम में दोहरा सकते हैं।

किशोरों के लिए निर्धारित प्रश्नावलियाँ शिशुओं और बालकों के लिये निर्मित प्रश्नावलियों से और कठिन होती हैं। उनमें तर्क-शक्ति और भाषा और स्मरण-शक्ति का अत्यधिक समावेश रहता है। उनमें कठिन शब्दों की व्याख्या, कहानियों से उपदेश और कथन में से असंगत बातें निकालनी होती हैं। ऊटपटाँग लिखे हुये वाक्यों को उन्हें व्यवस्थित करने को कहा जाता है और अङ्कगणित की समस्याओं को उन्हें सुलझाना होता है। बालक ज्यों-ज्यों बड़ा होता है उससे कठिनतर प्रश्नों के ठीक उत्तर की अपेक्षा की जाती है।

बुद्धि-परीक्षा की उपयोगिता[1]

यदि बुद्धि-परीक्षा की सीमाओं को अच्छी प्रकार समझ कर उसे उपयोग करने की चेष्टा की जाय तो बाल अध्ययन के विद्यार्थी के हाथ में यह बड़ा भारी साधन है, क्योंकि इसके सहारे बालक के विषय में बहुत सी बातें मालूम की जा सकती हैं। हमें यह याद रखना है कि बुद्धि-परीक्षा वाली प्रश्नावलियाँ एक साधन मात्र हैं और उनसे प्राप्त हुआ फल केवल किसी सम्भावना की ओर थोड़ा संकेत करता है और किसी-किसी बालक के सम्बन्ध में उससे प्राप्त फल गलत भी हो सकता है। अर्थात् कहने का अर्थ यह है कि केवल उसके फल पर ही निर्भर रहकर बालक के विषय में किसी निर्णय पर पहुँच जाना उसके प्रति अन्याय हो सकता है। तथापि इतना तो मानना ही पड़ेगा कि बालक को समझने के क्रम में वे अब तक बड़े सहायक सिद्ध हुये हैं और उनके द्वारा बतलाई हुई सम्भावना पर किये हुये कार्य से कुछ सन्तोषप्रद फल अवश्य प्राप्त हुआ है। केवल निरीक्षण मात्र से ही बालक के विषय में सारी बातें नहीं मालूम की जा सकतीं। बालक की शिक्षा और जीविका-निर्देशन[2] के लिए उसकी बुद्धि-परीक्षा आवश्यक है। बुद्धि-परीक्षा की उपयोगिता की ओर बहुत से लेखकों ने संकेत किया है। उनके कथन का सारांश निम्नलिखित रूप में दिया जा सकता है।

१—मानसिक विकास का विश्लेषण।
२—शिक्षा-सम्बन्धी वातावरण के अभाव का अनुमान।
३—योग्यता के अनुसार बालकों का वर्गीकरण।
४—शिक्षा-निर्देशन।
५—जीविका-निर्देशन।
६—समस्या-बालकों के मस्तिष्क का निदान।
७—शिक्षा के फल का नाप।
८—अपराधी बालकों के स्वरूप का पता लगाना।
९—बौद्धिक स्तर का पता लगाना।

कुछ शिक्षा-समस्यायें

उपर्युक्त विवेचन से इस निर्णय पर पहुँचना ठीक न होगा कि बुद्धि-परीक्षा के सहारे ही बालक की भावी सफलता का रास्ता एकदम स्पष्ट किया जा सकता है। वस्तुतः जीवन में सफलता के लिए धुन, अध्यवसाय, संवेगात्मक स्थिरता तथा सामाजिक बुद्धि आदि गुण बड़े ही आवश्यक हैं। अतः बालकों में इनके विकास के

1. Utility of Intelligence Tests. 2. Educational and Vocational Guidence.

लिए अभिभावकों और अध्यापकों को विशेष प्रयत्न करना है। बहुत ही कम ऐसे प्रौढ़ व्यक्ति होंगे जो यह कह सकते हैं कि वे किसी काम में अपनी सारी मानसिक शक्ति को लगाने में सफल होते हैं। बहुत से यह स्पष्टतः कह देंगे कि वे ध्यान केन्द्रित करने तथा स्पष्ट चिन्तन करने की कला को नहीं सीख सके। अतः माता-पिता और अध्यापकों को यह देखना है कि बालक अपने मानसिक विकास की चरम सीमा पर अवश्य पहुँच जाय। अतः शिक्षा-विशेषज्ञों का यह प्रयास रहता है कि वे एक ऐसी शिक्षा-व्यवस्था को जन्म दे सकें जिससे भावी नागरिक आज के नागरिकों से अधिक सुयोग्य और सफल हों। मनोविज्ञान की खोजों के आधार पर शिक्षा-क्षेत्र में बड़ी ही उन्नति हुई है और होती जा रही है। यह कहना कठिन है कि आदर्श शिक्षा का स्वरूप क्या है; परन्तु मानसिक विकास-सम्बन्धी विभिन्न नई-नई बातें जो हमें मनो वैज्ञानिक अन्वेषणों के फलस्वरूप मालूम होती हैं उनका बालक के घर में तथा स्कूली शिक्षा के सम्बन्ध में बड़ा महत्व है।

मानसिक विकास की चरम सीमा पर पहुँचना

सर्वप्रथम हमें यह याद रखना है कि मानसिक विकास का क्रम बड़े धीरे-धीरे स्वतः चलता है। अतः उसकी गति को बढ़ाने के लिये अनायास शीघ्रता करना बालक के लिये घातक हो सकता है। शैशव में माता-पिता का ध्यान मानसिक विकास की ओर न होकर बच्चे के स्वास्थ्य तथा शारीरिक विकास की ओर होना चाहिये। इस समय किसी प्रकार के मानसिक विकास की हठात् चेष्टा न करनी चाहिए। हाँ, यह सत्य है कि शिशु को विभिन्न अनुकूल वातावरण में रखना चाहिये जिससे उसकी मानसिक परिधि धीरे-धीरे बढ़ती रहे। यह ध्यान रहे कि उसे कभी अति उत्तेजित न किया जाय और उसमें किसी प्रकार का भय न घर कर ले। थोड़े ही दिनों में एक स्वस्थ शिशु 'भोजन,' 'सोना' तथा 'साधारण खेल' इत्यादि के लिये अच्छी प्रकार व्यवस्थित हो जाता है। धीरे-धीरे शिशु अपने वातावरण-सम्बन्धी विभिन्न बातों का तात्पर्य समझने लगता है।

विकास के लिए हठात् चेष्टा नहीं

दूसरे वर्ष में शिशु को कुछ उपयोगी बातें सिखलाने का प्रयास किया जा सकता है। शारीरिक नियन्त्रण के लिए उसे कुछ आदतें सिखलाई जा सकती हैं। उसे 'रंग'[1] और 'सूरत'[2] का ज्ञान देने के लिए विभिन्न प्रकार की वस्तुयें काम में लाई जा सकती हैं। यहाँ भी यह याद रखना है कि हठात् विकास की हमें चेष्टा नहीं करनी है। यदि सिखलाई जाने वाली क्रिया का शिशु के स्वाभाविक विकास से सम्बन्ध न हो तो उसे वह क्रिया कदापि नहीं सिखलानी चाहिए।

1. Colour. 2. Shape.

सीखने के लिए अवसर देना

नर्सरी स्कूलों की उपयोगिता को मानने में हमें संकोच नहीं करना चाहिए। इन स्कूलों में बच्चों को विभिन्न प्रकार के अनुभव दिये जाते हैं। जिन परिस्थितियों में उन्हें ये अनुभव दिये जाते हैं उन पर पूरा नियन्त्रण रक्खा जाता है। बच्चा कई शब्द और बहुत सी वस्तुओं के साथ अच्छी तरह खेलना सीख लेता है। वाल्श[1] के अनुसार नर्सरी स्कूल में बच्चा आत्म-निर्भरता, बातचीत करने की योग्यता, सहानुभूति, सहकारिता तथा वस्तुओं के साथ सुव्यवस्थित रूप में खेलना सीख लेता है। प्रारम्भ में ही अन्य बालकों के साथ मिलकर रहना सीख लेना विभिन्न प्रकार के सामाजिक गुण को सीखने के लिए अच्छी नींव है। जिन बच्चों को नर्सरी स्कूल में जाने का अवसर नहीं मिलता और जिन्हें बहुधा प्रौढ़ों के बीच में ही रहना होता है उनमें यह नींव कच्ची रह जाती है, और बाद में इसे मजबूत बनाने के लिए उन्हें बड़ा ही प्रयास करना होता है। हमें यह याद रखना है कि बच्चों को शिक्षा देने का सबसे उत्तम साधन उन्हें "सीखने के लिए विभिन्न अवसर" देना है; और नर्सरी स्कूल में ये अवसर पर्याप्त रूप में प्राप्त होते हैं। "सीखने के लिए विभिन्न अवसर" देने का तात्पर्य यह हुआ कि उनके विकास के लिए हमें हठात् प्रयत्न नहीं करना है।

वैयक्तिक वैभिन्य पर ध्यान

किसी भी शिक्षा-व्यवस्था में हमें वैयक्तिक वैभिन्य की आवश्यकताओं पर ध्यान देना बड़ा ही आवश्यक है। शिक्षा-क्षेत्र में "सभी धान बाइस पसेरी" वाली कहावत चरितार्थ करना बालक के विकास के लिए बड़ा ही घातक होगा। वस्तुतः हम किसी 'सामान्य व्यक्ति'[2] 'अथवा सामान्य बालक[3]' की कल्पना नहीं कर सकते। प्रत्येक व्यक्ति अथवा बालक की आवश्यकता दूसरे से भिन्न हुआ करती है, क्योंकि प्रत्येक का शारीरिक, मानसिक और सामाजिक विकास दूसरे से भिन्न हुआ करता है। अतः यह आवश्यक है कि हम यथासम्भव प्रत्येक बालक के लिए उपयुक्त वातावरण के आयोजन का प्रयास करें।

शिक्षक पथ-प्रदर्शक

आज से लगभग बीस वर्ष पूर्व हमारे प्राइमरी स्कूलों में अधिकारवाद[4] का बोलबाला था। बच्चों को अध्यापकों के प्रत्येक संकेत पर नाचना पड़ता था और वे नहीं जानते थे कि अध्यापक के क्रोध के वे कब भाजन हो जायेंगे। परन्तु आज की स्थिति एकदम भिन्न है; यद्यपि आज के स्कूलों में भी बड़े-बड़े परिवर्तनों की आवश्यकता है।

---

1. *Walsh*, *M. E*, The Relation of Nursery School Training to the Development of Certain Personality Traits, *Child Development*, 2, pp. 72-73, 1931.

2. Average Man. 3. Average Child. 4. Authoritarianism.

अब यह सिद्धान्त सर्वमान्य हो गया है कि बालक का मानसिक विकास तथा रुचि ही स्कूली-शिक्षा का केन्द्र होगा। पाश्चात्य देशों में तो विभिन्न प्रकार की मानसिक परीक्षा से यह जानने का प्रयास किया जाता है कि बालक की शिक्षा का आयोजन उसकी योग्यतानुसार कैसे किया जाय। बालकों के वैयक्तिक वैभिन्य पर हमें अवश्य ध्यान देना है, परन्तु कहना न होगा कि इसका तात्पर्य यह नहीं कि उन्हें अन्य बालकों के संग में कुछ नहीं सिखलाया जा सकता है। वस्तुत: बहुत सी आवश्यक शक्तियाँ और गुण अन्य बालकों के साथ में ही बालक सीख सकता है। इसकी ओर ऊपर थोड़ा संकेत किया जा चुका है। बालकों में सामाजिकता, सहानुभूति तथा सहकारिता के गुण अन्य बालकों के साथ रहने पर ही विकसित हो सकते हैं। शिक्षा का उद्देश्य बालकों के अधिकतम मानसिक विकास के साथ-साथ सामाजिकता का पाठ सिखलाना भी होना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति अधिकारवाद के अनुसार कार्य करने से नहीं हो सकती; अर्थात् हमें बालकों के हठात् विकास की चेष्टा नहीं करनी है। सच्ची शिक्षा का स्वरूप तो पथ-प्रदर्शन में ही मिलता है। इस दृष्टिकोण से आधुनिक शिक्षक केवल पथ-प्रदर्शक मात्र है। बालक के भावी विकास का उत्तरदायित्व शिक्षक पर ही है; अर्थात् पथ-प्रदर्शक की हैसियत में शिक्षक का उत्तरदायित्व बहुत ही बढ़ जाता है।

६
संवेगात्मक विकास[1]

संवेग का स्वरूप[2]

संवेग की परिभाषा देना बड़ा ही कठिन है वस्तुतः व्याख्या देने से इसे समझना सरलतर है। प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि दुखी, प्रसन्न, भयभीत, क्रोधित तथा उत्तेजित होने में कैसे भावों का अनुभव किया जाता है। ऐसी अवस्थितियों को मनोवैज्ञानिकों ने संवेग की संज्ञा दी है। अध्यापकों, नेताओं तथा राजनीतिज्ञों के हाथ में संवेग बड़े ही प्रबल अस्त्र हैं। संवेगों को उत्तेजित करके ही वे बालकों तथा नागरिकों पर अपनी इच्छानुसार प्रभाव डालने का प्रयास करते हैं। संवेग के वश हो व्यक्ति दूसरे की अथवा अपनी हत्या कर डालता है, दूसरे पर वह क्रोधित हो जाता है, डर से भाग जाता है अथवा बेहोश हो जाता है, अथवा मुदित हो आनन्द-विभोर हो जाता है। संवेग से व्यक्ति को केवल गतिशील होने की प्रवृत्ति ही नहीं मिलती, वरन् कभी-कभी उसे दूसरे प्रकार की भी प्रवृत्ति मिलती है। शान्ति, सुख तथा प्यार आदि का अनुभव भी संवेगात्मक अनुभव के अन्दर ही गिना जाता है।

परिभाषा देना कठिन, समझना सरलतर

प्रत्येक व्यक्ति विभिन्न प्रकार की संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं का अनुभव करता है। इन प्रतिक्रियाओं का स्पष्टीकरण और व्याख्या करना मनोविज्ञान के सामने एक बड़ी भारी समस्या है। गत पचास वर्षों से मनोवैज्ञानिक यह समझने का प्रयास कर रहे हैं कि विभिन्न संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं के समय प्राणी में किस प्रकार के विभिन्न "आन्तरिक आवयविक परिवर्तन"[3] होते हैं। परन्तु अब तक इस कार्य में सफलता नहीं प्राप्त की जा सकी है। बाह्य शारीरिक लक्षणों से किसी संवेगात्मक अनुभूति-विशेष का अनुमान करना अभी तक कठिन सिद्ध हुआ है। किसी खिलाड़ी को खेलने

मनोविज्ञान की समस्या

1. Emotional Development. 2. Nature of Emotion. 3. Intra-organic or Physiological Changes.

के क्रम में देखने पर जान पड़ता है कि वह किसी उग्र संवेग की अनुभूति में है; यही बात किसी अभिनेता के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। परन्तु न तो खिलाड़ी और न अभिनेता ही किसी उग्र संवेग का उस समय अनुभव करता है।

विकासात्मक पद्धति द्वारा समस्या का समझना[1]

संवेग को समझने के लिए विभिन्न परिस्थितियों में शिशुओं की प्रतिक्रियाओं का निरीक्षण किया गया है। परन्तु इस विधि में भय यह है कि निरीक्षणकर्त्ता शिशुओं की प्रतिक्रियाओं की व्याख्या उस संवेग के अनुसार कर सकता है जिसका वे अनुभव ही नहीं करते। अतः शिशुओं के निरीक्षण में हमें बड़ा ही सावधान रहना है। संवेगों के अध्ययन में विकासात्मक पद्धति का सहारा लिया जा सकता है; परन्तु इसमें बड़े धैर्य की आवश्यकता है, क्योंकि इसमें बड़ा ही समय लगता है। शैशव और बाल्यावस्था में व्यक्ति जो कुछ भी करता है उसे ध्यानपूर्वक देखकर अङ्कित करते रहना चाहिए। बच्चे के व्यवहार के अध्ययन हेतु नाना प्रकार की नई परिस्थितियों का आयोजन किया जा सकता है। इस प्रकार के अध्ययन का पूरा लेखा बहुत ही कम अङ्कित मिलता है। अधिकांश विकासात्मक अध्ययन नर्सरी स्कूल के बालकों के समूह का ही समय-समय पर किया गया है। विकासात्मक पद्धति के समानान्तर व्यक्ति-इतिहास[2] पद्धति भी मानी जाती है। व्यक्ति इतिहास पद्धति से ज्ञात हुई बातें विकासात्मक पद्धति की कमियों को कुछ हद तक पूरी करती हैं। ये दोनों पद्धतियाँ संवेगों के अध्ययन में बड़ी ही सहायक सिद्ध हुई हैं।

मौलिक संवेग

मौलिक संवेगों को जानने के लिए आधुनिक मनोविज्ञान कई नवजात शिशुओं के व्यवहार के अध्ययन का पक्षपाती है। ऐसे शिशुओं का अध्ययन सर्व-प्रथम करने वालों में वाटसन[3] का नाम लिया जाता है। वाटसन के अनुसार भय[4], रोष[5] और प्रेम[6] मौलिक संवेग माने जा सकते हैं। तीव्र ध्वनि तथा सहारे के छूट जाने से भय की उत्पत्ति होती है। वाटसन के अनुसार शिशु की बाहें या पैर हाथ में लेने से रोष की उत्पत्ति होती है, और थपथपाने से प्रेम संवेग उत्पन्न होता है। वाटसन के इस दृष्टिकोण से संवेगों के अध्ययन में मनोवैज्ञानिकों को बड़ी ही प्रेरणा मिली है।

भय, रोष, और प्रेम

1. Genetic Method of Studying the Problem. 2. Case History Method.

3. *His* "Psychological Care of Infant and Child", New York, Norton, 1928.

4. Fear. 5. Rage. 6. Love.

संवेगात्मक प्रतिक्रियायें बड़ी ही जटिल होती हैं। शिशुओं द्वारा दिखलाये हुये संवेगों की संख्या में मतभेद पाया जाता है। परन्तु सभी मनोवैज्ञानिक इस बात से सहमत हैं कि उनके मौलिक संवेग सीमित हैं। सामाजिक अनुभव के साथ-साथ उनकी संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं में कुछ परिवर्तन आना प्रारम्भ हो जाता है। शारीरिक विकास का भी उनकी संवेगात्मक अनुभूति पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। बहुत प्रारम्भ से ही सामाजिक और शारीरिक विकास का शिशु के संवेगात्मक विकास पर प्रभाव पड़ने लगता है, क्योंकि उसका सारा विकास एक इकाई में चलता है। उसके सभी प्रकार के विकास प्रायः एक साथ ही चलते रहते हैं।

बहुत से अन्वेषकों ने यह जानने का प्रयत्न किया है कि शिशुओं के बाह्य शारीरिक चेष्टाओं से किसी संवेग का स्वरूप किस हद तक समझा जा सकता है। परन्तु इसमें उन्हें विशेष सफलता नहीं प्राप्त हो सकी है।

विवृद्धि और संवेगात्मक विकास

शारीरिक विवृद्धि[1] का संवेगात्मक व्यवहार के विकास पर कहाँ तक प्रभाव पड़ता है इस विषय में मनोवैज्ञानिकों में मतभेद है। जेसेल के अनुसार विवृद्धि का संवेगात्मक विकास पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। कुछ लोग संवेगात्मक विकास का कारण प्रधानतः सामाजिक उत्तेजनायें[2] समझते हैं। शिशुओं में संवेगात्मक व्यवहार के सम्बन्ध में जेसेल कहता है कि दस सप्ताह की अवस्था में किसी बन्द घेरे में रख दिये जाने पर शिशु कोई विरोध नहीं दिखलाता। बीस सप्ताह की अवस्था पर ऐसी स्थिति में अपना सिर थोड़ा इधर-उधर हिलाकर वह अपना विरोध दिखलाता है। तीस सप्ताह पर अपना विरोध तथा असन्तोष दिखलाने के लिए वह रोने लगता है। अपने अन्वेषण के आधार पर जेसेल का कहना है कि वातावरण के ज्ञान के बढ़ने सामाजिक विकास तथा शारीरिक नियन्त्रण के बढ़ने के साथ-साथ शिशु अपने संवेगात्मक भावों के प्रकाशन में भी पहले से अधिक सफल होता रहता है।[3] इस सम्बन्ध में प्रेसकॉट[4] भी जेसेल का समर्थन करता है।

बच्चों के संवेगों के अध्ययन की विधियाँ[5]

बच्चों के संवेगों को समझना बड़ा ही कठिन सिद्ध हुआ है; क्योंकि वे

1. Maturation. 2. Social Stimulations.

3. *Gesell, Arnold.*, The Guidance of Mental Growth in Infant and Child, The Macmillan, New York, 1930.

4. *Prescott, D. A.*, Emotion and the Educative Process, American Council on Education, p. 13, Washington, D. C. 1938.

5. Methods of Studying Children's Emotion.

शब्दों में अपने भावों को प्रकाशित करने में पूर्णतः समर्थ नहीं होते। अतः उनके संवेगों के ठीक-ठीक अध्ययन के लिए मनोवैज्ञानिक नियमित परिस्थितियों में उनका निरीक्षण करना चाहते हैं। कुछ मनोवैज्ञानिक कीलर द्वारा अन्वेषित पॉलीग्रैफ[1] या 'लाई डीटेक्टर' का प्रयोग करना चाहते हैं। परन्तु इस विधि में शिशुओं अथवा बच्चों का सहयोग अच्छी तरह नहीं प्राप्त किया जाता, क्योंकि वे उसे ठीक से समझ ही नहीं पाते।

पॉलीग्रैफ का प्रयोग

संवेगों के अध्ययन के लिए कुछ प्रश्नावलियों का भी प्रयोग किया जाता है। इनसे यह जानने की चेष्टा की जाती है कि बच्चे अपने व्यक्तिगत सामाजिक व्यवस्थापन के सम्बन्ध में किस प्रकार अनुभव करते, सोचते अथवा प्रतिक्रियायें दिखलाते हैं। इन प्रश्नावलियों द्वारा बालक के रक्षित अनुभव करने की भावना, आत्म-निर्भरता, असामाजिकता तथा भय आदि को समझने का प्रयत्न किया जाता है। इन प्रश्नावलियों में अधोलिखित प्रकार के प्रश्न होते हैं:—

प्रश्नावलियों[2] का प्रयोग

१—किसी दूसरे बालक द्वारा मिठाई छीन लिए जाने पर तुम्हारे मन में कैसी भावना आती है ?

२—अन्धेरे में तुम्हें अचानक छोड़ दिया जाय तो तुम क्या करोगे ?

३—दो बच्चों को आपस में लड़ते देख तुम क्या करोगे ?

४—क्या किसी बड़े जलाशय को देखकर तुम्हें डर लगता है ?

५—किसी कुत्ते द्वारा दौड़ाये जाने पर तुम क्या करोगे ?

३—क्या तुम अपना विवाह करना चाहते हो ?

७—क्या तुम्हें स्कूल जाना अच्छा लगता है ?

आठ-दस वर्ष के बच्चों के संवेगों को समझने के लिये स्वतन्त्र-साहचर्य[3] विधि का भी प्रयोग किया जाता है। इस विधि में प्रयोग के बाद कुछ ऐसे शब्दों को चुना जाता है जिनका किसी निश्चित संवेग से सम्बन्ध रहता है। शब्द के उच्चारण के बाद विषयी अर्थात् बालक को अपने मस्तिष्क में आये हुये प्रथम शब्द को कह देना पड़ता

स्वतन्त्र साहचर्य विधि

---

1. Keeler's Polygraph or 'lie detector'—इस यन्त्र द्वारा संवेगात्मक अनुभूति के फलस्वरूप रक्तचाप तथा श्वास की गति नापी जाती है और तदनुसार किसी संवेग का पता लगाया जाता है।

2. Standardized Tests of the questionnaire type. 3. Free Association Test.

है। इस सब कहे हुए शब्द से उसके संवेग का अनुमान किया जाता है। इस विधि से किशोरों तथा प्रौढ़ों के भी संवेग का पता लगाया जाता है। मनोविश्लेषण विधि में भी इस विधि का बहुधा प्रयोग किया जाता है।

संवेगात्मक व्यवहार का प्रारम्भ

शिशु का संवेगात्मक व्यवहार तो जन्म से ही प्रारम्भ हो जाता है, परन्तु यह कहना अत्यन्त कठिन है कि शिशु कब किस प्रकार के संवेग की अनुभूति करता है।

शैशव से ही

चार पाँच महीने का शिशु सभी प्रकार के उद्दीपकों[1] के प्रति प्रतिक्रिया नहीं दिखला पाता। ब्रिजेज़ के अनुसार तो लगभग डेढ़ साल की उम्र तक निश्चयात्मक रूप से बच्चे द्वारा अनुभूत संवेग का नामकरण नहीं किया जा सकता, यद्यपि वे किसी न किसी प्रकार के संवेग का विभिन्न परिस्थितियों में अनुभव करते ही हैं। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि प्रथम तीन वर्ष तक तो उसके संवेग के विषय में अनुमान ही किया जाता है। एक महीने के शिशु को इधर-उधर उलट-पुलट दिया जाता है तो वह कुछ अप्रसन्नता दिखलाते हुए कुछ रोता है। इसके आधार पर मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि किसी विघ्न के अनुभव पर शिशु दुख का संवेग दिखलाता है। तीन-चार महीने का रोता हुआ शिशु माँ की गोद पा जाने पर प्रायः चुप हो जाया करता है। इससे हम यह अनुमान कर सकते हैं कि वह आनन्द के संवेग का अनुभव कर सकता है। वह दूसरे की मुस्कराहट को देखकर अपने चेहरे पर मुस्कराने की रेखा खींच लेता है। यह भी आनन्द संवेग का ही लक्षण कहा जा सकता है। ब्रिजेज़ के अनुसार "तीन महीने की अवस्था में शिशु आनन्द[2] और कष्ट[3] का संवेग दिखलाता है। छः महीने की अवस्था पर उसमें भय[4], घृणा[5], और क्रोध[6] भी आ जाता है। एक वर्ष पर वह प्रेम[7] और उल्लास[8] का संवेग दिखलाने में समर्थ हो जाता है। डेढ़ वर्ष का हो जाने पर वह ईर्ष्या-संवेग[9] भी दिखलाने लगता है। दो वर्ष की अवस्था में वह पहले से अधिक प्रसन्नता और आनन्द, क्रोध व घृणा तथा भय और क्रोध दिखलाने में समर्थ होता है।[10]

भाषा का कुछ ज्ञान हो जाने पर बालक के संवेग की जटिलता पहले से बढ़ने लगती है। इस जटिलता का आना दूसरे वर्ष से प्रारम्भ हो जाता है। व्यक्ति ज्यों-ज्यों

---

1. Stimuli. 2 Delight. 3. Distress. 4. Fear. 5. Disgust. 6. Anger. 7. Affection. 8. Elation 9. Jealousy.

10. लेखक द्वारा रचित 'बाल मनोविज्ञान', पृ० ७६, प्रकाशक—रामनारायण लाल, इलाहाबाद, १९५०।

उम्र और अनुभव में बढ़ता है त्यों-त्यों उसके संवेग की जटिलता बढ़ती जाती है। कभी-कभी प्रौढ़ों के संवेग के स्वरूप को समझना कठिन हो जाता है, क्योंकि उनके संवेग की अनुभूति में कई प्रकार के भाव मिश्रित हो जाते हैं। प्रायः यह देखा जाता है कि छोटे बच्चों को कुछ ऐसी बातों का भय नहीं होता जिससे अन्य बड़े लोग डरते हैं। उदाहरणार्थ, सम्भवतः एक वर्ष का शिशु किसी मरे साँप से नहीं डरेगा; परन्तु ५-६ वर्ष का बच्चा उससे डर सकता है। बालक ज्यों-ज्यों बढ़ता है वाह्य जगत् की भयानक क्रियायें उसमें अपने प्राण का मोह उत्पन्न कर देती हैं।

संवेग की जटिलता क्रमशः

एक छोर से दूसरे विपरीत छोर पर संवेग का आना

निरीक्षण से यह पता चलता है कि संवेग एक छोर से दूसरे विपरीत छोर तक जाया करता है। यदि कोई बालक किसी कारणवश किसी समय बहुत आनन्दित दिखलाई पड़ता है तो सम्भव है कि थोड़ी ही देर में वह दुखित दिखलाई पड़े। यह देखा भी जाता है कि छः सात महीने का बच्चा प्रायः हँसते-खेलते रहते हुये भी बहुत ही साधारण सी बात पर रोना प्रारम्भ कर देता है। छोटे बच्चे जो एक समय आपस में खेल रहे हैं, वे दूसरे क्षण आपस में मारपीट प्रारम्भ कर देते हैं। संवेग का इस प्रकार एक छोर से दूसरे विपरीत छोर पर आ जाना केवल छोटे बच्चों में ही नहीं देखा जाता। किशोरों तथा प्रौढ़ों में भी यह बात बहुधा देखी जाती है।

बालकों के कुछ संवेग

क्रोध

कारण

यह सभी का अनुभव है कि छोटा बच्चा अपना क्रोध प्रकाशित करने में कभी नहीं चूकता। उसकी इच्छा के विरुद्ध कुछ हुआ तो उसकी अप्रसन्नता की सीमा का अनुमान लगाना कठिन हो जाता है। वह अपने क्रोध-प्रकाशन में बहुत देर तक रोता रहता है अथवा जो ही वस्तु सामने आती है उसे पटक-फोड़ डालता है। उसके क्रोध का प्रधान कारण उसकी स्वाभाविक क्रियाशीलता में किसी प्रकार का विघ्न आना होता है। यह मानना ही होगा कि बच्चों को सदा स्वच्छन्द नहीं छोड़ा जा सकता, अन्यथा वे क्या नहीं ढाह देंगे। तथापि वह बहुधा अपना क्रोध दिखलाता ही रहता है। जब माता उसके लिए कुछ करना चाहती है तो वह अपना क्रोध कभी-कभी दिखलाता है। गुडइनफ़ का कहना है कि शारीरिक

स्वाभाविक क्रियाशीलता में विघ्न, अपमान

क्रियाशीलता में बाधा उपस्थित होने से प्रथम सात वर्षों के अन्दर बालक में प्रायः क्रोध आ ही जाता है। सात वर्ष की उम्र के बाद क्रोध आने के कारण दूसरे हो सकते हैं। जो बालक अपना काम स्वयं करना चाहता है वह किसी प्रकार के हस्तक्षेप से क्रोध दिखला सकता है। जो किसी सहायता की अपेक्षा करता है वह सहायता न पाने पर क्रोध दिखला सकता है। कोई बालक अपमानित होने पर अपना क्रोध प्रकाशित कर सकता है।

प्रकाशन का रूप

सभी बालक एक ही तरह अपना क्रोध प्रकाशित नहीं करते। तीन-चार वर्ष के बच्चों को अपने मान या अपमान का ध्यान नहीं रहता। अतः अपने क्रोध-प्रकाशन में अपनी कल्पना और शक्ति के अनुसार वह किसी भी साधन का अवलम्बन ले सकता है। हाथ-पैर पीटना व फेंकना, जोर से चिल्लाना, हाथ में ली हुई वस्तु को फेंक देना, पास पड़ी हुई वस्तु को नष्ट करने का प्रयास, धूल में लोटना, दूसरे को मारना या बकोटना तथा कोई वस्तु खाना अस्वीकार कर देना आदि-आदि उसके क्रोध-प्रकाशन का स्वरूप होता है। छः-सात वर्ष का बालक क्रोध के आवेश में अपने मुँह से बुरे शब्द भी निकाल सकता है। ब्रिजेज के अनुसार नर्सरी स्कूल में तीन वर्ष के बालक अपने क्रोध-प्रकाशन के फल स्वरूप आपस में लड़ पड़ते हैं। इस लड़ने में वे एक दूसरे के बाल या वस्त्र खींचने और नोंचने लगते हैं। चार-पाँच वर्ष के बालक अपने क्रोध-प्रकाशन में कुछ अधिक संयम रखते हैं। वे अपने क्रोध-प्रकाशन में सहायता के लिए अध्यापक को पुकारते हैं। छः-सात वर्ष के बालक क्रोध के आवेश में यकायक दूसरे पर आक्रमण नहीं कर बैठते। दूसरों की बात सुनने के लिए उनमें धैर्य होता है और इस सम्बन्ध में वे किसी बड़े का निर्णय मान लेते हैं। आठ-दस वर्ष के बालक क्रोध के प्रकाशन में आपस में बहस करते हुये देखे जाते हैं और अपने झगड़े के निपटारा के लिए वे बहुधा किसी दूसरे के पास आ जाते हैं। बारह-तेरह वर्ष के बालक में कई प्रकार के सामाजिक गुण आ जाते हैं। उन्हें अपने मान व अपमान का अधिक ध्यान रहता है। अतः क्रोध के अनुभव पर वे उसके प्रकाशन में कुछ हिचकते हैं और उसे पहले कुछ छिपाना चाहते हैं, जिससे दूसरे उनकी निन्दा न करने लगें। परन्तु उनके क्रोध का आभास चेहरे पर तो व्यक्त हो ही है। अतः क्रोध के आने पर उनकी आँखें चमकने लगती जाती हैं, चेहरा लाल हो जाता है और उनके स्वर में कुछ परिवर्तन आ जाते हैं। यदि वे कुछ कहना चाहते हैं तो उनकी बात रुक जाती है।

विकासानुसार भेद

अभिभावकों और अध्यापकों को यह याद रखना चाहिए कि शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए क्रोध का आना बड़ा ही हानिकर है। क्रोध के आवेग में रक्त में कुछ ऐसे विषैले पदार्थ उत्पन्न होते हैं जो चित्त को बहुत देर तक विचलित रखते हैं। कहना न होगा कि क्रोध का व्यक्तित्व के विकास पर भी प्रभाव पड़ेगा ही। अतः बालकों के पालन-पोषण के क्रम में इस बात पर ध्यान रहे कि उनके सामने क्रोध उत्पन्न करने वाली परिस्थिति यथासम्भव कम आवे। नीचे हम यही समझने की चेष्टा करेंगे कि ऐसी परिस्थिति को कैसे रोका जा सकता है, अथवा उसके आने पर उसका कैसे निराकरण किया जा सकता है।

क्रोध को रोकने के उपाय

यदि बालक के सामने सुगम से सुगम परिस्थिति और वातावरण उपस्थित करने का प्रयास किया जाय तो उसमें क्रोध आने को रोका जा सकता है। यदि बच्चा किसी बात से चिढ़ता है तो अच्छा यह होगा कि उसके सामने वह बात आने ही न पावे। यदि स्नान कराने अथवा कंघी करने का वह विरोध करता है तो इसे इतने प्रेम और ऐसे बहाने के साथ करना चाहिए कि ये दो क्रियायें उसके लिए सुखद हो जाँय। यदि बालक स्वच्छन्दता में बाधा पाने से क्रोध प्रदर्शित करता है तो उसका वातावरण ऐसा रखना चाहिए कि स्वच्छन्दता पाने पर किसी वस्तु को वह नष्ट-भ्रष्ट न कर सके। ऐसा करने में उसकी स्वच्छन्दता में बाधा डालने का प्रश्न ही उपस्थित न होगा। असफलता की भावना से भी बच्चों में क्रोध आ जाता है। अतः प्रयास यह रहे कि यथासम्भव बालक असफलता का अनुभव कम से कम करे। जिस वस्तु को पाने की बच्चा इच्छा करता है, यदि वह वस्तु उसे दी जा सकती है, तो उसे अवश्य ही वह दी जानी चाहिए। परन्तु यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि बालक की प्रत्येक इच्छा की पूर्ति करना न सम्भव ही है और न मनोवैज्ञानिक ही। अतः अच्छा होगा यदि इस सम्बन्ध में अभिभावक और अध्यापक समुचित सतर्कता से काम लें। जो माता-पिता बालक की प्रत्येक इच्छा की पूर्ति करना चाहते हैं वे बालकों को ऊधमी, हठी, असहाय और स्वार्थी बना डालते हैं। अतः समय-समय पर अप्रत्यक्ष और मनोवैज्ञानिक विधि से बालक को यह सीख दी जानी चाहिए कि उन्हें क्या 'करना' और क्या 'नहीं करना' चाहिए।

वातावरण पर ध्यान, सभी इच्छा की पूर्ति ठीक नहीं

कुछ बालक अपनी इच्छा के विरुद्ध कुछ होते देख, अपनी निन्दा सुन तथा दूसरों से कोई वस्तु न पाने पर अपने क्रोध का प्रदर्शन करते हैं। ऐसे अवसर पर

उन्हें यह संकेत देना चाहिए कि सब कुछ उन्हीं की इच्छानुसार नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनके अलावा दूसरों की इच्छाओं का भी आदर करना आवश्यक है। उन्हें यह सिखलाना चाहिए कि दूसरों से प्रशंसा पाने के लिए क्या करना आवश्यक है। उन्हें यह बतलाना चाहिए कि दूसरों की वस्तु पर अपना अधिकार करने की इच्छा निन्दनीय स्वार्थ का लक्षण है। इस प्रकार बालक की विभिन्न भावनाओं को हम पुनर्शिक्षित कर सकते हैं। जब बालक क्रोध में है तो उस समय उसे समझाना मनोवैज्ञानिक न होगा। अच्छा होगा यदि उस समय उसका ध्यान किसी दूसरी बात या कार्य पर कर दिया जाय। फिर बाद में क्रोध के औचित्य तथा अनौचित्य पर कुछ कहा जा सकता है। यह ध्यान रहे कि ऐसे अवसर पर अभिभावक तथा अध्यापक की मुद्रा से बालक किसी अप्रिय भाव का भास न कर सके, अन्यथा बालक तत्सम्बन्धी बातें समझने में असमर्थ हो सकता है।

प्रेम से आवश्यक बातें सिखलाना

छोटे बालक के क्रोध के निवारण की समस्या उतनी कठिन नहीं जितनी कि १२, १३ या १४ वर्ष के बालकों की होती है, क्योंकि बड़े बालकों के बाह्य व्यवहार से क्रोध का पता लगाना कठिन हो जाता है। बड़े बालक क्रोध में आने पर अपनी बात कहने में बहुत झिझकते हैं। क्रोध के आवेश में वे माता-पिता को छोड़ अपनी बातें किसी ऐसे व्यक्ति से कहना प्रारम्भ कर सकते हैं जिसका संग उनके व्यक्तित्व-विकास के लिए बुरा हो सकता है। तथापि बालक के कुछ बाह्य व्यवहार, स्वर तथा मुद्रा से उसके अन्दर सुलगती हुई क्रोधाग्नि को समझना बहुत कठिन नहीं। ऐसे अवसर पर अभिभावक और अध्यापकों को आत्म-संवरण और सहानुभूति से काम लेना चाहिए। यदि विभिन्न परिस्थितियों में बालक के विचारों को समुचित आदर देने का प्रयास किया जाय तो उसके क्रोध की जटिलता तथा बुरे प्रभाव को बहुत हद तक दूर किया जा सकता है।

बालकों के विचारों को समुचित आदर देना

कुछ छोटे बालकों में ऊधम और उत्पात करने की प्रवृत्ति आ जाती है। उत्पाती बालक के रोने और चिल्लाने को यकायक बन्द करने का प्रयास करना व्यर्थ सिद्ध होता है, क्योंकि इससे उसका रोना और चिल्लाना और बढ़ जाता है। ऐसी स्थिति में अच्छा यह होगा कि बच्चों को एकदम अकेले छोड़ दिया जाय जिससे वह अपनी इच्छा और शक्ति के अनुसार खूब रो और चिल्ला ले। ऐसे करने पर देखा जायगा कि कुछ दिन बाद बच्चे का इस प्रकार का उत्पात अपने आप बन्द हो जायगा।

उत्पाती बालक

आनन्द[1]

आनन्द का संवेग प्राय: तीसरे महीने से बच्चे में देखा जा सकता है। मनोवैज्ञानिकों का मत है कि एक वर्ष की उम्र में आनन्द का संवेग उल्लास[2] और प्रेम[3] में भी परिवर्तित हो जाता है। किसी इच्छा के पूरी होने पर बालक आनन्द का संवेग प्रदर्शित करता है। दु:ख, भय और क्रोध आदि संवेग बालक में जैसे-जैसे कम होते हैं वैसे-वैसे उसमें आनन्द का संवेग बढ़ता जाता है।

पाँच छः महीने की उम्र से

मुस्कराने और हँसने को आनन्द-संवेग का लक्षण कहा जाता है। अतः यह कहा जा सकता है तीन-चार महीने की अवस्था से शिशु आनन्द के संवेग का अनुभव करने लगता है। परन्तु कुछ मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि इस उम्र में शिशु की मुस्कान आनन्द के संवेग का लक्षण न होकर अनुकरण-प्रवृत्ति का फल होती है। यह निश्चित जान पड़ता है कि ५-६ महीने की उम्र से वह आनन्द संवेग का अनुभव करता है, क्योंकि इस उम्र में कुछ क्रियाओं के फलस्वरूप वह हमें अपनी हँसी और मुस्कराहट दिखलाता है। डेढ़-दो वर्ष का बालक माँ या पिता को बाहर से आते देख प्रसन्नता प्रकट करता है और गोद में आकर लिपट जाता है। आनन्द के भाव में बालक के चलने तथा बोलने में भी कुछ अन्तर आ जाता है। यह तो प्राय: प्रत्येक पाठक का अनुभव होगा। विकास की अवस्थानुसार बालक में आनन्द उत्पन्न करने वाली वस्तुओं में भेद आ सकता है। तदनुसार उसके प्रकाशन-विधि में भी भेद होगा ही। डेढ़ वर्ष का बालक जिस खिलौने को देख या पाकर अपना आनन्द प्रगट करता है वह एक पाँच-छ वर्ष के बच्चे के लिए आकर्षक भी नहीं हो सकता। दो-तीन वर्ष के बच्चे किसी खिलौने के पा जाने पर उसे तोड़ने में एक आनन्द का अनुभव करते हैं—वस्तुत: वे उसे तोड़ते नही हैं, वरन् अपने विचारानुसार उसका पुनर्निर्माण करते हैं।

शारीरिक अथवा मानसिक स्वास्थ्य का आनन्द के अनुभव पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। बीमार अथवा रोता या सोता हुआ बालक आनन्द के उद्दीपक के प्रति प्रसन्नता की प्रतिक्रिया नहीं दिखला पाता। अत: बालक को प्रसन्न करने के लिए उसकी भाव-मुद्रा की ओर हमें ध्यान देना आवश्यक है।

भय

कारण

ऊपर हम कह चुके हैं कि अचानक किसी तीव्र ध्वनि के होने अथवा सहारे

1. Delight. 2. Elation 3. Affection.

के छूट जाने से बालक भय संवेग की अनुभूति करता है। प्रायः यह देखा जाता है कि प्रथम दो-तीन वर्ष के अन्दर रो अथवा चिल्लाकर बालक अपना भय प्रगट करता है। कभी-कभी भय-वश वह अपने अंग को कड़ा कर लेता है। डेढ़ साल का डुग्गू जब किसी आगन्तुक को घर में देखता है तो रोने लगता है और पास में खड़े माता या पिता से लिपट जाता है। लिपटने में वह अपना शरीर इतना कड़ा कर लेता है कि उसे गोद में उठाना कठिन हो जाता है। कहना न होगा कि भय की उत्पत्ति के अन्य कारण भी हो सकते हैं। भय की उत्पत्ति दूसरे के अनुकरण से भी हो सकती है। एक बालक को डरा देखकर दूसरा बालक भयभीत हो सकता है। किसी परिस्थिति से यदि माँ डरती है तो उसे डरते देख बालक भी डर जाता है।

अचानक तीव्र ध्वनि, सहारे का छूटना और अनुकरण

वातावरण पर नियन्त्रण के बढ़ने के साथ बालक में भय कम होता जाता है। जरसिल्ड और हॉल्म्स[1] के अनुसार दो से पाँच वर्ष की अवस्था में बालक अन्धेरे में अकेले होने पर भय संवेग प्रदर्शित करता है। छोटे बालक को यह भी भय रहता है कि कोई उसे उठा न ले जाय। भय की उत्पत्ति में बुद्धि का भी प्रभाव पड़ता है। अपने अन्वेषणों के फलस्वरूप हॉल्म्स का कहना है कि मन्द बुद्धि के बालक तीव्र बुद्धि के बालक की अपेक्षा कम डरते हैं। उसने यह भी देखा कि लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा अधिक डरती हैं। डरने में सामाजिक विकास का बड़ा हाथ रहता है। यदि सामाजिक विकास अवस्थानुसार पर्याप्त हुआ तो भयप्रद परिस्थितियों पर बालक शीघ्रतर नियन्त्रण प्राप्त कर सकेगा। जो बालक बहुधा दूसरों पर हर बात के लिये आश्रित रहते हैं, जिन्हें आत्म-निर्भरता और आत्म-विश्वास का पाठ नहीं पढ़ाया जाता उनमें भय-संवेग विशेष आता है। कुछ लोग खेल में बालकों को डरवाया करते हैं, अथवा भूत-प्रेत तथा मृतक व्यक्ति आदि के सम्बन्ध में ऐसी बातें करते हैं जो बालक में भय उत्पन्न करती हैं। अतः अच्छा होगा कि बालकों को ऐसी बातों से दूर रखा जाय।

बुद्धि तथा सामाजिक विकास का प्रभाव

भय को दूर करना

भय को दूर करने के लिये यह आवश्यक है कि बालक को परिस्थिति का पूरा-पूरा ज्ञान दिया जाय, जिससे उस पर तथा समान परिस्थितियों पर नियन्त्रण

1. *Children's Fears*—Child Development Monographs No. 20, Teachers College, Columbia Univ., New York, 1935

प्राप्त करने में उसे कठिनाई न हो। उदाहरणार्थ ; यदि बालक अनायास अन्धेरे के भय से किसी कमरे में नहीं जाना चाहता तो उसके भय को दूर करने लिए उसे अपने साथ उस कमरे में ले जाकर प्रेमपूर्वक बतलाना चाहिये कि उसका भय निराधार है।

परिस्थिति का ज्ञान और सहानुभूति

यदि बचपन के किसी भय को दूर करने में अमनोवैज्ञानिक रूप से शीघ्रता की गई तो बहुत सम्भव है कि बालक का भय जीवन भर के लिये स्थाई हो जाय। यदि बालक नदी से डरता है तो अचानक उसे पानी में डाल देने से उसका पानी के प्रति भय स्थाई हो सकता है। इसके लिये अच्छा होगा यदि सहानुभूतिपूर्वक उसका नदी से धीरे-धीरे सम्पर्क स्थापित किया जाय।

कुछ माता-पिता बालक को शान्त करने के लिए उसे भयभीत किया करते हैं; जैसे—"चुप-चुप गो-गो आया—अरे तुम्हें बाघ आकर उठा ले जायगा" इत्यादि। शान्त करने की यह विधि बड़ी अमनोवैज्ञानिक है। इससे बालक डरपोक बन जाता है और आत्म-विश्वास खो बैठता है। कभी-कभी बालक दिये हुए निर्देश के विपरीत काम करता है। अतः निर्देश देने में बड़ा सावधान रहना चाहिये। यदि बालक बिजली के पंखे में हाथ डालना चाहता है तो सम्भव है कि मना करने पर भी उसमें हाथ डालने का वह प्रयत्न करे। अतः पंखे के लिये उसमें भय उत्पन्न करने का प्रयत्न न कर यदि उसे उससे दूर रक्खा जाय तो अच्छा होगा। परन्तु भय को दूर करने के लिये परिस्थिति से बालक को सदा दूर रखना सम्भव नहीं हो सकता, और न उसके सामाजिक विकास के लिये ही यह अच्छा होगा, क्योंकि जीवन में उसे विभिन्न विषम परिस्थितियों का सामना करना ही होगा, और उनके लिए उसे तैयार भी करना चाहिए। अतः बालक से भय को निकालने के लिए हमें बुद्धिमानी से काम करना चाहिए। मेरी कॉवरजोन्स के अनुसार भय को दूर करने के लिए परिस्थिति का अव्यवहार[1], दूसरी परिस्थिति[2] की ओर ध्यान खींचना, आवश्यक[3] बातें समझना तथा दूसरे का अनुकरण[4] आदि उपाय काम में लाये जा सकते हैं। परिस्थिति के अव्यवहार का तात्पर्य यह है कि जिस परिस्थिति से वह डरता है उसके सम्पर्क को यथासम्भव कम किया जाय। यदि किसी बात से बालक डर रहा है तो उसके डर को दूर करने के लिए उसका ध्यान अन्य बातों की ओर खींचा जा सकता है। आवश्यक बातें समझा देने से भी उसके भय को बहुत हद तक दूर किया जा सकता है। सामाजिक अनुकरण का अर्थ वैसे व्यवहार के अनुकरण से है जिसका

मनोवैज्ञानिक उपाय

---

1. Disuse 2. Distraction 3. Verbal Appeal 4. Social Imitation

उस भय वाली परिस्थिति से सम्बन्ध रहता है। उदाहरणार्थ; बालक यदि कुत्ते से डरता है तो अभिभावक स्वयं उस कुत्ते के साथ खेल कर बच्चे को दिखला सकता है। इस प्रकार बालक भी कुत्ते के साथ खेलने के लिए उत्साहित होकर अपने भय को निकाल देगा। इसे सामाजिक अनुकरण कहा जायगा।

कष्ट और रोना[1]

प्रायः रोना और चिल्लाना छोटे बच्चों का स्वभाव होता है। उनके रोने का कारण किसी प्रकार का कष्ट, क्रोध, भय अथवा ईर्ष्या आदि हो सकता है। इन संवेगों से उत्पन्न संवेगात्मक तनाव आँसू गिराने से ढीला पड़ जाता है। कदाचित् इसीलिये प्रकृति ने आँसू गिरने का आयोजन किया है। ब्रिजेज़ के अनुसार तीन वर्ष की उम्र के बाद बालक स्कूल में कम रोते हैं। पाँच-छः वर्ष के बच्चे किसी कष्ट के पाने के बाद अपनी कठिनाई शिक्षक से कहते हैं। दूसरों के चिढ़ाने पर भी बच्चे कभी-कभी रोया करते हैं। चार-पाँच वर्ष के बच्चे अपनी स्वाभाविक क्रिया में किसी के हस्तक्षेप के कारण रोने लगते हैं। ब्रिजेज़ के अनुसार कष्ट पाने पर बच्चे तीन प्रकार का व्यवहार दिखला सकते हैं :— (१) सहायता के लिये किसी बड़े को पुकारना, (२) हस्तक्षेप का विरोध करना, अथवा (३) चुपचाप अपनी अप्रसन्नता प्रगट करना।

प्यार[2]

बच्चे में प्यार का संवेग ६-७ महीने की उम्र से देखा जाता है। जो उसकी सेवा करते हैं उन्हें देख कर वह प्रसन्नता दिखलाया करता है। यह प्रसन्नता उसके प्यार का ही लक्षण होती है। लगभग १०-१२ महीने के बालक को माँ के मुँह में

छः-सात महीने से

कुछ डालते हुए कुछ देखा जाता है। यह उसके प्यार का ही प्रदर्शन है। डेढ़ साल का बालक चुम्बन देकर अपना प्यार प्रदर्शित करता है। जिसके सम्पर्क से बालक को कुछ सुख मिलता है उसके प्रति वह प्यार का भाव दिखलाया करता है। अपने खिलौने से उसे कुछ आनन्द आता है। इसलिये खिलौने को भी पुचकारते, थपथपाते और प्यार करते हुए वह देखा जाता है।

बालक के प्यार का क्षेत्र जितना ही विस्तृत होगा वह उतना ही उदार वृत्ति का होगा। अतः माता-पिता को देखना चाहिये कि बच्चों के प्यार का क्षेत्र बहुत सीमित न हो जाय। कुछ लोग अपने माता-पिता तथा घर के कुछ अन्य व्यक्तियों

---

1. Distress and Crying 2. Affection.

से इतने प्यार में लिपटे रहते हैं कि अन्य व्यक्तियों को प्यार करना वे सीखते ही नहीं। इसका बालक के सामाजिक विकास पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। बालक का वातावरण कुटुम्ब तक ही सीमित नहीं रह सकता। उसे अन्य लोगों के सम्पर्क में आना ही है। अतः बहुत प्रारम्भ से ही उसके सामाजिक वातावरण के समुचित विस्तार पर ध्यान देना चाहिये।

प्यार का क्षेत्र विस्तृत करना

ईर्ष्या[1]

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार ईर्ष्या में क्रोध और कष्ट संवेग का समावेश रहता है। माता-पिता के प्यार के लिये बच्चों में बहुधा एक होड़ लगी रहती है। जब बच्चा देखता है कि माता-पिता का प्यार उसकी ओर न आकर किसी दूसरी ओर जा रहा है तो उसमें ईर्ष्या-संवेग जागृत हो जाता है। जिस घर में चार-पाँच बच्चे होते हैं वहाँ बहुधा ऐसा हुआ करता है। डेढ़ वर्ष की अवस्था से बच्चे में ईर्ष्या की भावना आ जाती है। अपनी माँ का दूध जब बच्चा किसी दूसरे बच्चे को पीते देखता है तो ईर्ष्या-संवेग उसमें जागृत हो जाता है। जब माँ एक बच्चे को गोद में उठाती है तो ईर्ष्यावश दूसरा बालक भी गोद में आने के लिये रोने लगता है। अपने दूसरे भाई अथवा बहिन के जन्म से बालक में ईर्ष्या-भावना जोर पकड़ने लगती है, क्योंकि इससे माता-पिता का ध्यान उसकी ओर से हट कर नवजात शिशु की ओर हो जाता है और वह पहले की तरह प्यार और ध्यान नहीं पाता। इस परिवर्तन का बच्चे की मानसिक स्थिति पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि माता-पिता अपने व्यवहार में यह दिखलावें कि नवजात शिशु के कारण बच्चे के प्रति उसके प्यार में कोई कमी नहीं है तो बच्चे में ईर्ष्या की भावना नहीं आयेगी। अतः स्पष्ट है कि इसे रोकने में माता पिता का मनोवैज्ञानिक व्यवहार बड़ा सहायक होगा।

माता-पिता के मनोवैज्ञानिक व्यवहार से इसमें कमी

कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार लड़कियों में लड़कों की अपेक्षा ईर्ष्या-भावना अधिक होती है। कदाचित् इसका कारण लड़कियों के प्रति हमारा व्यवहार ही है। वर्तमान सामाजिक परम्परा के अनुसार लड़कियों को लड़कों की अपेक्षा कम स्वतन्त्रता दी जाती है। इस सम्बन्ध में माता-पिता की भी दो आँख हो जाती हैं। फलतः लड़का प्रत्येक बात में अपने को लड़की से श्रेष्ठतर

लड़कियों में अपेक्षाकृत अधिक ईर्ष्या

1. Jealousy.

सिद्ध करना चाहता है । उसकी इस मनोवृत्ति का लड़की पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है । परन्तु अभी मनोवैज्ञानिक अन्वेषणों द्वारा यह नहीं सिद्ध किया जा सका है कि लड़कियों में अपेक्षाकृत अधिक ईर्ष्या-भावना होती है । तथापि वस्तुस्थिति से तो ऐसा ही जान पड़ता है ।

ईर्ष्या भावना का कभी लोप नहीं

बालक जब सामूहिक खेलों में भाग लेने लगता है तो उसमें प्रतियोगिता की भावना आ सकती है । इस भावना से उसमें ईर्ष्या-संवेग आया करता है । जो लड़का या लड़की खेलने-कूदने अथवा पढ़ने-लिखने में दूसरों से अच्छा होता है उससे दूसरे लड़के ईर्ष्या करने लगते हैं । छोटी उम्र में भाई-बहिन आपस में ईर्ष्या करते हैं परन्तु १२-१३ वर्ष की उम्र से उनमें ईर्ष्या कम होने लगती है, क्योंकि तब वे अपनी योग्यता को पहले से अधिक समझते हैं और अपनी सीमाओं को पहचान कर सन्तोष करने लगते हैं । इसका तात्पर्य यह नहीं कि उनमें ईर्ष्या-भावना का लोप हो जाता है । वस्तुतः इस भावना का लोप तो कभी होता ही नहीं । परन्तु बड़े हो जाने पर सामाजिक बन्धन के कारण व्यक्ति उसका स्पष्ट प्रकाशन बहुत कम करके मन ही मन मसोस कर रह जाता है ; तथापि उसके कुछ व्यवहार से उसकी आन्तरिक मनोवृत्ति का संकेत तो मिल ही जाता है ।

प्रकाशन-विधि में विकासानुसार भेद

ईर्ष्या-प्रकाशन की विधियों में विकासावस्था के अनुसार भेद पाया जाता है । डेढ़-दो वर्ष के लड़के रो कर अथवा ऊधम मचा कर अपनी ईर्ष्या-भावना का प्रकाशन करते हैं । पाँच-छः वर्ष के लड़के ईर्ष्या-भावनावश आज्ञा का उलंघन कर सकते हैं । दस बारह वर्ष के लड़के ईर्ष्या के फलस्वरूप आपस में झगड़ सकते हैं, अथवा एक दूसरे को कुछ हानि पहुँचाने की मन ही मन कोई योजना बनाते हैं ।

ईर्ष्या को दूर करने के उपाय

प्रेम-भाव को उत्पन्न करना

ईर्ष्या से विकास की स्वाभाविक गति में बड़ी बाधा पड़ती है । इच्छाओं की पूर्ति न होने से ईर्ष्या उत्पन्न होती है । परन्तु इच्छाओं की सदैव पूर्ति होते रहना कठिन है । अतः इच्छाओं के प्रतिकूल परिस्थिति में अच्छा व्यवहार दिखलाने की बालकों को शिक्षा देना आवश्यक है । इस पर बहुत प्रारम्भ से ही ध्यान देना चाहिये । बहुत से माता-पिता बच्चों की प्रत्येक इच्छा को पूरी करने का प्रयत्न करते हैं । उनकी यह मनोवृत्ति बालक के स्वस्थ विकास में बाधक होती है ।

बालक अपनी सभी बात के लिए दूसरों से प्रशंसा की अपेक्षा करता है। वह चाहता है कि उसके दूसरे भाई-बहन या साथी प्रशंसा न पायें। फलतः वह सब में अपना प्रतिद्वन्दी देखने लगता है। यदि बालक के मन में दूसरों के लिये प्रेम उत्पन्न किया जाय तो उसकी ईर्ष्या-भावना स्वतः कम हो जायगी। बच्चे को यह सिखलाना चाहिये कि उसे अपने बड़े भाई तथा बहन के गुणों का अनुकरण करना है और बड़े भाई और बहिन को सिखलाना चाहिए कि उन्हें अपने से छोटों को प्यार करना है। यदि यह मनोवृत्ति बच्चों को दी जा सकी तो उनकी ईर्ष्या भावना में अपने आप कमी आ जायगी।

कुछ माता पिता या अभिभावक बच्चों की दूसरों से अमनोवैज्ञानिक तुलना किया करते हैं। उन्हें सभी बालकों को समान दृष्टि से देखना चाहिये। किसी बालक को अपना विशेष प्रेम-पात्र बनाने का फल दूसरों में ईर्ष्या-भावना उत्पन्न करना होता है। माता-पिता को यह भी ध्यान रखना चाहिये कि उनके व्यवहार-से बालकों में आत्महीनता की भावना न आने पावे, क्योंकि इस भावना से भी ईर्ष्या उत्पन्न होती है। अच्छे गुणों में दूसरों से आगे बढ़ जाने की बालकों को भावना देना अच्छा है। बालकों में इस प्रकार की आई हुई ईर्ष्या भावना उनमें अच्छे गुणों का विकास करेगी। अतः इस सम्बन्ध में माता-पिता को बड़ा मनोवैज्ञानिक होना चाहिये।

माता-पिता का मनोवैज्ञानिक होना

संवेगों पर नियन्त्रण पाने के उपाय

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संवेगों पर नियन्त्रण प्राप्त करने में हमें बालकों की सहायता करनी है। हमारा यह अनुभव है कि बीमार या निर्बल व्यक्ति विविध संवेगों का बहुधा अभियुक्त हो जाया करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि स्वास्थ्य के अच्छे होने पर व्यक्ति अपने संवेगों पर नियन्त्रण प्राप्त करने में बहुत हद तक सफल हो जाता है। अतः सर्व प्रथम हमें बच्चे के स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान देना है।

अच्छा स्वास्थ

अति उत्तेजक घटनाओं से बालकों को दूर रखना चाहिए, क्योंकि वे उनमें हानि का संवेग उत्पन्न करती हैं। इन घटनाओं में गहरी मार-पीट या झगड़ा-कलह, मृतक शरीर तथा अन्य भयावह परिस्थितियों का नाम लिया जा सकता है। परन्तु हमें ध्यान रखना है कि बालक को अपने भावी जीवन में कभी न कभी ऐसी परिस्थितियों

विकासानुसार विभिन्न परिस्थितियों का लाना

का सामना करना ही होगा। अतः उन्हें ऐसी परिस्थितियों से दूर रखने की एक सीमा भी होनी चाहिए। अतः उचित अवसर पर हमें उन्हें इनका परिचय देना ही होगा। विकास के अनुसार उनके सामने विभिन्न परिस्थितियों का लाना मनोवैज्ञानिक होगा।

जब बालक किसी उग्र संवेग में आ गया हो उस समय उसे सीख देना अमनोवैज्ञानिक है। भय, क्रोध तथा ईर्ष्या ऐसे संवेगों के प्रकाशन में कुछ नियन्त्रण की विशेष आवश्यकता होती है। ऐसे संवेगों के सम्बन्ध में हमें उन्हें ऐसे उपयुक्त अवसर पर शिक्षा देनी चाहिए जब वे इनके वशीभूत न हों।

जिन संवेगों से बालकों को आनन्द और सुख मिलता है उन पर किसी प्रकार के नियन्त्रण की आवश्यकता नहीं; क्योंकि वे विकास के लिए हितकर होते हैं। परन्तु आनन्द देने वाले संवेगों पर भी नियन्त्रण रखना सामाजिक दृष्टि से कभी-कभी आवश्यक होता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई परिस्थिति आनन्दवश बालकों में हास उत्पन्न करती है तो यह देखना है कि उसकी हँसी से किसी के हृदय पर आघात न लगे। सभा या गोष्ठी में किसी के भाषण अथवा कथन पर हँस देना ठीक नहीं। इन सब बातों का बालकों को सिखलाना बड़ा ही आवश्यक है।

७

मूलप्रवृत्तियाँ और उनकी शिक्षा[1]

मूलप्रवृत्तियों की[2] कुछ प्रधान विशेषतायें

मूलप्रवृत्तियों के स्वरूप के विषय में मनोवैज्ञानिकों में बड़ा मतभेद है। इस मतभेद की यहाँ व्याख्या करना हमारी सीमा के बाहर है। कुछ आधुनिक मनोवैज्ञानिक तो मूलप्रवृत्तियों के अस्तित्व को स्वीकार करने के लिये तैयार ही नहीं। इन मनोवैज्ञानिकों का दल विशेषत: अमेरिका में पाया जाता है। इनके सिद्धान्त की हम यहाँ व्याख्या नहीं दे सकते, क्योंकि हमें यहाँ केवल मूलप्रवृत्तियों का ही विवेचन करना है। उनके मत के सम्बन्ध में हम यहाँ केवल इतना ही कहेंगे कि वे मूलप्रवृत्तियों को मानवीय व्यवहार का कारण नहीं मानते। मूलप्रवृत्तियों के स्थान पर वे प्रेरणाओं और ईहाओं का प्रयोग करते हैं। इन प्रेरणाओं और ईहाओं में वे भूख, प्यास, काम,[3] इत्यादि का उल्लेख करते हैं। उनके अनुसार प्राणी अपने विवृद्धि[4] के क्रम में विभिन्न बातें स्वयं सीख लेता है। इसके विपरीत मूलप्रवृत्तियों के समर्थक मानवीय व्यवहार का प्रारम्भ मूलप्रवृत्तियों से ही मानते हैं। नीचे हम मूलप्रवृत्तियों के स्वरूप की ओर संक्षेप में संकेत करेंगे।

प्रेरणायें और मूलप्रवृत्तियाँ

अपने-अपने सिद्धान्त के अनुसार मनोवैज्ञानिकों ने मूलप्रवृत्ति की विभिन्न तालिकायें दी हैं। अर्थशास्त्री ऐडम स्मिथ[5] ने सहानुभूति नामक मूल प्रवृत्ति को ही सारे मानवीय व्यापार का आधार माना है। ट्रॉटर[6] समूह[7] मूलप्रवृत्ति को यह श्रेय देना चाहता है। फ्रॉयड ने काम-मूलप्रवृत्ति[8] को ही मानवीय व्यवहार और क्रियाशीलता

मूलप्रवृत्तियों की संख्या

---

1. Instincts and their Training. 2. The Nature of Instincts. 3. Sex. 4. Maturation. 5. Sympathetic Bases of Human Activities. 6. *Trotter*, W. Instincts of the Herd in Peace and War. 7. Gregarious or Social Instinct. 8. Freud : Sex Instinct.

का प्रधान स्रोत माना है, यद्यपि बाद में उसने आत्म-रक्षा[1] तथा मृत्यु[2] मूल-प्रवृत्तियों का भी उल्लेख किया है। जेम्स के अनुसार हमें ३२ मूलप्रवृत्तियों को स्वीकार करना चाहिए। थॉर्नडाइक ने पहले १०० मूलप्रवृत्तियों की चर्चा कर उन्हें बाद में ४० तक ही सीमित कर दिया। वारेन २६ मूलप्रवृत्तियों का उल्लेख करते हैं। बर्नार्ड के अनुसार हमें ११० मूलप्रवृत्तियाँ माननी चाहिए। ड्रेवर के अनुसार हमें इच्छात्मक[3] और प्रतीकारात्मक[4] नामक मूलप्रवृत्तियाँ माननी चाहिए। मैग्डूगल मूलप्रवृत्तियों की संख्या चौदह तक ही बतलाते हैं। मूलप्रवृत्तियों के सिद्धान्त को मानने वाले मैग्डूगल की ही तालिका की विशेष चर्चा करते हैं, क्योंकि इस तालिका के अन्तर्गत उनके अनुसार सभी मूलप्रवृत्तियाँ निहित हो जाती हैं। मैग्डूगल प्रत्येक मूलप्रवृत्ति के साथ एक सम्बद्ध संवेग की भी चर्चा करता है। नीचे सम्बद्ध संवेगों के साथ उसकी तालिका दी जा रही है:—

मूलप्रवृत्ति	सम्बद्ध संवेग
१– युयुत्सा[5]	क्रोध[6]
२– निवृत्ति[7]	घृणा[8]
३– कौतूहल, जिज्ञासा[9]	आश्चर्य[10]
४– दैन्य[11]	आत्महीनता[12]
५– भोजनान्वेषण[13]	भूख, क्षुधा[14]
६– कामप्रवृत्ति[15]	कामुकता[16]
७– शिशु रक्षण, पुत्र कामना[17]	वात्सल्य, स्नेह[18]
८– संघ-प्रवृत्ति[19]	एकाकीपन[20]
९– पलायन[21]	भय[22]
१०– शरणागति[23]	करुणा, दुख[24]
११– आत्म-गौरव, आत्म-प्रकाशन[25]	आत्माभिमान[26]
१२– विधायकता, रचनावृत्ति[27]	कृतिभाव, रचनाजातआनन्द[28]

1. Self-preservation. 2. Death Instinct. 3. Appetitive. 4. Reactive. 5. Combat. 6. Anger. 7. Rupulsion. 8. Disgust. 9. Curiosity. 10. Wonder. 11. Submission. 12. Negative self-feeling. 13. Food-seeking. 14. Appetite. 15. Sex. 16. Lust. 17. Parental. 18. Tender Emotion. 19. Gregariousness. 20. Loneliness. 21. Escape. 22. Fear. 23. Appeal. 24. Distress 25. Self-assertion or Self-display. 26. Positive Self-feeling. 27. Constructiveness. 28. Feeling of Creativeness.

१३– संग्रह-वृत्ति[1]	प्रभुता, अधिकारभावना[2]
१४– हास[3]	आमोद[4]

मूलप्रवृत्ति प्रकृतिदत्त होती हैं। मानसिक संस्कारों के रूप में प्राणी उसे जन्म से ही ले आता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि सभी मूलप्रवृत्तियाँ बचपन में जागृत रहती हैं। प्रत्येक मूलप्रवृत्ति के अत्यधिक विकास के लिये एक निश्चित समय होता है, और यह प्राणी के विकासावस्थानुसार आया करता है। मूलप्रवृत्तियाँ व्यक्ति के मन में पड़ी रहती हैं। किसी उपयुक्त उद्दीपक के पाने पर वे प्राणी को किसी विशिष्ट पदार्थ की ओर आकर्षित करती हैं। इस पदार्थ की उपस्थिति में उसे एक विशेष प्रकार के संवेग की अनुभूति होती है। इस अनुभूति के कारण वह एक विशिष्ट कार्य की ओर प्रवृत्त होता है। यदि अन्धेरे में रस्सी को देखकर प्राणी को सर्प का भान होता है तो भयवश वह भागने का उपक्रम करता है। यहाँ पर उसकी पलायन की मूलप्रवृत्ति क्रियाशील हुई। भाग जाने की स्वाभाविक क्रिया जिस प्रवृत्ति से होती है उसे पलायन मूलप्रवृत्ति कहते हैं।

प्रकृतिदत्त

मूल प्रवृत्ति द्वारा संचालित क्रिया में व्यक्तिगत भेद नहीं होता। मूलप्रवृत्ति की यह दूसरी विशेषता है। इसका तात्पर्य यह है कि पलायन मूलप्रवृत्ति के जागृत होने पर सभी प्राणियों में भय संवेग उत्पन्न होगा, और इस संवेग के फलस्वरूप वे एक ही प्रकार की क्रिया दिखलाने की ओर अभिप्रेरित होंगे।

मूलप्रवृत्तियाँ आदतों से भिन्न होती हैं। आदतों में वैयक्तिक भेद होता है; परन्तु जैसा ऊपर कहा गया है, मूलप्रवृत्तियों में वैयक्तिक भेद नहीं होता। वे किसी जाति-विशेष के सदस्यों में समान रूप से पाई जाती हैं। इनकी यह तीसरी विशेषता है।

अभ्यास के न रहने पर आदत का लोप हो जाता है। पर मूलप्रवृत्तियों के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। मूलप्रवृत्तियों का लोप नहीं होता। प्रत्येक मूल-प्रवृत्ति की जागृति के लिए विकास की एक विशिष्ट अवस्था होती है। इस अवस्था के आ जाने पर मूलप्रवृत्ति का लोप नहीं होता। इस अवस्था के आने के पूर्व भी मूलप्रवृत्ति का विकास धीरे-धीरे प्रारंभ हो जाता है, क्योंकि उसका विकास यकायक नहीं आरम्भ हो जाता। जैसे आदतों में परिवर्तन लाया जा सकता है उसी प्रकार मूलप्रवृत्तियों में भी कुछ हद तक परिवर्तन लाया जा सकता है। यह

विकास धीरे-धीरे, इसका शोधन सम्भव

---

1. Acquisitiveness. 2. Feeling of Ownership. 3. Laughter. 4. Amusement.

परिवर्त्तन समाज के कल्याण हेतु शिक्षा द्वारा लाया जाता है। इस परिवर्त्तन के सम्भव न होने पर मनुष्य का जीवन पशुवत् होता। इस परिवर्त्तन को मूलप्रवृत्तियों का शोधन[1] कहते हैं। शोधन द्वारा मूलप्रवृत्तियों में परिवर्त्तन ला सकना मूलप्रवृत्ति की चौथी विशेषता है।

सप्रयोजनता

सप्रयोजनता[2] मूलप्रवृत्ति की पाँचवी विशेषता है। मूलप्रवृत्ति सदा किसी प्रयोजन वश ही क्रियाशील होती है। इसकी सप्रयोजनता की एक विशेषता यह है कि जब तक निर्दृष्ट उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो जाती तब तक उसकी क्रिया चलती रहती है। आत्मरक्षार्थ भोजनान्वेषण में लीन प्राणी भोजन खोजकर और खा करके ही दम लेगा। मूलप्रवृत्ति की प्रत्येक क्रिया में कोई न कोई प्रयोजनता निहित रहती है। चिड़िया के घोंसला बनाने अर्थात विधायकता की मूलप्रवृत्ति में शिशु-रक्षण की प्रयोजनता निहित है। इसी प्रकार प्रत्येक मूलप्रवृत्यात्मक क्रिया में कोई न कोई प्रयोजन पाया जा सकता है।

ज्ञानात्मक, संवेगात्मक और क्रियात्मक अंगों का समावेश

किसी मूलप्रवृत्यात्मक क्रिया में ज्ञानात्मक, संवेगात्मक और क्रियात्मक तीनों अङ्गों का समावेश रहता है। मूलप्रवृत्ति की यह छठी विशेषता है। ऊपर यह कहा जा चुका है कि प्रत्येक मूलप्रवृत्ति से सम्बद्ध एक संवेग होता है। इस संवेग की जागृति के लिये एक विशेष कुञ्जी की आवश्यकता होती है। यह कुञ्जी ही उसका ज्ञानात्मक अंग हुआ। उदाहरणार्थ, विधायकता की मूलप्रवृत्ति प्राणी के इच्छानुसार किसी उपयुक्त वस्तु के उपस्थित होने पर ही जागृत होगी। इसी प्रकार अन्य मूलप्रवृत्तियों के विषय में भी कहा जा सकता है। मूलप्रवृत्यात्मक क्रिया के क्रम में जिस भाव की अनुभूति होती है वह संवेगात्मक अंग हुआ। मूलप्रवृत्यात्मक क्रिया को क्रियात्मक अंग कहा जायगा—जैसे 'भागना' पलायन का, 'वस्तु को बनाना' विधायकता का और 'लड़ना' युयुत्सा मूलप्रवृत्तियों के क्रियात्मक अंग हुये।

मनुष्य और पशु की मूलप्रवृत्तियों में भेद

मूलप्रवृत्तियाँ मनुष्य तथा पशुओं दोनों में पाई जाती हैं। परन्तु दोनों में उनके प्रकाशन-विधि में भेद पाया जाता है। पशुओं की मूलप्रवृत्तियों में किसी प्रकार का परिवर्त्तन लाना बड़ा ही कठिन होता है। वस्तुतः पशु और मनुष्य में भेद का प्रधान कारण यह है कि मनुष्य की मूलप्रवृत्तियों का शोधन किया जा सकता है

1. Sublimation of Instinct. 2. Purposiveness.

और पशुओं में यह सम्भव नहीं। उदाहरणार्थ, भूखा कुत्ता अपने से छोटे कुत्ते का भोजन बहुधा छीन ही लेता है और यह उसके लिये क्षम्य माना जाता है। परन्तु सामान्यतः भूखा मनुष्य यदि ऐसा व्यवहार दिखलाये तो उसकी निन्दा की जायगी।

इसके अतिरिक्त मनुष्य और पशु की मूलप्रवृत्तियों का विकास भिन्न-भिन्न रूप से होता है। पशु में मूलप्रवृत्तियों का विकास शीघ्र हो जाता है। मनुष्य में उनके विकास में देर लगती है। प्राणी जितनी उत्कृष्ट कोटि का होता है उसकी मूलप्रवृत्तियों के विकास में उतनी ही देर लगती है। मुर्गी का बच्चा शीघ्र ही अपने उदर के पालन में कूड़े में चोंच का मारना प्रारम्भ कर देता है और हिरण का बच्चा एक ही दिन में चौकड़ियाँ भरने लगता है। परन्तु मनुष्य के बच्चे की इन क्रियाओं में वर्षों लग जाते हैं, क्योंकि वह बहुत दिनों तक असहाय बना रहता है और उसकी मूलप्रवृत्तियों के विकास में देर लगती है। परन्तु यह देर एक वरदान है, क्योंकि इसी देर के कारण उसको शिक्षा देना तथा उसकी मूलप्रवृत्तियों का शोधन करना संभव होता हैं।

मूलप्रवृत्यात्मक क्रिया चेतना और बुद्धि का अभाव नहीं

कुछ लोगों का यह मत भ्रमात्मक है कि मूलप्रवृत्तियों द्वारा अभिप्रेरित क्रिया चेतना से शून्य होती हैं और इसमें बुद्धि का अभाव होता है। ऊपर हम कह चुके हैं कि प्रयोजनता मूलप्रवृत्ति की एक विशेषता है। प्रयोजनता में बुद्धि का एकदम अभाव कैसे सम्भव है? मूलप्रवृत्तियों का शोधन यदि किया जा सकता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि उनमें गत अनुभव से लाभ उठाने की क्षमता होती है। परन्तु यह क्षमता बिना चेतना के कैसे सम्भव हो सकती है?

मूलप्रवृत्तियों का स्वरूप[1]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर मूलप्रवृत्तियों के स्वरूप की ओर इस प्रकार संकेत किया जा सकता हैं:—

१—यह प्रकृतिदत्त होती है।

२—किसी जाति के प्रत्येक प्राणी में पाई जाती है। इसके संचालित क्रिया में वैयक्तिक भेद नहीं पाया जाता।

३—यह आदतों से भिन्न होती है।

१—लेखक की 'मनोविज्ञान और शिक्षा' पृ० १५७-१५८, द्वि० सं०, प्रकाशक—लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, १९५६, आगरा।

४—मूलप्रवृत्तियों में शोधन द्वारा परिवर्त्तन लाया जा सकता है।

५—मूलप्रवृत्यात्मक क्रिया में प्रयोजनता निहित रहती है।

६—इसकी क्रिया में ज्ञानात्मक, संवेगात्मक तथा क्रियात्मक अंगों का समावेश होता है।

७—मूलप्रवृत्तियों में अनुभव से लाभ उठाने की क्षमता होती है।

८—मनुष्य की मूलप्रवृत्तियों में पशुओं की अपेक्षा अधिक परिवर्त्तन लाया जा सकता है।

९—मनुष्य में पशुओं की तुलना में इसका विकास देर से होता है।

१०—इसकी क्रिया में बुद्धि और चेतना का एकदम अभाव नहीं रहता।

मूलप्रवृत्ति की परिभाषा

अब तक जो कुछ कहा गया है उसके आधार पर अब मूलप्रवृत्ति की एक साधारण परिभाषा दी जा सकती है। इसकी परिभाषा तो कई प्रकार से दी गई है। परन्तु सभी परिभाषाओं का समावेश मैग्डूगल[1] के इस कथन में हो जाता है "मूलप्रवृत्ति एक प्रकृतिदत्त शक्ति है। इसके कारण प्राणी किसी वस्तु विशेष को देखकर उसकी ओर स्वभावतः आकर्षित होता है। इस आकर्षण के फलस्वरूप वह एक विशेष प्रकार के भावों और क्रियात्मक प्रवृत्ति का अनुभव करता है। इस अनुभूति के फलस्वरूप वह उपस्थित वस्तु से सम्बन्धित एक विशेष प्रकार की क्रिया में संलग्न होता है।"

मूलप्रवृत्तियों में परिवर्तन

मूलप्रवृत्ति के सिद्धान्त के प्रतिपादियों की धारणा है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास मूलप्रवृत्तियों के परिवर्त्तन पर ही निर्भर करता है। यह परिवर्त्तन अधोलिखित चार विधियों द्वारा सम्भव होता है :—

१—अवदमन[2]

२—विलयन[3]

३—मार्गान्तरी करण[4]

४—शोधन[5]

उपर्युक्त चार विधियों में हम सभी को स्वीकार नहीं कर सकते। नीचे उनके स्वीकार अथवा अस्वीकार करने के कारणों की ओर संक्षेप में संकेत किया जा रहा है।

---

1. *McDougall*—An outline of psychology, p. 110. 2. Repression. 3. Inhibition. 4. Redirection. 5. Sublimation.

अवदमन

मूल्य प्रवृत्तियों को नष्ट करना असम्भव है, क्योंकि वे प्रकृतिदत्त होती हैं। विकास की किसी विशिष्ट अवस्था में उनके समुचित प्रकाशन का अभाव का तात्पर्य उनका लोप नहीं है। वस्तुतः अवसर पर वे फिर जाग्रत हो जाती हैं। अतः मूलप्रवृत्तियों का अवदमन करना व्यर्थ है, क्योंकि उनका अवदमन करना सम्भव ही नहीं। उनका अवदमन करना व्यर्थ ही नहीं वरन् घातक भी है। उनके अवदमन के कुपरिणाम पर मनोविश्लेषणवादियों[1] ने भली-भाँति प्रकाश डाला है। मूलप्रवृत्तियों का अवदमन करना किसी घाटी के स्वाभाविक जलप्रवाह पर बाँध बाँधने के समान है। इस बाँध के तीन फल हो सकते हैं। पहली सम्भावना यह है कि बाँध के पास जल इकट्ठा होता जायगा, और बाँध यदि कमजोर हुआ तो पानी उसे बहा ले जायगा। मूलप्रवृत्तियों के अवदमन का भी पहला परिणाम यही हो सकता है। व्यक्ति समय-समय पर कड़े नियन्त्रण को तोड़ कर अपना वास्तविक व्यवहार भीषण रूप में दिखलाता रहेगा। अतः मूलप्रवृत्तियों का अवदमन करना हानिकर है।

नियन्त्रण को तोड़ भीषण व्यवहार दिखलाना

बाँध की दूसरी सम्भावना यह है कि उसके अधिक दृढ़ होने पर पानी चुपके-चुपके बाँध के नीचे से बह सकता है। इसी प्रकार मूलप्रवृत्तियों के कठिन अवदमन से व्यक्ति चोरी-चोरी से उनके प्रकाशन में रत हो सकता है। चोरी-चोरी से उनका प्रकाशन स्पष्टतः प्रकाशन से कहीं अधिक घातक है, क्योंकि व्यक्ति का इससे नैतिक पतन हो जाता है।

चोरी-चोरी प्रकाशन से नैतिक पतन

बाँध के अत्यधिक दृढ़ होने पर तीसरी सम्भावना यह होगी कि पानी का आगे जाना एकदम रुक जायगा और वह इधर-उधर बह जायगा और आगे का मैदान एकदम सूख जायगा। इसी प्रकार यदि मूलप्रवृत्तियों का घोर अवदमन किया गया तो व्यक्ति का जीवन ही सूख जायगा और उसमें किसी प्रकार का आनन्द उसे न मिलेगा। उसके मस्तिष्क में कई प्रकार की उलझनें आ जायँगी। इन उलझनों से पार पाना उसके लिए अत्यन्त कठिन हो जायगा।

जीवन का नीरस हो जाना

जैसे जलप्रवाह में उसके उद्गम स्थान पर बड़ी सरलता से परिवर्त्तन लाया जा सकता है उसी प्रकार बचपन में मूलप्रवृत्तियों में परिवर्त्तन लाना बड़ा सरल है।

---

1. Psychoanalysis.

फ्रॉयड तथा अन्य मनोविश्लेषकों ने शिक्षा की दृष्टि से बचपन के महत्त्व पर बड़ा जोर दिया है। कहना न होगा कि माता-पिता, अभिभावकों तथा अध्यापकों को बालकों के प्रति अपने व्यवहार में बड़ा मनोवैज्ञानिक होना चाहिए, जिससे उनकी मूलप्रवृत्तियों का अवदमन न हो।

बचपन का महत्त्व

मूलप्रवृत्तियों का अवदमन न करने का अर्थ यह नहीं कि उनकी बागडोर एकदम ढीली कर दी जाय। ऊपर यह कहा जा चुका है कि मूलप्रवृत्तियों का यदि शोधन न हो तो मनुष्य पशुवत् हो जायगा। अतः स्पष्ट है कि मूलप्रवृत्तियों के प्रकाशन–विधि में परिवर्तन लाना बड़ा आवश्यक है। यह परिवर्तन यदि आत्म-संयम के आधार पर लाने का प्रयास किया जाय तो व्यक्तित्व के विकास में बाधा न पड़ेगी।

परिवर्तन आवश्यक

विलयन

विलयन के दो अंग हैं—निरोध और विरोध। निरोध का अर्थ मूलप्रवृत्ति को उत्तेजित होने के लिये अवसर ही न देने से है। यदि काम-प्रवृत्ति को दबाना है तो बालक का वातावरण ऐसा रक्खा जाय कि इसमें इस प्रवृत्ति का जागरण ही न हो। इस उपाय से प्रवृत्तियाँ कुछ निर्बल अवश्य हो सकती हैं; परन्तु उनमें वांछित सुधार की आशा नहीं की जा सकती।

निरोध

'विरोध' का तात्पर्य मूलप्रवृत्ति की कोई विरोधी प्रवृत्ति की जागृति कर देने से है। उदाहरणार्थः काम-प्रवृत्ति को शान्त करने के लिये भय या क्रोध की प्रवृत्ति जागृत कर देना, अथवा प्रयुत्सा को शान्त करने के लिये सहानुभूति स्नेह या खेल की प्रवृत्ति उत्पन्न कर देना। 'विरोध' के उपाय से कुछ सामाजिक परिवर्तन अवश्य लाया जा सकता है; परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इसका प्रभाव स्थाई होगा। परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह उपाय 'निरोध' से अच्छा है, क्योंकि इसमें मानसिक उलझनों के उत्पन्न होने का कम भय रहता है। कारण यह है कि 'विरोध' में मानसिक अतृप्ति उतनी नहीं रहती जितनी कि 'निरोध' में रहती है। परन्तु मूल-प्रवृत्तियों में वांछित परिवर्तन लाने के लिये 'विलयन' का उपाय मान्य नहीं हो सकता।

विरोध

मार्गान्तरीकरण

इस विधि में मूलप्रवृत्ति की प्रकाशन–विधि में परिवर्तन लाने की चेष्टा की जाती

है। यदि यह परिवर्तन समाजोपयोगी कार्य की ओर नियोजित किया गया तो उसी को मूलप्रवृत्तियों का शोधन कहा जायगा। नीचे शोधन पर ही संक्षेप में प्रकाश डाला जायगा।

शोधन

शोधन-विधि में मूलप्रवृत्ति के स्वरूप और प्रकाशन–विधि दोनों में परिवर्तन लाने की चेष्टा की जाती है। यदि व्यक्ति की स्वाभाविक इच्छा की पूर्ति के उद्देश्य से हटाकर मूलप्रवृत्ति की शक्ति सामाजिक हित की दृष्टि से उसके व्यक्तित्व के पूर्ण विकास की ओर नियोजित की जाय तो उसे मूलप्रवृत्ति का शोधन कहा जायगा उदाहरणार्थः युयुत्सा-मूलप्रवृत्ति का शोधन देश व जाति के रक्षार्थ आवश्यक कार्य करने की स्थाई प्रेरणा देने से, कामप्रवृत्ति का शोधन संगीत कला में प्रेम उत्पन्न करने से, पुत्र कामना का शोधन 'उदार चरितानन्तु' 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की मनोवृत्ति देने से किया जा सकता है। ऐसे ही अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं; कामप्रवृत्ति में परिवर्तन लाने के लिये फ्रॉयड ने शोधन-प्रणाली को बड़ा प्रोत्साहन दिया है। शोधन से मूलप्रवृत्तियों के प्रकाशन-पद्धति में एक परिवर्तन आ जाता है। प्रवृत्ति की असंस्कृतता बहुत हद तक दूर हो जाती है। यदि यह कहा जाय कि शिक्षा का उद्देश्य मूलप्रवृत्तियों का शोधन ही करना है तो अत्युक्ति न होगी। पशुओं के सम्बन्ध में शोधन की समस्या नहीं उठती, क्योंकि उनमें शोधन सम्भव नहीं।

व्यक्तित्व-विकास और समाज हित की ओर नियोजन

परन्तु हमें ध्यान रखना है कि शोधन की भी एक सीमा होती है, क्योंकि किसी मूलप्रवृत्ति का पूर्ण शोधन नहीं किया जा सकता। उसका कुछ न कुछ स्वाभाविक अंश अवश्य ही रह जायगा। टेन्सले महोदय इस मत का समर्थन करते हुये कहते हैं कि "मूलप्रवृत्तियों का सम्पूर्णतः मार्गान्तीकरण करने से मन और चरित्र का एकाङ्गी विकास होता है। इसका जीवन में बड़ा भयानक परिणाम हो सकता है। उनके स्वाभाविक प्रवाह को रोक कर हम मूलप्रवृत्तियों को दुर्बल भले ही कर सकते हैं, परन्तु उनका सर्वथा नाश सम्भव नहीं। मूलप्रवृत्तियों के शोधन की एक सीमा होती है। उस सीमा तक शोधन लाभकारी होता है। इस सीमा का अतिक्रमण व्यर्थ सिद्ध होता है। प्रत्येक मूलप्रवृत्ति के दो अंग होते हैं। एक अंग का तो शोधन किया जा सकता है, परन्तु दूसरे का नहीं। यह दूसरा अंग अपने प्रकाशन का मार्ग ढूँढ़ ही लेता है। कदाचित् यही कारण है कि बड़े-बड़े प्रतिष्ठित और

शोधन की भी एक सीमा

महापुरुषों के मुँह से भी हम कभी-कभी अवांछित बातें सुनते हैं, अथवा वे कभी-कभी ऐसा कार्य करते हुये देखे जाते हैं जिसकी प्रशंसा नहीं की जा सकती। ऐसा होना एकदम स्वाभाविक माना जा सकता है, क्योंकि कोई पूर्ण नहीं हो सकता। कुछ न कुछ दोष तो सभी में पाये जाते हैं।

मूलप्रवृत्तियाँ और शिक्षा

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शिक्षा से मूलप्रवृत्तियों का घनिष्ट सम्बन्ध है। कुछ मनोवैज्ञानिक तो शिक्षा को मूलप्रवृत्तियों पर ही आधारित करना चाहते हैं। इस सम्बन्ध में अग्रोलिखित तीन सिद्धान्तों की कल्पना की गई है—

१—मूलप्रवृत्यात्मक क्रियाशीलता का सिद्धान्त[1]

२—मूलप्रवृत्तियों का अस्थायीपन का सिद्धान्त[2]

३—पुनरावृत्ति का सिद्धान्त[3]

नीचे इनकी संक्षेप में व्याख्या की जायगी।

मूलप्रवृत्यात्मक क्रियाशीलता का सिद्धान्त

मूलप्रवृत्तियाँ वरदान-स्वरूप, परन्तु उनका शोधन आवश्यक

इस सिद्धान्त के प्रतिपादियों के अनुसार मूलप्रवृत्तियाँ हमारे लिये वरदान स्वरूप हैं। अतः बच्चों की शिक्षा उन्हीं पर आधारित होनी चाहिए। पर इस सिद्धान्त को कैसे कार्यान्वित किया जाय? इस सम्बन्ध में ऊपर वर्णित शोधन के सिद्धान्त की हमें सहायता लेनी होगी। दूसरे, इस सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है कि मूलप्रवृत्तियाँ प्राणी के मङ्गल हेतु होती हैं, अतः उनकी स्वाभाविक क्रियाशीलता में बाधा नहीं डालनी चाहिये। परन्तु, जैसा ऊपर हमने कहा है, इस बात को पूर्णतः मानने के लिए हम तैयार नहीं हैं, क्योंकि मूलप्रवृत्तियों की बागडोर यदि एकदम ढीली कर दी जाय तो व्यक्ति अधोगति के गर्त में जा सकता है। व्यक्ति के वांछित विकास के लिए उसकी कुछ स्वाभाविक वृत्तियों पर आत्म-नियन्त्रण प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। इस नियन्त्रण से ही उसके व्यक्तित्व का समुचित विकास सम्भव है। हम यह मानते हैं कि मूलप्रवृत्तियाँ हमारे लिए वरदानस्वरूप हैं, क्योंकि उन्हीं के कारण बालकों में इतना सुधार लाना सम्भव होता है। परन्तु उन्हें हमें शोधन की कसौटी पर कसना ही होगा, अन्यथा सभ्यता का विकास रुक जायगा।

---

1. Dynamic Theory of Instincts. 2. Transitoriness. 3. Recapitulation Theory of Instincts.

मूलप्रवत्तियों के अस्थाईपन का सिद्धान्त

जेम्स महोदय इस सिद्धान्त के समर्थक कहे जाते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक मूलप्रवृत्ति के विकास के लिए एक निश्चित समय होता है। जेम्स के अनुसार शिक्षक को इस विकासावस्था को अच्छी प्रकार समझना चाहिये और तदनुसार शिक्षा के उपकरणों का आयोजन करना चाहिये। जैसे, जिज्ञासा-प्रवृत्ति विशेषतः बचपन में अधिक क्रियाशील रहती है। अतः इस प्रवृत्ति से लाभ उठाने के लिये बालक के सामने उचित वातावरण उपस्थित करना चाहिये। उचित वातावरण के मिलने पर जिज्ञासा-प्रवृत्ति का शोधन होगा और बालक विज्ञान, कला, संगीत तथा विश्व की विभिन्न वस्तुओं के लिये जिज्ञासु हो जायगा। इस प्रकार उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास किया जा सकता है। यहाँ तक हमें जेम्स महोदय से विरोध नहीं। परन्तु जब वे कहते हैं कि एक निश्चित समय से मूलप्रवृत्तियों का लोप हो जाता है तो हम उनका समर्थन नहीं कर सकते। ऊपर भी हम संकेत कर चुके हैं कि मूलप्रवृत्तियों का लोप नहीं होता। ह, उनकी अधिकतम क्रियाशीलता का एक निश्चित काल अवश्य होता है। हम यह मानते हैं कि उस काल में उन पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है।

प्रत्येक के अधिकतम विकास के लिये एक निश्चित समय

पुनरावृत्ति का सिद्धान्त

प्राणी-विज्ञान वेत्ताओं का कहना है कि मनुष्य अपनी वर्तमान विकासावस्था पर यकायक नहीं पहुँच गया है, वरन् सभी जीवों की अवस्थाओं से गुजरते हुये वर्तमान अवस्था को वह पहुँचा है। अतएव गर्भ में भी अधिकांशतः उसे इन सभी अवस्थाओं से गुजरना होता है। जन्म हो जाने के बाद भी शिशु को उन सभी अवस्थाओं से गुजरना होता है जिनसे मानव सभ्यता आज तक गुजरी है। अर्थात इन सभी अवस्थाओं की बालक को पुनरावृत्ति करनी होती है। पनुरावृत्तिवादियों के अनुसार बालक की क्रियाओं के सूक्ष्मतम अध्ययन से इन सब बातों की पुष्टि होती है। जंगली मनुष्य तथा अर्द्ध-सभ्य अवस्थाओं को पार करने के बाद ही बालक सभ्य अवस्था पर आता है। प्रत्येक अवस्था में विशेषतः उस काल के अनुरूप क्रियाशीलता उसमें पाई जाती है। अतः उस काल में उस अवस्था से सम्बन्धित बातों को बालक सरलता से सीख सकता है। व्यक्ति की मूलप्रवृत्तियों की विभिन्न विकासावस्था को देख जान पड़ता है कि वे सभ्यता के विकास की विभिन्न अवस्थाओं की पुनरावृत्ति कर रही हैं। अतः प्राणि-

पाठन-विध अच्छी, परन्तु इसके अनुसार पाठ्य-वस्तु नहीं

विज्ञान-वेत्ताओं के अनुसार 'जिस क्रम और जिस रीति से मानव जाति ने शिक्षा पाई है उसी क्रम और रीति से बच्चों की शिक्षा होनी चाहिये' । इस सिद्धान्त के प्रतिवादक हरबर्ट स्पेन्सर कहे जाते हैं, और इसे 'संस्कृति-युग-सिद्धान्त'[1] कहते हैं । इस सिद्धान्त का मनोवैज्ञानिक आधार गलत नहीं जान पड़ता । मनुष्यों ने पहले वस्तुओं के प्रत्यक्षीकरण[2] से ज्ञान प्राप्त किया । पहले उन्होंने उनके रूप, रंग व गुण का ज्ञान प्राप्त किया । अतः बालकों की भी शिक्षा पहले वस्तुओं के प्रत्यक्षीकरण से होनी चाहिए । जहाँ तक विधि का प्रश्न है हमारा इस सिद्धान्त से विरोध नहीं है । परन्तु पाठ्य वस्तु के चुनाव में हम इस सिद्धान्त को नहीं मान सकते । पाठ्य-वस्तु के चुनाव पर हमें बालकों के वर्तमान समाज पर भी ध्यान देना है । आज का समाज आदिकाल के समाज से भिन्न है । स्पष्ट है कि बालक की शिक्षा पुनरावृत्ति सिद्धान्त पर पूर्णतः नहीं आधरित की जा सकती ।

व्यक्तित्व के विकास में मूलवृत्तियों का विशेष हाथ

गत पृष्ठों से स्पष्ट है कि बालक के विकास में मूलप्रवृत्तियों का बड़ा प्रभाव पड़ता है । उसके चरित्र का विकास मूलप्रवृत्तियों की क्रियाशीलता पर आधारित होता है । अतः बालक की मूलप्रवृत्यात्मक क्रियाशीलता से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि बालक किस धातु का बना है । बालक की कुछ क्रियाओं से यह जान पड़ता है कि वह अनैतिक होता है—जैसे सबसे पहले वही कोई वस्तु खाना चाहता है—अथवा अपनी इच्छा की पूर्ति के सामने दूसरों की इच्छाओं की अवहेलना करते वह देखा जाता है वस्तुतः बालक अनैतिक नहीं होता । वह मूलप्रवृत्यात्मक जीव होने के कारण विनैतिक[3] होता है । नैतिकता का विकास उसमें धीरे-धीरे होता है । अथवा बचपन में उसे नैतिकता के पाठ पढ़ाने का तात्पर्य 'भैंस के सामने बीण बजाने' के समान होगा । फ्रोबेल[4] मान्टेसरी[5] तथा डीवी[6] द्वारा प्रतिपादित शिक्षा-प्रणालियों से स्पष्ट है कि इन शिक्षा-विशेषज्ञों ने बालकों की शिक्षा में मूलप्रवृत्तियों पर विशेष ध्यान दिया है । बालकों में जिज्ञासा-प्रवृत्ति बड़ी प्रबल होती है । अपने किसी अभिभावक के साथ होने पर जिज्ञासा-प्रवृत्ति वश वह प्रश्नों की झड़ी लगा देता है । कुछ अभिभावक इससे ऊब कर बालक को चुप करने के लिए डाँट देते हैं । इस प्रकार डाँटना मानो उगते हुए कोपलों का विनाश करना है । इससे बालक के हृदय पर बड़ी ठेस लगती है । वह

मनोवैज्ञानिक व्यवहार आवश्यक

1. Culture Epoch Theory. 2. Perception. 3. Non-moral. 4. Froebel. 5. Montessori. 6. Dewey.

चुप हो जाता है। मानसिक उलझनें उसमें घर करने लगती हैं। हम यह भी देखते हैं कि किसी वस्तु के पाने पर बच्चा उसे नष्ट करने की चेष्टा में हो जाता है। वस्तुतः वह उसे नष्ट नहीं करता, वरन् उसे तो वह अपनी विधायकता की मूलप्रवृत्ति के अनुसार बनाना चाहता है। अतः उसकी इस क्रिया में बिघ्न डालना अमनोवैज्ञानिक होगा। अतः हमें बालकों के साथ अपने व्यवहार में सचेष्ट होकर मनोवैज्ञानिक होना चाहिए।

मूलप्रवृत्तियाँ और शिक्षक

माता-पिता की तरह शिक्षक के भी अमनोवैज्ञानिक हो जाने का बड़ा डर है। अतः उसे भी उपर्युक्त बातों पर ध्यान देना बड़ा ही आवश्यक है। मूलप्रवृत्तियों के शोधन में आवश्यक योग देना ही शिक्षक का प्रधान कर्त्तव्य है। यदि वह इस कर्त्तव्य का पालन कर सका तो उसका शिक्षक होना सफल है। उसे यह समझना चाहिए कि किसी विषय को पढ़ाने के लिए बालक की किस मूलप्रवृत्ति को छेड़ना चाहिए। जैसे, कभी आत्मगौरव प्रवृत्ति को क्रियाशील कर बालक को आगे बढ़ जाने की शिक्षक प्रेरणा दे सकता है। किसी कार्य से बालक को हटते हुये देख शिक्षक उसमें युयुत्सा की मूलप्रवृत्ति जागृत कर उस कार्य में लगे रहने की उसे प्रेरणा दे सकता है। किसी वस्तु के बनाने के लिए बालक में विधायकता की मूलप्रवृत्ति का सहारा लिया जा सकता है। विज्ञान में रुचि उत्पन्न करने के लिए जिज्ञासा-मूलप्रवृत्ति को क्रियाशील किया जा सकता है। इस प्रकार शिक्षक को अपने कार्य में विभिन्न मूलप्रवृत्तियों का सहारा लेना है। उसे समझना है कि किसी मूलप्रवृत्ति का शोधन किस प्रकार किया जा सकता है। अतः स्पष्ट है कि विभिन्न मूलप्रवृत्तियों की क्रियाशीलता के स्पष्ट ज्ञान बिना शिक्षक अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं कर सकता है। उसे यह ध्यान रखना है कि उसका प्रधान कर्त्तव्य मूलप्रवृत्तियों का शोधन ही करना है।

शिक्षक का कर्त्तव्य मूलप्रवृत्तियों का शोधन करना

पाठ्य-वस्तु को कक्षा में रुचिकर बनाने के लिए भी शिक्षक को मूलप्रवृत्तियों का ज्ञान आवश्यक है। मूलप्रवृत्तियों की क्रियाशीलता के विविध स्वरूपों के ज्ञान से शिक्षक में बालमन को समझने की क्षमता आ जाती है। इस क्षमता के बल पर ही यह समझा जा सकता है कि 'कब' 'कौन सा' विषय 'कैसे' पढ़ाना चाहिये। मूलप्रवृत्यात्मक क्रियाशीलता के आधार पर ही बालकों में कुछ आदतें पड़ती हैं। अतः मूलप्रवृत्तियों का नियन्त्रण यदि मनोवैज्ञानिक न हुआ तो

मूलप्रवृत्तियों का आदतों पर प्रभाव

बालक में अच्छी आदतों का विकास न होगा । अवसर के अनुसार किसी मूलप्रवृत्यात्मक क्रिया के कारण अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की आदतें बालक में आ सकती हैं । उदाहरणार्थ : युयुत्सा मूलप्रवृत्ति के कारण बालक अपने से छोटों को सताना अथवा उनके लिये अन्यायियों से लड़ना सीख सकता है । अब यह शिक्षक पर बहुत हद तक निर्भर है कि बालक अच्छी या बुरी आदतें अपनाता है ।

९

ज्ञानेन्द्रियाँ और उनकी शिक्षा[1]

ज्ञानेन्द्रियाँ

वाह्य जगत्-सम्बन्धी सारे ज्ञान हमें ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ही प्राप्त होते हैं। ज्ञानेन्द्रियों के कारण ही हमें गन्ध, ध्वनि, प्रकाश, गर्मी, ठण्डक तथा स्पर्श आदि का ज्ञान होता है। "ज्ञानेन्द्रियाँ विभिन्न नाड़ियों द्वारा मस्तिष्क को सन्देश भेजा करती हैं। जब नाड़ीमण्डल के केन्द्र में ये विभिन्न सन्देश मिश्रित होते हैं और इस मिश्रण के फलस्वरूप पूर्वज्ञान के आधार पर किसी नई बात का हमें सुसंगठित बोध होता है तो उसे प्रत्यक्षीकरण[2] कहा जाता है। परन्तु ये विभिन्न सन्देश अपने पृथक्-पृथक् अस्तित्व में संवेदना[3] कहे जाते हैं।[4]" कहने का अर्थ यह है कि ज्ञानेन्द्रियाँ ही हमारी विभिन्न संवेदनाओं और प्रत्यक्षीकरणों का आधार होती हैं।

संवेदना और प्रत्यक्षी-करण का आधार

ज्ञानेन्द्रियों का वर्गीकरण

वैज्ञानिकों ने ज्ञानेन्द्रियों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है:—

१—दृष्टि-सम्बन्धी—आँख।

२—श्रवण-सम्बन्धी—कान।

३—गन्ध-सम्बन्धी—नाक।

४—स्पर्श-सम्बन्धी—त्वचा।

५—स्वाद-सम्बन्धी—जिह्वा।

नीचे हम प्रत्येक की बनावट और कार्य की ओर अति संक्षेप में संकेत करेंगे।

आँख की बनावट*—

आँख की तुलना फोटो खींचने वाले कैमरा से की जा सकती है। जिस

---

1. The Senses and Their Training. 2. Perception. 3. Sensation.

4. लेखक द्वारा रचित "मनोविज्ञान", पृष्ठ ३२७, आगरा बुक स्टोर्स, आगरा १९५३।

* विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों की बनावटों की विस्तृत व्याख्या के लिए लेखक द्वारा रचित "प्रयोगात्मक मनोविज्ञान" पृ० ५२-१०३ पढ़िए—प्रकाशक-आगरा बुकस्टोर, आगरा १९५४। बनावट—सम्बन्धी नीचे के वर्णन इन्हीं पृष्ठों पर आधारित हैं।

प्रकार कैमरा में एक अन्धेरा प्रकोष्ठ, सामने एक लेंस[1] और एक सूक्ष्मग्राही फिल्म होता है उसी प्रकार प्रकृति ने भी आँख की रचना की है। आँख के प्रकोष्ठ के सामने एक लेन्स होता है और इसके पीछे एक चित्रपट[2] होता है। लेन्स की सहायता द्वारा देखी हुई वस्तु का चित्र आँख की चित्रपट पर पड़ता है। आँख का प्रकोष्ठ कुछ गोलाकार होता है। यह प्रकोष्ठ एक विशेष प्रकार के तरल पदार्थ से भरा रहता है। इस तरल पदार्थ के कारण ही इसका गोलापन बना रहता है। प्रकोष्ठ वाले पदार्थ से भिन्न लैन्स में एक दूसरे प्रकार का पारदर्शक पदार्थ भरा रहता है। दूरबीन से यह देखा जा सकता है कि चित्रपट तंतुकोषों[3] से बना होता है। चित्रपट की बनावट बड़ी ही जटिल होती है। इसकी रचना में कई प्रकार के कोषों का योग रहता है। परन्तु प्रकृति का ऐसा प्रबंध है कि बहुत सी प्रक्रियाओं[4] में चित्रपट एक इकाई में ही कार्य करता है। चित्रपट-सम्बन्धी विभिन्न कार्यों को अभी तक अच्छी प्रकार नहीं समझा जा सका है। अन्वेषण के आधार पर यह माना जाता है कि चित्रपटीय लम्ब[5] भाग रात के समय और चित्रपटीय शंकु-भाग[6] दिन के समय दृष्टि का काम करता है।

दृष्टि[7] दो प्रकार की होती है पहला प्रकार रंग-सम्बन्धी कहा जाता है। रंग-सम्बन्धी दृष्टि के लिए अधिक प्रकाश की आवश्यकता होती है। यदि प्रकाश पर्याप्त न हुआ हमें रंग की पहचान न होगी। लाल, हरे, पीले तथा नीले रंगों के सम्बन्ध में यह बात अधिक लागू होगी। दृष्टि के दूसरे प्रकार की श्रेणी में काले, भूरे और सफेद रंग लिये जाते हैं। इन रंगों के लिए अनुपाततः कम उद्दीपन[8] की आवश्यकता होती है।

कान की बनावट और उसका कार्य

आँख का सम्बन्ध प्रायः वस्तुओं से होता है, परन्तु कान का सम्बन्ध ध्वनियों से होता है। हमारा कान सभी प्रकार की ध्वनियों से आकर्षित होता है चाहे वे जड़ से आवें या चेतन से। श्रवण-शक्ति दृष्टि-शक्ति से कम महत्त्वपूर्ण नहीं। कुछ लोगों के लिये तो श्रवण-शक्ति का ह्रास दृष्टि-शक्ति के ह्रास से अधिक दुखदायी जान पड़ता है। यह कभी-कभी देखा भी जाता है कि अन्धे आदमी की अपेक्षा बहरा आदमी वातावरण में अपने को कम व्यवस्थित कर पाता है। उसकी भावनाएँ और रुचियाँ पनपने के पहले ही कुण्ठित हो जाती हैं।

---

1. Lens. 2. Retina 3. Nerve cells. 4. Processes. 5. Retinal Rod. 6. Retinal Cone. 7. Vision. Stimulation.

कान की संवेदनशीलता[1] आश्चर्यजनक है। एक ग्राम[2] के ·०००००३ हिस्से के भार के प्रति कान अपनी प्रतिक्रिया दिखला पाता है। हवा के साधारण से साधारण धक्के का पता कान के परदे को चल जाता है। परीक्षणों द्वारा देखा गया है कि निर्बलतम ध्वनि के सुनने के समय कर्णपट के अन्तस्तल की चाल एक इञ्च का ·०००००००००१वाँ भाग होती है। इसके विपरीत कान १००००००००० गुना भार के प्रति भी अपनी प्रतिक्रिया दिखला सकता है। परन्तु इससे इतनी तीव्र ध्वनि हो सकती है कि कान का परदा फट सकता है। स्पष्ट है कि कान की ग्राहकता का विस्तार बहुत ही बड़ा है। अति तीव्र ध्वनि से कान अपनी रक्षा कर लेता है। कान ध्वनियों को ग्रहण कर उन्हें मस्तिष्क को भेजता है। और उनकी विभिन्नताओं की परख में मस्तिष्क की वह सहायता करता है। इस प्रकार कान के दो काम हुए:— १. ध्वनिओं को पकड़ कर उन्हें 'तंतु-संदेशों'[3] के रूप में बदलना, और २. विभिन्न ध्वनिओं के प्रति विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियायें दिखलाना जिससे उनका विश्लेषण और परख ठीक-ठीक की जा सके।

कान ध्वनि की तीव्रता अथवा ऊँचाई को कैसे पकड़ पाता है? इस प्रश्न के उत्तर के लिये कान के कुछ अंगों के कार्य को हमें समझना होगा। कान के विभिन्न अंगों को समझना बड़ा ही कठिन है, क्योंकि इसके आंतरिक अंग सिर की हड्डियों में स्थित हैं। कान के आंतरिक सूक्ष्म अंगों के विषय में शरीर-रचना विशेषज्ञों[4] में मत-भेद पाया जाता है। इस मतभेद के दो कारण हो सकते हैं, १—या तो सिर की हड्डियों की चीर-फाड़ के क्रम में अनजान में उन्होंने कान के सूक्ष्म अंगों को घायल कर दिया, अथवा चीर-फाड़ के क्रम में ये सूक्ष्म अंग स्वयं छिन्न-भिन्न हो गये। फलतः कान के बारे में बहुत सी बातें अनुमान पर ही आधारित हैं। कान को तीन अंगों में बाँटा जा सकता है: १ वाह्य कान,[5] २ मध्य कान[6] और आंतरिक कान[7]।

वाह्य कान

वाह्य कान का कार्य ध्वनि को ग्रहण करना है। इस अंग से ध्वनि के उद्गम-स्थान को समझने में सहायता मिलती है। वाह्य कान से लगी हुई एक कान नहर[8] होती है जो ध्वनि के भार को ७-८ गुना बढ़ा देती है। कान नहर के अंत में कान का पर्दा[9] होता है। इस परदे का क्षेत्रफल बहुत ही छोटा होता है। ध्वनि-ग्रहण के समय इस परदे में कोई विशेष तनाव नहीं आता। इसकी संवेदनशीलता इतनी अधिक है कि फट जाने पर भी सुनने में यह सहायता करता है।

---

1. Sensativeness. 2. तौल की एक इकाई 3. Nerve Messages. 4. Anatomists. 5. Outer Ear. 6. Middle Ear. 7. Inner Ear. 8. Ear Canal. 9. Ear drum.

मध्य कान

मध्यकान हवा से भरी हुई एक ऐसी छोटी बिल है जो हड्डियों से घिरी रहती है। इसका सम्बन्ध नाक के पिछले भाग से कुछ होता है। इसका प्रधान कार्य आई हुई ध्वनि को आन्तरिक कान के बिन्दु पर अधिक से अधिक प्रभावशाली बनाना है।

आन्तरिक कान

आन्तरिक कान में छोटे-छोटे बहुत से सूक्ष्मग्राही कोष होते हैं। ये कोष एक प्रकार के तरल पदार्थ में डूबे रहते हैं। इस तरल पदार्थ की गति पर ही इन कोषों का उद्दीपन निर्भर करता है। कुछ दबाव पड़ने पर ही यह तरल पदार्थ गतिशील हो सकता है। कान के परदे पर जब हवा का दबाव पड़ता है तो इस तरल पदार्थ पर भी दबाव आ जाता है। आन्तरिक कान में 'घोंघे' की सूरत का एक कोष्ठ[1] होता है। इस कोष्ठ में ही एक तरल पदार्थ विद्यमान रहता है। इस तरल पदार्थ के उद्दीपन पर ही ध्वनि की ऊँचाई और तीव्रता निर्भर करती है।

जिह्वा और नाक

जिह्वा और नाक से हम केवल बाह्य वातावरण का ही ज्ञान नहीं प्राप्त करते, वरन् शरीर के अन्दर होने वाली कुछ रासायनिक क्रियाओं का भी हमें ज्ञान हो जाता है। जिह्वा में स्वाद-संवेदना के ग्राहक स्वरूप छोटे-छोटे कोषों की 'स्वाद-कलियाँ'[2] होती हैं। ये कोष जिह्वा की सतह तथा कण्ठ के आस-पास के स्थानों पर होते हैं।

गन्ध-संवेदना को ग्रहण करने के लिये नासिका-पथ[3] के ऊपरी भाग में सूत की तरह छोटे-छोटे कोष[4] होते हैं। गन्ध-सम्बन्धी हवा नाक अथवा मुँह दोनों में जा सकती है और जाती है। कभी-कभी ऐसा हो सकता है कि स्वांस-सम्बन्धी हवा गन्ध-सम्बन्धी ग्राहकों के पास न पहुँचे। परन्तु छींक से नाक का ऊपरी भाग प्रभावित हो जाता है। अतः छींक के समय गन्ध-संवेदना के ग्राहक भी उत्तेजित हो जाते हैं। सुगन्ध देने वाले बहुत से पदार्थ स्वाद-संवेदना को भी जागृत कर सकते हैं। यह कहा जाता है कि गन्ध की ज्ञानेन्द्रिय में स्वाद की ज्ञानेन्द्रिय की अपेक्षा अधिक संवेदनशीलता होती है। मुँह और नाक की श्लेष्मायुक्त झिल्लियों में ठण्डक, गर्मी, स्पर्श तथा दबाव-सम्बन्धी संवेदनशीलता की शक्ति होती है।

---

1. Cochlea. 2. Taste Buds. 3. Nasal Passage. 4. Cell.

त्वचा

त्वचा अथवा स्पर्श की ज्ञानेन्द्रिय से हमें चार प्रकार की संवेदनाओं की अनुभूति होती है :—भार[1], दर्द[2], ठण्डक[3], और गर्मी[4]। त्वचा में कई प्रकार के ग्राहक[5] होते हैं। वाह्य रूप से त्वचा की बनावट कई प्रकार की दिखलाई पड़ती है। कहीं झुर्रीदा, कहीं तना हुआ, कहीं पतला, कहीं मोटा, कहीं लचीला, कहीं बाल-विहीन और कहीं अत्यधिक बालों से घिरा हुआ। त्वचा में लगे हुए तन्तुओं[6] में भी बड़ा विभेद पाया जाता है। होंठ तथा अँगुलियों के अग्र भाग में बहुत सी तन्तुओं की समाप्तियाँ[7] होती हैं, परन्तु पीठ में तन्तुएँ बहुत दूर-दूर पर पाई जाती हैं। अत: शरीर के विभिन्न स्थलों पर स्पर्श-संवेदनशीलता में भेद पाया जाता है। त्वचा की सतह पर स्थित विभिन्न तन्तुओं की सहायता से चर्म-सम्बन्धी संवेदनाओं का अनुभव होता है।

ज्ञानेन्द्रियों के उपर्युक्त विवेचन के बाद नीचे हम उनकी शिक्षा पर कुछ विचार करेंगे।

ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा[8]

ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से ही हम विभिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ प्राप्त करते हैं। ज्ञानेन्द्रियों का विकास धीरे-धीरे होता है। यही कारण है कि बालकों का अनुभव सीमित होता है। ज्यों-ज्यों उसकी ज्ञानेन्द्रियों की संवेदनशीलता तीक्ष्ण होती जाती है उसकी अनुभूतियाँ बढ़ती जाती हैं। बालक को सबसे पहले स्पर्श-ज्ञान होता है। सबसे पहले स्पर्श-ज्ञान द्वारा वह अपनी माँ को पहचानने में सफल होता है। स्पर्श-ज्ञान के बाद दृष्टि-ज्ञान का नाम लिया जा सकता है। दो-तीन महीने का शिशु प्रकाश से आकर्षित होने लगता है। कमरे में जलते हुए दीपक को वह एक टक देखता रहता है। दीपक के हटा लेने पर कभी-कभी वह रोने भी लगता है। पाँच-छः महीने का शिशु रंगीन खिलौने को देख कर उस ओर आकर्षित होता है। धीरे-धीरे दृष्टि-ज्ञान की दूरी बढ़ने लगती है और दूर से ही देखने पर शिशु अपनी माँ को पहचान जाता है। आठ-दस महीने का शिशु कुछ विशिष्ट ध्वनियों को पहिचानने लगता है। माँ तथा परिचितों की आवाज सुनकर वह उनका आना पहचान जाता है। इसी समय से

ज्ञानेन्द्रियों का विकास एक क्रम में, शिक्षा इसी क्रम के अनुसार

1. Pressure. 2. Pain. 3. Cold. 4. Warmth. 5. Receptors. 6. Nerve Fibres. 7. Terminations.

८. लेखक द्वारा रचित "मनोविज्ञान और शिक्षा" पृष्ठ:४७७-४८०, द्वि० सं० पर आधारित प्रकाशक : लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, १९५६।

सुरीले शब्दों से भी वह आकर्षित होने लगता है। उदारहरणार्थ; सीटी की आवाज अथवा सितार या हारमोनियम ऐसे बाजों के स्वरों से वह मुदित होते दिखलाई पड़ता है, और वह भी वैसा ही स्वर उत्पन्न करने की चेष्टा करता है। स्वाद की पहचान बालक प्राय: एक वर्ष के बाद ही कर पाता है; यों तो अरुचिकर वस्तु मुँह में जाने पर वह उसे एक वर्ष की अवस्था के पूर्व भी उगल देने में समर्थ होता है। परन्तु स्वादों का नामकरण वह दो वर्ष की उम्र के बाद ही कर पाता है। गन्ध की पहचान कदाचित् उसे सबसे बाद में होती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि बालकों की ज्ञानेन्द्रियों का विकास एक क्रम में होता है। शिक्षा में इस क्रम पर ध्यान देना बड़ा आवश्यक है।

ज्ञानेन्द्रियों को शिक्षित करने के पूर्व उनके स्वास्थ्य की परीक्षा कर लेना बड़ा आवश्यक है। यदि बालक की आँख कमजोर हुई अथवा उसके कान में कुछ दोष हुआ तो शिक्षक का परिश्रम अपेक्षित फल न दे सकेगा। इस विषय में डाक्टर की सहायता आवश्यक होगी। ज्ञानेन्द्रिय के दोष का पता लग जाने पर, शिक्षण के क्रम में शिक्षक को उचित है कि दोषयुक्त ज्ञानेन्द्रिय वाले बालकों को कक्षा में बैठने के लिए उचित स्थान निर्धारित करे। उदाहरणार्थ: ऊँचा सुनने वाले विद्यार्थियों को आगे और कम देखने वाले छात्रों को आगे या बीच में आवश्यकतानुसार बैठाया जा सकता है।

ज्ञानेन्द्रियों के स्वास्थ्य की परीक्षा और कक्षा-शिक्षण में उन पर ध्यान

प्राय: बालक बड़ा ही चञ्चल होता है। वह हर समय कुछ न कुछ करते ही रहना चाहता है। कदाचित् प्रकृति की ऐसी इच्छा भी है जिससे बालक इधर-उधर जाकर अपने ज्ञानेन्द्रियों को अधिक से अधिक विकसित करले। अत: माता-पिता तथा अध्यापकों को उचित है कि वे बालकों की स्वाभाविक क्रियाशीलता में किसी प्रकार का विघ्न न डालें, अन्यथा बालकों के मनोविकास की गति रुक जायगी। ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा के लिए समुचित वातावरण के आयोजन की आवश्यकता है। जो अभिभावक अपने बालकों के खेलों के लिए उपयुक्त आयोजन की चिन्ता करते हैं वे उनके विकास में बड़ा भारी योग देते हैं, क्योंकि खेल ज्ञानेन्द्रियों के विकास का बड़ा भारी साधन है। बालकों का वातावरण ऐसा हो कि वे चुप न बैठ सकें और हर समय किसी न किसी खेल अथवा कार्य में वे क्रियाशील रहें।

उचित खेल का आयोजन

फ्रोबेल और मान्तेसरी ने ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा पर विशेष बल दिया है। इस विषय में मान्तेसरी फ्रोबेल से बढ़ जाती है। मान्तेसरी अपने शिक्षा-सिद्धान्तों के

निर्माण में सिगमण्ड फ्राएड की खोजों से बड़ी प्रभावित हुई है। फ्राएड का कहना है कि मन्द-बुद्धि बालकों की शिक्षा का आधार ज्ञानेन्द्रियों को ही बनाना चाहिए, क्योंकि उन्हीं के विकास से उनके बुद्धि और कल्पना का विकास कुछ हद तक हो सकता है।

मान्तेसरी प्रणाली

मान्तेसरी का मत है कि ढ़ाई से सात वर्ष की उम्र के बालकों को व्यावहारिक शिक्षा देनी चाहिए, क्योंकि इससे उनकी ज्ञानेन्द्रियों का अधिकतम विकास हो सकता है। ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा के लिए मान्तेसरी ने विभिन्न साधनों की ओर संकेत किया है। मान्तेसरी सबसे पहले बच्चों को रूप और आकार का ज्ञान देना चाहती है। इसके लिए बच्चों से कमरे में रक्खी हुई कुर्सी, मेज तथा अन्य वस्तुयें ठीक से रखवानी चाहिए। इसके बाद दरवाजा लगाना, खोलना तथा फीता आदि बाँधना सिखलाया जाता है। लकड़ो के छोटे व बड़े टुकड़ों से उन्हें लम्बाई व चौड़ाई का ज्ञान दिया जाता है। इस प्रकार उनकी दृष्टि-ज्ञानेन्द्रिय शिक्षित की जाती है। रंग का ज्ञान देने के लिए उनके सामने विभिन्न रंग के चौंसठ कार्ड रक्खे जाते हैं। रंग को पहचान कर वस्तु का नाम बतलाने के लिए उन्हें उत्साहित किया जाता है। कोमल, कठोर, ठण्ढी तथा गर्म वस्तु के सहारे उनके स्पर्शेन्द्रिय को शिक्षित किया जाता है। मान्ते-सरी का विश्वास है कि एक बार एक ही ज्ञानेन्द्रिय को शिक्षा देने का प्रयास करना चाहिए, क्योंकि ज्ञानेन्द्रियाँ इससे अधिक प्रबल होती हैं। परन्तु ज्ञानेन्द्रियों को अलग-अलग शिक्षित करने के सिद्धान्त से हम सहमत नहीं हो सकते क्योंकि उन्हें अलग करना अत्यन्त कठिन है। ज्ञानेन्द्रियाँ एक दूसरे से स्वतंत्र नहीं होतीं, क्योंकि एक की क्रियाशीलता का दूसरे पर प्रभाव पड़ता ही है।

श्रवण-ज्ञानेन्द्रिय की शिक्षा के लिए डिब्बों में बालू तथा अनाज के दाने बन्द करके बजाए जाते हैं। छोटी-छोटी टिकियों से उन्हें तौल का ज्ञान दिया जाता है। उपर्युक्त बातों से जान पड़ता है कि ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा के सम्बन्ध में हमें मान्तेसरी से कुछ प्रेरणा लेनी ही होगी। मान्तेसरी प्रणाली में, जैसा ऊपर कहा गया है, कुछ दोष अवश्य हैं। परन्तु बालकों की ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा में उनकी उपयोगिता को हम सर्वथा अस्वीकार नहीं कर सकते। मान्तेसरी स्कूलों से प्राप्त फल इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं।

१

आदत और चरित्र का निर्माण[1]

आदत और चरित्र में भेद

आदत और चरित्र एक दूसरे से सम्बन्धित जान पड़ते हैं, क्योंकि एक का दूसरे पर प्रभाव पड़ता ही है। इस धारणा के आधार पर कुछ लोगों ने चरित्र को आदतों का पुञ्ज और आदतों को व्यक्ति का दूसरा स्वभाव माना है। परन्तु इस धारणा से पूर्णरूपेण हम सहमत नहीं हो सकते; यद्यपि हम यह मानते हैं कि आदतों का व्यक्ति के चरित्र पर अवश्य प्रभाव पड़ता है। आदत और चरित्र में बड़ा भेद है। आदतें यांत्रिक होती हैं। उन पर निर्भर नहीं रहा जा सकता. अनुकूल परिस्थिति के अभाव में वे हमारी सहायता नहीं कर सकतीं। परन्तु चरित्र के विषय में ऐसी बात नहीं कही जा सकती। चरित्र तो सदा हमारे साथ रहता है। हमारे प्रत्येक गति का उससे घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। आदत से व्यक्ति को कोई ऐसी शक्ति नहीं प्राप्त होती जिससे उसके सारे कार्य निर्धारित होते रहें। परन्तु चरित्र तो व्यक्ति के सारे जीवन-सिद्धान्त का निचोड़ होता है और उसी के अनुसार वह अपने जीवन का विभिन्न व्यापार चलाता रहता है। विवेक के अनुसार जो कार्य किया जाता है उससे अच्छी आदतें पड़ने की सम्भावना रहती है; और तब ये अच्छी आदतें हमारे चरित्र के अंग हो सकती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि चरित्र और आदतों में घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी वे एक दूसरे से भिन्न हैं। नीचे के विवरण से दोनों के स्वरूप और दोनों के भेद का स्पष्टीकरण स्वतः हो जायगा।

आदत

मूलप्रवृत्ति[2] से आदत की तुलना से आदत का स्वरूप स्पष्ट हो जायगा। अतः नीचे हम इसी तुलना पर रहे हैं।

आदत और मूलप्रवृत्ति

व्यक्ति में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ मानी जा सकती हैं:—स्वाभाविक और

---

1. Habit and Character Formation. 2. Instinct.

अर्जित । मूलप्रवृत्तियाँ स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं और आदतें अर्जित । प्राणी मूलप्रवृत्तियाँ अपने जन्म के साथ लाता है, परन्तु आदतें वह जन्म के बाद सीखता है। मूलप्रवृत्तियों की तरह आदतें भी पशु और मनुष्य दोनों में पाई जाती हैं। परन्तु अर्जित होने के कारण प्राणियों और व्यक्तियों की आदतों में भारी भेद पाया जाता है। जिस प्रकार मूलप्रवृत्तियों के वशीभूत हो प्राणी विभिन्न कार्य किया करता है; उसी प्रकार आदतों के वश भी विभिन्न कार्यों की ओर वह अभिप्रेरित होता है। उदाहरणार्थ, अफीम और शराब सेवन के आदत के वशीभूत व्यक्ति निश्चित समय पर उसका सेवन करेगा ही। एक स्थान पर भूसा खाने वाला बैल छूटने पर भूसा खाने के लिये उसी स्थान पर आता है।

एक अर्जित और दूसरी स्वाभाविक, दोनों से व्यक्ति अभिप्रेरित

आदत किसी मूलप्रवृत्ति की प्रेरणा-स्वरूप पड़ सकती है। अतः आदत पड़ने की कोई स्वतंत्र प्रेरणा मानना कठिन है। परन्तु इसका तात्पर्य यह न समझना चाहिए कि आदत का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं। जैसा ऊपर कहा गया है, आदत भी व्यक्ति को किसी विशिष्ट क्रिया-शीलता की ओर अभिप्रेरित करती है। मूलप्रवृत्ति की तरह आदत भी व्यक्ति के मानसिक संस्कार का एक अंग हो जाती है, क्योंकि आदतवश व्यक्ति एक निश्चित समय पर एक निश्चित क्रियाशीलता के लिये अभिप्रेरित होता ही है। जिसे सुबह अखबार पढ़ने की आदत है, वह सुबह बिना अखबार पढ़े चैन नहीं पा सकता। जिसे शाम को संगीत-चर्चा की आदत है वह शाम को संगीत-चर्चा में लीन होगा ही।

आदतें भी हमारे मानसिक संस्कार का अंग

मनुष्य में आदतों का विकास अधिक सम्भव होता है, क्योंकि उसकी मूल-प्रवृत्तियों में पशुओं की अपेक्षा अधिक परिवर्तन लाया जा सकता है। किसी कार्य का प्रभाव हमारे मस्तिष्क के ज्ञात चेतना और अज्ञात चेतना दोनों भागों पर पड़ता है। परन्तु यह प्रभाव जितनी ही दृढ़ता से अज्ञात चेतना पर पड़ता है उतनी ही दृढ़ता से आदत पड़ती है। इस प्रकार आदत का पड़ना व्यक्ति के विभिन्न प्रकार के अनुभवों पर निर्भर करता है।

अनुभवों पर निर्भर

आदत की विलक्षणतायें[1]

आदतों की अधोलिखित चार विलक्षणताओं की ओर बहुधा संकेत किया जाता है :—

१--एकरूपता[2]

1. Characteristics of Habits. 2. Uniformity.

२—सुगमता[1]
३—रूझान[2]
४—ध्यान स्वातन्त्र्य[3]

१. एकरूपता

आदतवश व्यक्ति जो काम करता है उसमें बहुधा एकरूपता होती है। आदतवश व्यक्ति एक विशिष्ट प्रकार से लिखता है, चलता है, बोलता है, अथवा बैठता है। अतः उसके इन सब कार्यों में एकरूपता पाई जाती है। 'लिखावट' अथवा 'चलना' आदि देखकर हम यह पहचान जाते हैं कि वह लिखावट अथवा चलना किसका है।

२. सुगमता

आदतवश किये जाने वाले कार्य में व्यक्ति बड़ी सुगमता का अनुभव करता है। आदत डालने में तो अवश्य कठिनाई होती है, परन्तु आदत पड़ जाने पर कार्य बड़ा ही सुगम हो जाता है। उदाहरणार्थ; आदत के पड़ जाने पर तबला बजाना अथवा टाइप करना बड़ा सुगम हो जाता है।

३. रूझान

आदत पड़ जाने पर किसी कार्य के लिये व्यक्ति की एक रूझान हो जाती है। समाचार-पत्र पढ़ने की आदत पड़ जाने पर व्यक्ति की उस ओर एक रूझान हो जाती है और उसके बिना उसे चैन नहीं मिलता। स्कूल जाने की आदत पड़ जाने पर स्कूल जाने के लिए बालक में एक रूझान आ जाती है। आदत पड़ने के पूर्व जो कार्य व्यर्थ और अरुचिकर लगता है वही आदत पड़ जाने पर रुचिकर हो जाता है और व्यक्ति में उसके लिए एक रूझान उत्पन्न हो जाती है।

४. ध्यान-स्वातन्त्र्य

आदतवश किये जाने वाले कार्य में ध्यान देने की आवश्यकता नहीं होती। स्त्रियाँ आदतवश स्वेटर बुनते समय बातचीत करती रहती हैं, क्योंकि स्वेटर बुनने में अब उन्हें ध्यान देने की आवश्यकता नहीं।

आदत का हमारे जीवन में महत्त्व

हमारे अनेक आचरण हमारी विभिन्न आदतों द्वारा नियन्त्रित होते हैं। यदि कोई बुरी आदत पड़ गई तो उससे पिण्ड छुड़ाना बड़ा ही कठिन होता है। बीड़ी,

1. Fecility. 2. Propensity. 3. Independence of attention.

सिगरेट तथा अन्य मादक वस्तुओं की आदत पड़ जाने पर उन्हें छोड़ना व्यक्ति के लिए बड़ा ही कठिन हो जाता है। पिंजड़े से छोड़ा हुआ तोता फिर पिंजड़े में ही आ बैठता है। अभ्यस्त घोड़ा स्वतः स्वामी को घर पहुँचा देता है। जब पशु का जीवन आदतों से इतना प्रभावित होता है तो मानवीय जीवन का क्या कहना? बहुत दिन तक जेल में रहने वाले कैदी मुक्त किये जाने पर फिर जेल में ही रहने की इच्छा प्रगट किये हैं। फ्रान्स की राजक्रान्ति में वर्षों बाद बेस्टील नामक कारागृह से मुक्त किये जाने पर कैदियों ने बेस्टील में ही जीवन बिता देने की इच्छा प्रकट की। ग्राम्य-जीवन से अभ्यस्त व्यक्ति शहरी जीवन से दूर रहना चाहता है। यदि प्रारम्भ में ही बालकों में कुछ अच्छी आदतें डाल दी जाती हैं तो वे उनमें स्थाई हो जाती हैं। बालक के मस्तिष्क में संस्कारों का प्रभाव बड़े शीघ्र पड़ता है। अतः बचपन में आदतों का डालना बड़ा सरल होता है। इसीलिए तो बच्चे पढ़ना-लिखना शीघ्रतर सीख लेते हैं, और प्रौढ़ों को सीखने में बड़ी कठिनाई होती है। संगीत का थोड़ा-थोड़ा नित्य अभ्यास करते रहने से कोई व्यक्ति कभी बड़ा संगीतज्ञ हो सकता है। लिखने का अभ्यास करते रहने से एक दिन लेखक बन जाना सम्भव हो सकता है। अतः आदत से हम अपनी शक्तियों का संचय और वृद्धि कर सकते हैं। पर हमें आदत का कभी दास नहीं होना है। आदत का स्वामी बनना आवश्यक है। आदत का दास बन जाने पर व्यक्ति को बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। ऐसा प्रत्येक पाठक का अनुभव होगा।

शक्ति का संचय और वृद्धि, आदत का दास नहीं

आदत डालने के नियम

विलियम जेम्स ने आदत डालने के लिए चार नियमों का उल्लेख किया है। उन्हें यहाँ दे देना उपयुक्त दिखलाई पड़ता है:—

१. संकल्प की दृढ़ता

आदत डालने में संकल्प की दृढ़ता का बड़ा भारी महत्त्व है। संकल्प करने से व्यक्ति अपने में क्या-क्या आदतें नहीं डाल सकता? संकल्प कर लेने के बाद यह चेष्टा होनी चाहिए कि आदतें डालने का एक अवसर भी हाथ से न जाने पावे। अच्छा होगा यदि बालक को किसी विशिष्ट आदत की जीवन में उपयोगिता समझा दी जाय। इस प्रकार का समझाना उपदेश के रूप में नहीं होना चाहिए। यदि इस सम्बन्ध में महापुरुषों के जीवन से दृष्टान्तों का सहारा लिया जाय तो बालकों में अच्छी आदतों के डालने की संकल्प-दृढ़ता आ जायगी।

उपयोगिता समझाकर महापुरुषों के जीवन से उदाहरण देना

२. कार्यशीलता

सामने आदर्श रख देने के बाद उसके कार्यान्वित करने के लिए बालक को समुचित प्रेरणा देना आवश्यक है। कोरे आदर्शों और सिद्धान्तों से काम नहीं चलता। उनके अनुसार कार्य करना आवश्यक है, अन्यथा वांछित आदत न पड़ सकेगी। कभी-कभी देखा जाता है कि कुछ अभिभावक और शिक्षक बालकों के समक्ष लम्बी-लम्बी बातें कर जायेंगे, परन्तु अपने सिद्धान्तों के अनुसार चलने में बड़े असमर्थ दिखलाई पड़ते हैं। ऐसे लोगों से बालक अच्छी आदत के बदले बुरी ही आदतें सीखता है। अतः अच्छी आदत डालने के लिए यह आवश्यक है कि किसी विशिष्ट आदर्श के प्रति अभिभावक स्वतः क्रियाशील रहते हुए बालकों को उसे अपनाने के लिए आवश्यक प्रेरणा दें।

३. संलग्नता

संलग्नता बिना आदत का पड़ना बड़ा कठिन है। कार्य प्रारम्भ कर देने के बाद उसमें संलग्न रहना तब तक आवश्यक है जब तक आदत पक्की न हो जाय। अरस्तू ने ठीक ही कहा है कि गुण के लिए कभी भी अवकाश नहीं है।

४. अभ्यास

आदत पड़ जाने पर उसका जारी रखना बड़ा आवश्यक है, अन्यथा आदत गायब हो सकती है। यह प्रायः प्रत्येक पाठक का अनुभव होगा कि किसी कार्य का अभ्यास छूट जाने पर तत्सम्बन्धी आदत का लोप हो जाता है। संगीतज्ञ जब अभ्यास छोड़ देता है तो वह राग भूलने लगता है। अभ्यास के अभाव में टाइपिस्ट और स्टेनोग्राफ़र की गति बड़ी धीमी पड़ जाती है। स्पष्ट है कि आदत को पुष्ट रखने के लिए उसका अभ्यास करते रहना आवश्यक है।

बुरी आदतें स्वतः क्यों आ जाती हैं ?

मनोविश्लेषकों की खोज से उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर हमें मिलता है। कुछ लोगों में अनायास कुछ बुरी आदतें मिलती हैं। उन्होंने जान बूझकर उन्हें अपनाने के लिए निरन्तर अभ्यास उस प्रकार नहीं किया है जैसे संगीतज्ञ या टाइपिस्ट करता है। मनोविश्लेषकों का कहना है कि ये आदतें कुछ ऐसी मानसिक उलझनों[1] के कारण पड़ती हैं जिनसे व्यक्ति अपनी चेतना[2] में अवगत नहीं रहता। इन मानसिक उलझनों के सुलझाव से ही उन बुरी आदतों से व्यक्ति

मानसिक उलझनों के कारण

1. Complexes (भावनाग्रन्थियाँ). 2. Consciousness.

का छुटकारा हो सकता है। मनोविश्लेषणवाद[1] के अनुसार ऐसी आदतें अभ्यास के आधार पर नहीं वरन् किसी संवेग के आधार पर पड़ती हैं। किसी बालक में चोरी करने अथवा झूठ बोलने की आदत होती है। ऐसी आदत उसमें किसी विकृत संवेग के कारण आती है। इसी प्रकार अच्छी आदतें उसमें अच्छे संवेगों के कारण आती हैं। बुरी आदतों को दूर करने के लिए तत्सम्बन्धी विकृत संवेग का पता लगा कर उसे दूर करने की चेष्टा करनी चाहिए। यदि विकृत संवेग नष्ट हुआ तो मानसिक उलझनें स्वतः सुलझ जाँयगी। मानसिक उलझनों के दूर होने का तात्पर्य बुरी आदतों का नष्ट होना है। हैडफील्ड[2] के अनुसार "मानसिक उलझनों के हटने पर आदतें वैसे ही भाग जाती हैं जैसे बिजली के प्रकाश से अन्धेरा गायब हो जाता है। यदि बुरी आदतें दूर न हुई तो इसका अर्थ यह हुआ कि मानसिक उलझनों का अभी नाश नहीं हुआ है। संवेगात्मक जीवन में वांछित परिवर्तन आ जाने से व्यक्ति का बुरी आदतों से स्वतः उद्धार हो जाता है। मानसिक उलझनों के सुलझाव में कई सप्ताह अथवा महीने लग सकते हैं, पर उनके सुलझाव से आदतें स्वतः भाग जाती हैं।" स्पष्ट है कि किसी व्यक्ति की बुरी आदतों को दूर करने के लिए हमें तत्सम्बन्धी मानसिक उलझन का पता लगाना चाहिए।

कुछ बुरी आदतों को दूर करने के उपाय

१. चोरी करना

कुछ बालकों में साधारण से साधारण वस्तुयें चुराने की आदत पड़ जाती है। मनोविश्लेपकों का कहना है कि चुराने की आदत काम-मूलप्रवृत्ति के अवदमन के कारण पड़ती है। चुराने में उसे काम-भावना की तृप्ति के संवेग का अनुभव होता है। कुछ बालक अपने मित्रों की वस्तुओं को चुरा लेते हैं। मनोविश्लेषकों के अनुसार यह आदत किसी प्रकार के मैथुन में क्रूर व्यवहार करने की उनकी प्रवृत्ति का द्योतक है। परन्तु प्रश्न यह है कि बालक घर की वस्तुओं को क्यों चुराता है। पिता के जेब से वह पैसे क्यों चुराता है? माँ के गहने चुरा कर वह क्यों बेच आता है? वस्तुतः इस प्रकार की चोरी का प्रधान कारण अभिभावकों का अमनोवैज्ञानिक व्यवहार है। अभिभावकगण उपयुक्त अवसर पर बालकों पर समुचित नियन्त्रण रखने में असमर्थ होते हैं। वे कभी

अभिभावकों का अमनोवैज्ञानिक व्यवहार इसका कारण

1. Psychoanalysis.
2. *Hadfield, J. A.*, Psychology and Morals, p. 49, Methuen & Co. Ltd., London, 1951.

बहुत लाड़-प्यार दिखलाते हैं, और कभी अनायास उन्हें अपने क्रोध का भाजन बनाते हैं। किसी वस्तु के माँगने पर बालक को उसके विषय में झिड़क दिया जाता है अथवा झूठी बातें की जाती हैं। उसकी इच्छाओं की पूर्ति नहीं की जाती है। फल यह होता है कि अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए अथवा प्रतिशोध-भावना वश अभिभावकों को तंग करने के लिए वे घर की वस्तुयें चुराया करते हैं। फिर यह आदत दृढ़ होकर अन्य परिस्थितियों में भी बालक को चोरी करने के लिए अभिप्रेरित करती है। अतः चोरी की आदत छुड़ाने के लिये बालकों की मानसिक उलझनों को समझ कर तदनुसार उसकी स्वाभाविक इच्छाओं की पूर्ति करना है।

धूम्र-पान

बालक धूम्र-पान की आदत अपने से बड़ों के अनुकरण से अपनाता है। वह समझता है कि धूम्र-पान करना बड़े लोगों का चिह्न है। अतः अपने को कुछ बड़ा दिखलाने के लिये भी कभी-कभी वह धूम्र-पान का अभ्यस्त हो जाता है। मिल या फैक्टरियों में काम करने वाले बालकों में बीड़ी अथवा सिगरेट पीने की आदत पड़ जाती है। यह अनुकरण का परिणाम होता है। बहुतों में धूम्र-पान की आदत किशोरावस्था में पड़ती है। मनोविश्लेषकों का कहना है कि यह उनकी वासना-प्रवृत्ति के सन्तुष्टि का सांकेतिक चिह्न है। कहना न होगा कि बालकों के सामने यदि धूम्र-पान करने का बुरा उदाहरण न रक्खा जाय तो उनमें यह आदत न आयेगी। उनमें यह आदत आ जाने पर इसके बुरे परिणाम को उन्हें समझाया जाय और उनके सामने स्वयं धूम्र-पान न किया जाय तो उनकी धूम्र-पान की आदत जा सकती है।

अच्छा उदाहरण रखना

चिढ़ाना

कुछ बालकों में दूसरों को चिढ़ाने अथवा तंग करने की आदत आ जाती है। जिन्हें अपने अभिभावकों अथवा शिक्षकों का प्यार और आदर नहीं मिलता वे उन लड़कों को तंग किया करते हैं जिन्हें दूसरों का प्यार और आदर मिलता है। दूसरों को सम्मानित होते देख उनमें ईर्ष्या-भावना जागृत हो जाती है। वे भी चाहते हैं कि लोग उसकी योग्यता को समझें और उन्हें प्यार और आदर दें। परन्तु अपनी इस इच्छा की पूर्ति होते न देखकर वे चिढ़ जाते हैं, और ऊधम मचाना या दूसरों को चिढ़ाना वे प्रारम्भ कर देते हैं। यदि ऐसे बालकों को आत्म-प्रकाशन का

आत्म-प्रकाशन का अवसर देना

समुचित अवसर दिया जाय तो उनकी यह बुरी आदत दूर हो सकती है, क्योंकि तब वे समझेंगे कि उन्हें भी आदर और प्यार दिया जा रहा है।

झूठ बोलना

बालक में झूठ बोलने की आदत के कई कारण हो सकते हैं। कभी-कभी यह देखा जाता है कि बालक किसी वस्तु का गलत वर्णन करता है। इसे झूठ बोलना नहीं कहना चाहिये, क्योंकि वह यह वर्णन अपनी ऊँची कल्पना की उड़ान में करता है। बालक की धारण-शक्ति[1] बहुत प्रबल नहीं होती। किसी वस्तु को देखने के बाद तत्सम्बन्धी बातें उसे अच्छी तरह याद नहीं रहतीं। उस वस्तु के वर्णन में वह झूठ न बोलकर गलती करता है। अतः ऐसे अवसर पर बालक पर झूठ बोलने का अपराध नहीं लगाना चाहिये। अच्छा होगा यदि सहानुभूतिपूर्वक उसे सारी बातें ठीक-ठीक समझा दी जायें।

कल्पना की उड़ान के कारण

कभी-कभी बालक दूसरों के अनुकरण से भी झूठ बोलना प्रारम्भ कर देता है और धीरे-धीरे उसकी झूठ बोलने की आदत हो जाती है। जिस घर के लोग बात-चीत में अपने झूठे सम्मान की रक्षा के लिए झूठ बोला करते हैं उनके लड़कों में झूठ बोलने की आदत आ ही जाती है। अतः यह आवश्यक है कि बालकों के सामने गलत उदाहरण न रक्खा जाय।

अनुकरण से

दण्ड के भय से कुछ बालक झूठ बोलना सीख लेते हैं। जिन बालकों पर बात-बात में अभिभावकों की डाँट या मार पड़ा करती है वे उससे बचने के लिये झूठ बोल सकते हैं। उदाहरणार्थ, बाजार से कुछ खरीद करके बालक लौटा तो उससे पूछा गया कि अमुक वस्तु क्यों नहीं लाये तो दण्ड के भय से वह झूठ बोल सकता है कि वह वस्तु बाजार में है ही नहीं, यद्यपि उसके विषय में दूकानदार से पूछना ही वह क्योंन भूल गया हो।

दण्ड के भय से

बालक कभी-कभी आत्म-प्रकाशन के लिये मन-गढन्त बातें किया करता है। जब साधारणतः उसकी अवहेलना की जाती है और उसे अपेक्षित प्रसंशा नहीं मिलती तो दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिये वह झूठी बातें कर सकता है। माता-पिता के कठोर व्यवहार से जब बालक की स्वाभाविक इच्छाओं का दमन होता है तो वह आत्म-प्रकाशन के लिए झूठ बोलने का

आत्म-प्रकाशन के लिए

1. Power of Retention.

अभ्यस्त हो सकता है। अतः बालकों की स्वाभाविक इच्छाओं का अवदमन करना बड़ा हानिकर सिद्ध हो सकता है। इच्छाओं के अवदमन से आत्म-प्रकाशन की स्वाभाविक क्रियाशीलता रुक जाती है; और बालक झूठ की आड़ में आत्म-प्रकाशन की चेष्टा करता है। बालक को झूठ की आदत छुड़ाने के लिए उसे दण्ड देना हानिकारक है। दण्ड से झूठ बोलने की आदत प्रायः बढ़ती है, क्योंकि दण्ड से उसके आत्म-प्रकाशन में और रुकावट पड़ती है। अतः झूठ बोलने की आदत छुड़ाने के लिए आत्म-प्रकाशन का अवसर देना लाभप्रद सिद्ध हो सकता है।

अभिभावकों के अनुकरण से

कुछ अभिभावक स्वयम् अनजान में बालक में झूठ बोलने की आदत डालते हैं। पैसा रहते हुये भी जब वे कहते हैं कि पैसा नहीं है; अथवा घर में उपस्थित रहते हुये भी जब वे कहलवा भेजते हैं कि वे घर पर नहीं हैं तो बालक समझता है कि झूठ बोलना बुरा नहीं है और अपना काम निकालने के लिये इसका अवलम्बन लिया जा सकता है। फलतः बालक में झूठ बोलने की आदत आ जाती है।

व्यक्तिगत व्यावहारिक उदाहरण

रूसो का कहना है कि यदि बालक की सत्य बात पर भी विश्वास करना छोड़ दिया जाय तो बालक तंग आकर झूठ बोलना स्वयम् छोड़ देगा। किसी अवसर-विशेष पर किसी झूठ के लिये दण्ड दिया जा सकता है; परन्तु इसका आधिक्य नहीं होना चाहिये। हमें यह याद रखना है कि बालक के प्रत्येक झूठ में कोई उसकी अतृप्त इच्छा छिपी हुई है। अतः झूठ की आदत निकालने के लिये हमें उस अतृप्त इच्छा को समझना है और उसके स्वाभाविक पूर्ति के लिये समुचित आयोजन करना है। यदि यह आयोजन हो सका तो झूठ बोलने की आदत बालक से स्वतः दूर हो जायगी। झूठ न बोलने के लिये बार-बार उपदेश देने का परिणाम उलटा हो सकता है। जो स्वयम् झूठ बोला करते हैं और बालकों को झूठ न बोलने का उपदेश दिया करते हैं उनके उपदेश का बालकों पर उलटा प्रभाव पड़ता है और बालक से झूठ बोलने की आदत दूर नहीं होती। अतः उपदेश के स्थान पर यदि उनके सामने व्यक्तिगत व्यावहारिक उदाहरण रक्खा जाय तो अधिक लाभ होगा।

झूठ की उपयोगिता

परन्तु हमें यह याद रखना है कि बालकों के जीवन से झूठ को हम एकदम अलग नहीं कर सकते। बालक कहानियों में बड़ी रुचि रखते हैं। परन्तु कहानियों में एक प्रकार से सब झूठ का ही जाल रहता है। ऐसी कहानियों के पढ़नें अथवा सुनने से बालकों में कल्पना-शक्ति

का विकास होता है। इन कहानियों के झूठे आवरण के अन्तर्गत सत्यता कूट-कूट कर भरी रहती है। इस सत्यता का मानव जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। तभी तो बालकों को वे बड़ी रुचिकर लगती हैं और उनसे उनकी कल्पना-शक्ति का विकास होता है। अतः इस प्रकार के झूठ की बालकों के जीवन में उपयोगिता है, और इसे उसके अनुभव से अलग करना उसके स्वाभाविक विकास में रुकावट डालना होगा।

चरित्र

चरित्र और मूलप्रवृत्तियाँ

चरित्र अच्छा और बुरा दोनों होता है। पर नैतिक दृष्टि से चरित्र का तात्पर्य सदा अच्छे ही चरित्र से लिया जाता है। जब यह कहा जाता है कि वह चरित्रवान् है तो इसका अर्थ यही होता है कि वह अच्छे चरित्र का है। अतः 'चरित्र' शब्द का प्रयोग यहाँ अच्छे ही चरित्र के अर्थ में किया जा रहा है। चरित्रवान् व्यक्ति में सङ्कल्प-शक्ति और आत्म गौरव का स्थायीभाव कूट-कूट कर भरा होता है। ऐसा व्यक्ति सदा अपने एक निश्चित सिद्धान्त के अनुसार कार्य करता है। चरित्रवान् व्यक्ति किसी कार्य को अपना कर्त्तव्य समझ कर करता है। जो कुछ कम चरित्र के होते हैं वे किसी कार्य को पुरस्कार, प्रशंसा अथवा दण्ड के भय से कर सकते हैं। जो व्यक्ति पशुवत् होते हैं उनके कार्य बहुधा मूलप्रवृत्तियों द्वारा ही अभिप्रेरित होते रहते हैं। मूलप्रवृत्तियाँ तो सभी व्यक्तियों में पाई जाती हैं। परन्तु उनकी प्रबलता में वैयक्तिक भेद पाया जाता है। किसी में एक प्रवृत्ति प्रबल होती है तो दूसरी निर्बल। अपने-अपने विकास के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में विभिन्न मूलप्रवृत्तियों की प्रबलता भिन्न प्रकार की होती है। चरित्र की नींव मूलप्रवृत्तियों में पाई जाती है, क्योंकि मूलप्रवृत्तियों के शोधन से ही व्यक्ति के चरित्र का निर्माण होता है। चरित्र पर हमारे सभी अनुभवों और मूलप्रवृत्तियों का प्रभाव पड़ता है। अतः आदर्श-चरित्र के लिए हमें बालकों के मूलप्रवृत्यात्मक प्रकाशन तथा विभिन्न अनुभवों पर कड़ी मनोवैज्ञानिक दृष्टि रखनी होगी।

मूलप्रवृत्तियों में चरित्र की नींव

चरित्र और भाव

सचरित्र व्यक्ति अपने आदर्शों से अपना आत्मसात कर लेता है। फलतः अपने आदर्शों की रक्षा के लिए वह अपने सब कुछ की बाजी लगा सकता है। मानव व्यवहार कभी-कभी भावों द्वारा भी नियन्त्रित होता है, क्योंकि मनुष्य सदा विवेक के अनुसार ही नहीं चल सकता, बड़े-बड़े विवेकी अवसर पर चुप मार कर बैठे रहते हैं। वे

सचरित्र होने के लिये भाव आवश्यक

क्रियाहीन दिखलाई पड़ते हैं, क्योंकि उनमें अवसरानुसार उपयुक्त भावों का अभाव रहता है। चरित्रवान् व्यक्ति का अवसरानुसार क्रियाशील होना आवश्यक है। अतः यह आवश्यक नहीं कि सिद्धान्त वाला व्यक्ति सचरित्र होगा। इसीलिए तो कभी-कभी यह देखा जाता है कि बड़े-बड़े सिद्धान्त झाड़ने वाले अवसर पर बगलें झाँकने लगते हैं। सिद्धान्त को कार्यान्वित करने के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है और यह शक्ति भाव से ही आती है। अतः स्पष्ट है कि चरित्र और भाव में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

चरित्र और संकल्प-शक्ति

दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध

ऊपर हम कह चुके हैं कि चरित्रवान् व्यक्ति में संकल्प-शक्ति कूट-कूट कर भरी होती है। वस्तुतः चरित्र की प्रबलता तो संकल्प-शक्ति की प्रबलता पर ही निर्भर करती है। चरित्रवान् व्यक्ति के कार्य में आवेश और हठ नहीं होता। आवेश और हठ तो संकल्प-शक्तिहीनता का परिचायक होता है। अतः बालक को चरित्रवान् बनाने के लिए उसमें हमें दृढ़ संकल्प-शक्ति डालनी चाहिए। चरित्र के विकास के लिए बालक को ऐसा वातावरण दिया जाय कि वह अपनी संकल्प-शक्ति की क्रिया-शीलता में किसी प्रकार की बाधा का अनुभव न करे। उसे ठीक पथ को स्वयं खोज निकालने की प्रेरणा देनी चाहिए। इससे उसकी संकल्प-शक्ति का विकास होगा और चरित्र-बल बढ़ेगा। उसे कठिनाइयों का प्रसन्नता से सामना करना सिखलाना चाहिए। उसके सामने विभिन्न समस्यायें रखनी चाहिए, जिससे वह उलझन में पड़कर अपने विवेक और तर्क का विकास करते हुए उसका समाधान निकाले। संकल्प-शक्ति के विकास के लिए हमें सतत प्रयत्न करते रहना है। बहुत से व्यक्ति अपने विवेक का सदुपयोग नहीं कर पाते। यह उनकी संकल्प-शक्तिहीनता होती है। जैसे व्यायाम से शरीर को पुष्ट बनाया जा सकता है उसी प्रकार अभ्यास से संकल्प-शक्ति को भी प्रबल बनाया जा सकता है। जैसे बूँद-बूँद से सागर भरता है उसी प्रकार साधारण से साधारण बातों पर ध्यान देने से ही संकल्प-शक्ति अथवा चरित्र का विकास होता है। छोटी-छोटी बातों को अनावश्यक समझ उनकी अवहेलना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि छोटी ही छोटी बातों पर ध्यान देने में चरित्र का विकास होता है। जो छोटी बातों पर ध्यान नहीं दे सकता वह बड़ी बातों पर भी ध्यान नहीं दे सकता। अभिभावकों और शिक्षकों को यह देखना चाहिए कि संकल्प-शक्ति अर्थात् चरित्र के विकास के लिए एक अवसर भी उनके हाथ से व जाने पावे।

मूलप्रवृत्तियों की तरह संकल्प-शक्ति के तीन अंग माने जा सकते हैं:—ज्ञानात्मक, संवेगात्मक और क्रियात्मक। अच्छे चरित्र के विकास के लिए हमें प्रत्येक

ग्रंग पर समुचित ध्यान देना है । ज्ञानात्मक ग्रंग पर ध्यान देने का तात्पर्य बालक को ग्रावश्यक ज्ञान देना है जिससे किसी काम में हाथ लगाने के पूर्व उसके परिणाम का वह कुछ ग्रनुमान लगा सके, ग्रन्यथा ग्रावेशवश कार्य प्रारम्भ कर देने का परिणाम घातक हो सकता है । ग्रावेश को दबा कर ग्रात्म-संयम से काम लेना ग्रावश्यक है । सच्ची संकल्प-शक्ति के ग्रन्तर्गत् ग्रात्म-संयम की भावना निहित रहती है ।

संकल्प-शक्ति के संवेगात्मक ग्रंग पर ठीक से ध्यान देने से व्यक्ति में ऐसी भावुकता ग्रा सकती है कि किसी कार्य के ग्रारम्भ करने में वह हिचक सकता है, तब वह ग्रपने व्यक्तिगत भावों में ही मग्न हो जाता है ग्रौर वास्तविक कार्य की ग्रव-हेलना कर बैठता है । उदाहरणार्थ देश-भक्ति की भावुकतावश व्यक्ति ग्रपने ही भावों में डूबा रह सकता है ग्रौर देश के लिये कुछ करने में ग्रसमर्थ हो सकता है । यही बात प्रेम की भावुकता के विषय में भी कही जा सकती है । स्पष्ट है कि संवेगात्मक ग्रंग की यह प्रबलता संकल्प-शक्ति के उद्देश्य को नीचे गिरा देती है ।

संकल्प-शक्ति के क्रियात्मक ग्रंग पर ध्यान देने का तात्पर्य यह है कि बालक को नित्य कुछ ऐसे कार्य देने चाहिये जिससे वास्तविकता से उसका परिचय होता रहे । इस प्रकार संकल्प-शक्ति के ज्ञानात्मक, संवेगात्मक ग्रौर क्रियात्मक तीनों ग्रंगों के सामंजस्यपूर्ण विकास से ही चरित्र का विकास सम्भव है ।

चरित्र विकास में नैतिक शिक्षा का स्थान

नैतिक शिक्षा का चरित्र-विकास में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है । परन्तु नैतिक शिक्षा के स्वरूप का निर्धारण करना बड़ा कठिन सिद्ध हुग्रा है । स्कूल के ग्रन्य विषयों की शिक्षा के ग्रायोजन में विशेष कठिनाई नहीं होती, क्योंकि उनके लिये शिक्षक मिल जाते हैं । परन्तु नैतिक शिक्षा के सम्बन्ध में यह समस्या बड़ी विकट हो जाती है । इसके लिये योग्य शिक्षकों का पाना ग्रत्यन्त कठिन है । नैतिक उपदेश देने के पूर्व शिक्षकों को उन्हें स्वयम् ग्रपने व्यवहार में कार्यान्वित करके दिखलाना चाहिये, ग्रन्यथा उनके उपदेश का उलटा परिणाम होगा । इसी ग्रध्याय में हम कह चुके हैं कि उपदेश से उदाहरण ग्रच्छा होता है । ग्रत: नैतिक शिक्षा के लिये हमें उनके सामने ग्रच्छे उदाहरणों का रखना है । तभी उनमें चरित्र का ग्रच्छा विकास हो सकता है । उदाहरण के ग्रतिरिक्त बालकों को साहित्य ग्रथवा इतिहास की छोटी-छोटी मनो-रंजक ग्रौर उपदेशात्मक कहानियाँ सुनाई जा सकती हैं । उपदेश को स्वयम् शिक्षक का स्पष्ट करना ठीक न होगा । सारी बातें शिक्षक कह दे । उससे किसी शिक्षा का निकालना ग्रौर सीखना तो बालक का काम होना चाहिये ।

चरित्र-विकास में निर्देश[1] का स्थान

निर्देश की सहायता से चरित्र में भारी परिवर्तन लाया जा सकता है। यदि सदा बालक को यह निर्देश मिलता रहे कि उसे एक दिन बड़ा आदमी होना है और जीवन में उसे कुछ कर दिखाना है तो निश्चय वह एक दिन बड़ा आदमी होकर कुछ कर दिखाएगा। इसके विपरीत निर्देश पाने पर परिणाम एकदम उलटा होगा और बालक अधोगति के गर्त में गिर जायगा। अतः अभिभावकों और शिक्षकों को चाहिए कि वे बालकों को अच्छे-अच्छे निर्देश देते रहें। बालकों के लिये स्वस्थकर निर्देश के वातावरण का आयोजन कर देना उनके चरित्र को बहुत ऊँचा उठाना है। इतिहास इसका साक्षी है। कुछ अर्थ में बालक एक छोटे पौधे के समान है। जिस प्रकार जरा सी हवा के बहने से छोटा पौधा प्रभावित हो जाता है उसी प्रकार साधारण सी बात का भी बालकों पर असर पड़ जाता है। अतः अभिभावकों और शिक्षकों के मुँह से केवल वही बात निकलनी चाहिए जिससे बालक किसी ऊँचे आदर्श की ओर अग्रसर होकर अपने उच्च चरित्र के निर्माण में सफल हो सकें।

निर्देश का भारी प्रभाव

चरित्र-विकास में अनुकरण का स्थान

गत पृष्ठों में हम कई बार कह चुके हैं कि बालक बड़ा अनुकरणशील होता है। अपने अभिभावकों और शिक्षकों की बातों को वह आदर्श मानकर उनके अनुकरण की वह चेष्टा करता है। अतः बालकों के सामने हमें बड़ी सतर्कता से रहना है। उनके सामने कोई ऐसी बात नहीं होनी चाहिए जिससे वे कोई अवांछित बात सीख सकें। यदि उनके सामने अच्छी ही बातें रक्खी गईं तो उनके चरित्र में अनुकरण के फलस्वरूप अच्छे ही गुण आयेंगे।

चरित्र-विकास में दण्ड का स्थान

ममफोर्ड[2] का कहना है कि "दण्ड यदि प्रभाव डाल सका तो वह केवल गलत कार्य के करने से व्यक्ति को रोक सकता है, परन्तु उचित भावना नहीं उत्पन्न कर सकता।" हम कह चुके हैं कि दण्ड का बालक पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि इससे उसकी भावनाओं के अवदमित होने का डर रहता है। तथापि इतना तो कहना ही पड़ेगा कि दण्ड को एकदम वहिष्कृत नहीं किया जा सकता। कभी-कभी तो दण्ड देने की आवश्यकता

---

1. Suggestion.
2. *Mumford* : The Dawn of Character, p. 114.

मालूम ही पड़ती है। डम्विल[1] का कथन है कि "कभी केवल दण्ड ही ऐसा साधन दिखलाई पड़ता है जिससे कोई अवांछित आचरण रोका जा सकता है। परन्तु दण्ड का प्रयोग तभी करना चाहिये जब अन्य साधन असफल हो जाँय।" दण्ड का उद्देश्य बदला लेना न होकर सुधार करना होना चाहिए। यदि आवश्यक जान पड़े तो चरित्र के निर्माण में दण्ड देना हानिकर नहीं। ऐसे ही अवसरों पर पेस्तालॉजी दण्ड देने का समर्थन करता है। वह कहता है "यदि स्कूल एक घर है तो उसमें दण्ड दिया जा सकता है, क्योंकि माता-पिता भी तो दण्ड दिया ही करते हैं। माता-पिता के दण्ड देने पर बालक को ग्लानि नहीं होती, क्योंकि उसे उनसे अभिप्राय में कभी सन्देह नहीं होता। शिक्षक का व्यवहार ऐसा ही हो कि दण्ड देने पर बालक उनके आशय में सन्देह न कर सके। बहुत अच्छा होता यदि दण्ड की आवश्यकता ही न उठती, क्योंकि दण्ड का प्रभाव देने और पाने वाले दोनों पर बुरा पड़ता है। अतः जहाँ तक सम्भव हो इसे दूर ही करने की चेष्टा करनी चाहिए।"[2]

चरित्र-विकास में लाड़-प्यार का स्थान

बालक के वांछित चरित्र-विकास के लिए यह आवश्यक है कि अभिभावक और शिक्षक यह समझें कि उन्हें कब लाड़-प्यार दिया जाय। उसकी प्रत्येक इच्छा की

अवसर की उपयुक्तता और मनोवैज्ञानिकता

पूर्ति करना बड़ा ही अमनोवैज्ञानिक है। इससे वह हठी हो जाता है और उसका सामाजिक-विकास वांछित दिशा की ओर नहीं चल पाता। जिस बालक की प्रत्येक इच्छा की पूर्ति की चेष्टा बिना समझे-बूझे की जाती है वह अपने आगे दूसरे बच्चों को कुछ समझता ही नहीं। इस प्रकार की प्रवृत्ति कुछ समय तक घर में तो चल सकती है, पर बाहर इसका चलना अत्यन्त कठिन होता है, क्योंकि बाहर सब लोग उसे माता-पिता जैसा प्यार नहीं दे सकते। छोटे बच्चों का लाड़-प्यार अवश्य करना चाहिए, क्योंकि इससे उन्हें बड़ा सन्तोष मिलता है और उनकी आत्म-प्रकाशन सम्बन्धी मूलप्रवृत्यात्मक इच्छाओं की पूर्ति होती है। समुचित लाड़-प्यार न पाने वाला बालक अपने को अवहेलित समझने लगता है और उसमें आत्म-हीनता आने लगती है। अतः स्पष्ट है कि चरित्र-विकास में लाड़-प्यार का विशेष स्थान है। इस सम्बन्ध में अवसर की उपयुक्तता तथा मनोवैज्ञानिकता अत्यन्त आवश्यक है।

---

1. *Dumville*—Fundamentals of Child Psychology, p. 242.

२. लेखक द्वारा रचित "पाश्चात्य शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास" (द्वितीय संस्करण) पृ० २२६, प्रकाशक—लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, १९५३।

१०

स्मृति का विकास[1]

स्मृति का स्वरूप

अपने अनुभवों को याद रखने की प्रत्येक प्राणी में एक शक्ति होती है, परन्तु इस शक्ति में वैयक्तिक भेद पाया जाता है। अन्य प्राणियों से मनुष्य जाति में अपने अनुभवों को याद रखने की अधिक शक्ति होती है। गत पृष्ठों में हम संकेत कर चुके हैं कि मस्तिष्क के दो अंग होते हैं—चेतन और अचेतन। अनुभवों का कुछ अंश अचेतन मन का भाग हो जाता है और कुछ चेतन का। स्मृति का सम्बन्ध प्रधानतः चेतन भाग से है। व्यक्ति अपनी स्मृति के सहारे ही विभिन्न प्रकार की कल्पना कर पाता है। स्मृति से ही वह अपने स्वजनों को पहचानता है, पढ़ता-लिखता अथवा सीखता है। यदि स्मृति-शक्ति व्यक्ति के पास न होती तो पता नहीं उसकी कैसी दशा होती।

चेतन मन का अंग; इसी से जीवन-व्यापार सम्भव

स्टाउट के अनुसार पुराने अनुभवों को याद करना स्मृति का कार्य है। स्पीयर-मैन के अनुसार स्मृति की ही सहायता से किसी समझी हुई वस्तु अथवा घटना का हम पुनर्स्मरण करते हैं। डम्विल कहता है कि गत अनुभव के कुछ अंश विचार के रूप में हमारे मानस-पटल पर आते हैं। बुद्धि की प्रखरता में स्मृति का बड़ा भारी हाथ है। जिसकी स्मृति-शक्ति तीव्र होती है उसे अच्छी बुद्धि का कहा जाता है। स्मृति-शक्ति के खराब होने पर व्यक्ति का मानसिक विकास अवरोधित हो जाता है। अच्छी स्मृति वही है जिससे हम आवश्यक बातें समय पर निकाल सकते हैं। प्रायः यह देखा जाता है कि व्यक्ति जीवनोपयोगी ही बातें याद करता है। अपने कुछ अनुभवों को वह याद करता है और कुछ को वह भूलने का प्रयत्न करता है। यदि इस प्रयत्न में वह सफल न होता तो उसका जीवन कठिन हो जाता, क्योंकि तब वह अनाप-सनाप की बहुत सी बातें

अवसर पर अनुभवों का पुनर्स्मरण स्मृति का लक्षण

1. The Development of Memory.

याद रखता और अवसर पर आवश्यक बात को स्मृति से निकाल सकना उसके लिए कठिन हो जाता । अतः जीवनोपयोगी अनुभवों को मस्तिष्क में इस प्रकार सुसज्जित कर लेना कि समय पर उनका पुनर्स्मरण किया जा सके अच्छी स्मृति का लक्षण है ।

वंशानुक्रम पर निर्भर

मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि स्मृति वंशानुक्रमीय[1] होती है; अर्थात् स्मृति का प्रखर अथवा मन्द होना वातावरण पर उतना निर्भर नहीं करता जितना वंशानुक्रम पर करता है । इसका अर्थ हुआ कि स्मृति में वातावरण अर्थात् शिक्षा द्वारा मनमाना परिवर्तन नहीं लाया जा सकता । इस परिवर्तन की एक सीमा होगी । हाँ, स्मरण करने के ढंग में शिक्षा द्वारा कुछ सुधार किया जा सकता है ।

स्मृति के अंग[2]

स्मृति के चार अंग होते हैं । किसी वस्तु को स्मृति में रखने के पूर्व उसे याद करना आवश्यक होता है । याद करने के बाद उसे चेतन मन में धारण[3] करना चाहिए । धारण के बाद यह आवश्यक है कि समय पर उसका पुनर्स्मरण[4] किया जा सके । कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि व्यक्ति किसी याद की हुई वस्तु का पुनर्स्मरण नहीं कर पाता, परन्तु उस वस्तु को अन्य वस्तुओं के बीच में पाकर उसे झट पहचान लेता है । इस प्रकार पहचान लेने की शक्ति स्मृति का एक आवश्यक अंग समझा जाता है । अतः पहचान[5] स्मृति का चौथा अंग हुआ । इस प्रकार स्मृति के अधोलिखित चार अंग हुये :—

१—याद करना

२—धारण

३—पुनर्स्मरण

४—पहचान

नीचे हम प्रत्येक की संक्षेप में व्याख्या करेंगे । याद करने की व्याख्या 'स्मृति के नियम' के सम्बन्ध में दी जायगी ।

धारण

धारण की शक्ति के विषय में वैयक्तिक भिन्नता पाई जाती है । हमारा यह अनुभव भी है कि कोई व्यक्ति किसी बात को अधिक देर तक याद रखता है और कोई याद की हुई बात को शीघ्र ही भूल जाता है । परीक्षणों के आधार पर मनोवैज्ञानिकों का मत है कि प्रथम ११ वर्ष तक धारण-शक्ति में खूब वृद्धि होती है ।

---

1. Hereditary. 2. Factors of Memory. 3. Retention. 4. Recall. 5. Recognition.

इसके बाद १६ वें वर्ष तक कुछ-कुछ उन्नति होती रहती है। परन्तु इसके बाद इसकी उन्नति रुक जाती है। उम्र बीत जाने पर कुछ लोग बहुधा यह कहते हुए सुने जाते हैं कि वे जो कुछ याद करते हैं उसे शीघ्र ही वे भूल जाते हैं। परन्तु उम्र के बीतने पर ही धारण-शक्ति में कमी आ जाना आवश्यक नहीं। अच्छे स्वास्थ्य तथा किसी विषय में सच्ची रुचि के रहने पर धारण-शक्ति बहुत दिनों तक प्रबल रह सकती है।

पुनर्स्मरण

पुनर्स्मरण की मानसिक प्रक्रिया में अनुभव की (१) समानता[1] (२) वैपरीत्य[2], अथवा (३) सहचारिता[3] का होना आवश्यक है। पुनर्स्मरण के लिए आवश्यक इन तीनों अंगों को प्रत्यय-सम्बन्ध[4] कहते हैं। इन तीनों के अतिरिक्त कुछ अन्य नियम भी हैं। ये प्रत्यय-सम्बन्ध को दृढ़तर बनाते हैं। इनके नाम नीचे दिये जा रहे हैं।

१—नवीनता[5]
२—प्रबलता[6]
३—अविरलता[7]
४—रोचकता[8]

नीचे संक्षेप में प्रत्येक की व्याख्या की जा रही है।

समानता

किसी वस्तु को देखने से हमें उस वस्तु का स्मरण आ सकता है जिससे उसकी कुछ समानता है। जैसे किसी व्यक्ति को देखने से उसके समान चेहरे वाले व्यक्ति का हमें स्मरण हो सकता है। छोटा बच्चा प्रत्येक जानवर में कुछ समानता देखता है। उसने गाय को पहचान लिया है। अतः किसी दूसरे पशु को देख कर उसे वह गाय की ही संज्ञा दे बैठता है। समानता का भाव, रूप और गुण दोनों में देखा जाता है। इसीलिए तो कोयल की कूक से कवि को बसन्त की याद आ जाती है।

वैपरीत्य

जैसे समानता के कारण हमें एक वस्तु के सहारे दूसरे का अनायास स्मरण हो आता है उसी प्रकार वैपरीत्य अर्थात् विरोधी धर्म वाली वस्तुएँ एक दूसरे का स्मरण करा देती हैं। जैसे, रोगी को देखकर किसी पहलवान का हमें ध्यान हो सकता है, अथवा गन्दे कपड़े को देख कर हमें स्वच्छ कपड़े का ध्यान आ सकता है। कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार वैपरीत्य में समानता का भाव निहित रहता है, और इस समानता के कारण ही हमें दूसरी वस्तुओं का स्मरण हो आता है।

---

1. Similarity. 2. Contrast 3. Contiguity. 4. Association of Ideas. 5. Recency 6. Vividness 7. Frequency. 8. Interest.

यदि किसी दो वस्तुओं अथवा बातों का एक साथ ही ज्ञान किया जाता है तो एक के पुनर्स्मरण से दूसरे का स्मरण स्वतः हो जाता है। सहचारिता दो प्रकार की होती है—देशगत[1] और कालगत[2]। जब एक ही स्थान पर दो वस्तुएँ देखी जाती हैं तो वे देशगत सहचारिता के अन्तर्गत आ सकती हैं। जैसे, यदि कमरे में मेज और कुर्सी साथ ही साथ बराबर देखी गई हैं और एक वहाँ से हटा ली गई है तो एक के देखने से दूसरे का तुरन्त पुनर्स्मरण हो सकता है। याद की हुई कविता का पाठ करते समय एक पद के उच्चारण के बाद दूसरे का पुनर्स्मरण स्वतः हो जाता है। यह कालगत सहचारिता के अनुसार हुआ।

सहचारिता

कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार पुनर्स्मरण के तीन आवश्यक नियमों में 'अनुभव की सहचारिता[3]' ही प्रधान है। दो वस्तुओं में किसी प्रकार की समानता का भास होने से उनके वैपरीत्य का भी हमें ध्यान हो आता है। इस प्रकार 'समानता' और 'वैपरीत्य' में कुछ समान तत्त्वों की झलक मिलती है। देश और काल की दृष्टि से हमारे अनुभवों में एक प्रकार की समानता का सम्बन्ध स्थापित हो सकता है। इस समानता के आधार पर ही सहचारिता स्थापित होती है। अतः कुछ मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि पुनर्स्मरण में 'अनुभव की सहचारिता' मुख्य है।

अनुभव की सहचारिता ही प्रधान

"सभी बातों के समान रहने पर एक विचार के मन में आने पर उस दूसरे विचार का जिसका उससे थोड़ी ही देर पूर्व अथवा नवीन सम्बन्ध स्थापित हुआ रहता है पुनर्स्मरण हो जाता है।" इसका अर्थ यह हुआ कि वर्तमान अनुभव से उस गत अनुभव की याद आ जाती है जो थोड़ा ही देर पहले हुआ रहता है। उदाहरणार्थ 'बच्चा' शब्द सुनने से हमें उस बच्चे का ध्यान आ सकता है जिसने थोड़ी ही देर पहले आकर हमारी पुस्तक को फाड़ डाला था।

नवीनता

'सभी बातों के समान रहने पर किसी विचार के स्मरण से उस दूसरे विचार का जिसका बड़ी प्रबलता से सम्बन्ध स्थापित रहता है, पुनर्स्मरण हो आता है।' जो विचार बड़ी प्रबलता से हमारे मन में बैठ जाता है उसका पुनर्स्मरण बड़े शीघ्र हो आता है। यदि बन्दर की ध्वनि और सूरत से बालक बहुत डर गया हो तो पुनः बन्दर की आवाज से ही बालक पहले की तरह बहुत डर सकता है।

प्रबलता

---

1. Place. 2. Time. 3. Contiguity of Experience.

"सभी बातों के समान रहने पर परिस्थिति की समानता में एक विचार के स्मरण से उस दूसरे विचार का जिसका उससे बार-बार सम्बन्ध बँधा रहता है पुनर्स्मरण हो जाता है।" जो विचार हमारे मस्तिष्क में बार-बार आता रहता है उसका किसी अवसर विशेष पर हमें बड़े शीघ्र स्मरण हो आता है। जिस व्यक्ति को कोई वस्तु बहुत प्यारी है उस वस्तु से सम्बन्धित कोई शब्द किसी अवसर पर अनायास सुनने से उसे उसी वस्तु ता पुनर्स्मरण हो सकता है।

अविरलता

वस्तुतः अविरलता और रोचकता में विशेष अन्तर नहीं। हम उसी वस्तु पर बार-बार ध्यान देते हैं जिसमें हमारी रुचि होती है। रुचि के अनुसार ही व्यक्ति में विभिन्न विचार-सम्बन्ध स्थापित होते हैं। जिस विषय में उसकी रुचि रहती है उसका पुनर्स्मरण उसे किसी अनुकूल अवसर पर अनायास आ सकता है।

रोचकता

पहचान

ऊपर हम कह चुके हैं कि स्मृति के लिए 'पहचान' की शक्ति बड़ी आवश्यक है। यदि किसी व्यक्ति को देखने से हमें यह भान होता है कि इसे हमने पहले कभी देखा है तो इसे 'पहचान' कहा जायगा। पहचान शक्ति में वैयक्तिक भिन्नता होती है। हमारा यह अनुभव भी है कि कोई व्यक्ति एक बार के ही देखने के बाद में किसी को पहचान लेता है और किसी को इसमें बड़ी कठिनाई होती है। व्यक्ति में पहचानने की शक्ति पुनर्स्मरण से अधिक होती है। किसी व्यक्ति के नाम के पुनर्स्मरण में जब हम असमर्थ दिखलाई पड़ते हैं तो हम बहुधा कहते हैं कि "इस अक्षर से आरम्भ होने वाले कुछ नाम लो तो उस व्यक्ति का नाम हम बता देंगे।" ऐसा हम पहचान-शक्ति के कारण ही कर पाते हैं।

स्मृति के प्रकार[1]

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार स्मृति के दो भाग किये जा सकते हैं :—'आदत-जन्य[2]', और 'प्रतिमा-युक्त[3]' या वास्तविक। नीचे इनकी ओर संक्षेप में संकेत किया जायगा।

आदत-जन्य स्मृति

आदत-जन्य स्मृति का सम्बन्ध रटने वाली वस्तु से होता है। गणित के नियम, पहाड़े अथवा पद्य आदि जो रट लिये जाते हैं उनमें आदत-जन्य स्मृति ही

1. Kinds of Memory. 2. Habit Memory. 3. Image or True Memory.

काम करती है। आदत-जन्य स्मृति में व्यक्ति वस्तु में निहित सिद्धान्तों को नहीं समझ पाता। अतः अवसर पर इन सिद्धान्तों का वह उपयोग नहीं कर पाता। अतः बालक को यदि कोई वस्तु रटाई जाय तो यह आवश्यक है कि अवसर के अनुसार उसे उसमें निहित सिद्धान्तों को भी समझा दिया जाय।

प्रतिमा-युक्त या वास्तविक स्मृति

जिस याद की हुई वस्तु का संस्कार मस्तिष्क में ठीक-ठीक बैठ जाता है उसकी प्रतिमा भी मस्तिष्क में जम जाती है और व्यक्ति उसमें निहित सिद्धान्तों को अच्छी तरह समझ लेता है। यदि ऐसा हो सका तो व्यक्ति में वस्तु-सम्बन्धी वास्तविक अथवा प्रतिमा-युक्त स्मृति आ जाती है। प्रतिमा-युक्त स्मृति के बार-बार उपयोग से व्यक्ति इतना अभ्यस्त हो सकता है यह स्मृति आदत-जन्य के समान लग सकती है।

स्मरण करने के नियम[1]

नीचे याद करने के कुछ नियम दिये जा रहे हैं—

१. आवश्यक मानसिक अभ्यास करना—कोई वस्तु आवश्यक मानसिक प्रयास बिना नहीं याद हो सकती। परन्तु यह प्रयास करने के पूर्व वस्तु में निहित सिद्धान्तों को ठीक-ठीक समझ लेना आवश्यक है, अन्यथा परिश्रम का समुचित फल न मिल सकेगा। जो विद्यार्थी बिना समझे हुये बातें याद कर लेते हैं वे अवसर पर उनके उपयोग में असमर्थ सिद्ध होते हैं।

२. याद की जाने वाली वस्तु का विभिन्न अंगों में विभाजन न करना; क्योंकि ऐसा करने से वस्तु का तारतम्य टूट जाता है और विचारों के परस्पर-सम्बन्ध को समझना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

३. याद कर लेने के बाद समय-समय पर वस्तु को दोहराते रहना; क्योंकि इससे संस्कार दृढ़तर होते हैं। हमारा यह अनुभव भी है कि अभ्यास छूट जाने से याद की हुई वस्तु भूल जाती है।

४. याद करने के क्रम में बीच-बीच में विश्राम करना, इससे संस्कारों के मस्तिष्क में जमने में सहायता मिलती है।

स्मरण करने के नियम को जान लेने के बाद स्मरण करने की विधियों को जानना आवश्यक है। अतः आगे इन्हीं का उल्लेख किया जायगा।

---

[1] Laws of Memorization.

स्मरण करने की विधियाँ[1]

खण्डशः तथा समग्र याद करना[2]

खण्डशः विधि में वस्तु का कई भाग कर लिया जाता है और एक-एक भाग को बारी-बारी से याद किया जाता है। जैसे, ५० पंक्तियों वाली कविता को याद करने के लिए उसका १०-१० का ५ भाग कर लिया जायगा और बारी-बारी से एक-एक भाग को याद किया जायगा। समग्र विधि में पूरी कविता का आद्योपान्त पाठ तब तक किया जायगा जब तक वह अच्छी तरह याद नहीं हो जाती।

यह कहना कठिन है कि इन दोनों विधियों से कौन विधि श्रेष्ठतर है। वस्तुतः दोनों के अपने-अपने दोष गुण हैं और दोनों विधि का समय-समय पर अवलम्बन लेना पड़ सकता है। नीचे इन दोष-गुणों का संक्षेप में विवेचन किया जायगा।

खण्डशः विधि में वस्तु में निहित विचारों का तारतम्य टूट जाता है, क्योंकि व्यक्ति को बिना किसी विचार के याद करने के लिए वस्तु का खण्ड कर लेना होता है। दूसरे, इस विधि में एक शब्द का दूसरे शब्द से गलत सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, क्योंकि दोहराने में कुछ शब्द बार-बार आते हैं। प्रायः यह देखा जाता है कि खण्डशः विधि से याद की हुई वस्तु को दोहराने में भूल होती है तो वह प्रारम्भ में ही होती है क्योंकि इस विधि को याद करने में व्यक्ति विचारों के तारतम्य को समझने में पूर्ण-, रूपेण समर्थ नहीं होता। समग्र विधि की अपेक्षा इस विधि में समय भी अधिक लगता है।

परीक्षणों द्वारा देखा गया है कि समग्र विधि में खण्डशः विधि से एक-चौथाई समय की बचत होती है। परन्तु समग्र विधि की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि याद की जाने वाली वस्तु का आकार ऐसा हो कि उसकी पूरी प्रतिमा एक बार ही व्यक्ति के मस्तिष्क में आ जाय। कहना न होगा कि यह आकार वैयक्तिक भिन्नता पर निर्भर करेगा। समग्र विधि में दोष यह है कि व्यक्ति को अपने परिश्रम का फल बहुत देर में मिलते दिखलाई पड़ता है। अतः प्रारम्भ में वह कुछ हतोत्साह हो सकता है। दूसरे, वस्तु में आई हुई बातों की कठिनाई समान नहीं होती फलतः उन्हें याद करने में समान समय की आवश्यकता नहीं होती। अतः कुछ बातों की अनावश्यक आवृत्ति करनी पड़ती है।

कुछ मनोवैज्ञानिकों ने याद करने के लिए इन दोनों विधियों के उपयोग की राय दी है। सर्व प्रथम पूरे पाठ को पढ़कर याद कर लेना चाहिये। इसके बाद पूरे

1. Methods of Memorization. 2. Past versus whole method.

पाठ को तब तक याद करना चाहिये जब तक वह याद न हो जाय। यदि कोई पद विशेष कठिन है तो उसकी अलग से कई बार आवृत्ति करनी चाहिये।

लगातार और समय विभाग द्वारा याद करना[1]

किसी वस्तु को लगातार याद करने के प्रयत्न में मस्तिष्क थक जाता है। अतः याद करने के क्रम में बीच-बीच में थोड़ा विश्राम कर लेना आवश्यक है। विश्राम के अतिरिक्त कुछ देर तक किसी दूसरे काम में लग जाना भी अच्छा हो सकता है, क्योंकि कार्य का परिवर्तन मस्तिष्क के लिये विश्रामदायक होता है। यह देखा गया है कि लगातार याद की हुई वस्तु बहुत देर तक मस्तिष्क में नहीं टिकती। विश्राम देने में यह याद रहे कि वह बहुत लम्बा न हो, अन्यथा मस्तिष्क द्वारा अर्जित संस्कार नष्ट हो जायेंगे। याद की जाने वाली वस्तु के छोटी होने पर उसे लगातार ही याद किया जा सकता है। बड़ी होने पर उसे समय-विभाग द्वारा याद करना ही अधिक अच्छा होगा।

बालक में स्मृति का विकास[2]

यह कहना कठिन है कि बालक में स्मृति का विकास कब से प्रारम्भ होता है। कुछ माता-पिता का तो कहना है कि उनके शिशु ने प्रथम महीने से ही उन्हें पहचानना प्रारम्भ कर दिया। परन्तु अधिकांश मनोवैज्ञानिकों की धारणा है कि तीसरे या चौथे महीने से शिशु में स्मृति का चिन्ह स्पष्टतः देखा जा सकता है। परन्तु इसमें वैयक्तिक भेद होता है। अतः कुछ बालकों में इसमें देर भी लग सकती है। परन्तु ८ या ९ महीने के बाद प्रायः सभी शिशु अपनी माँ की आवाज को पहचानने लगते हैं। दस या ग्यारह महीने की उम्र में तो प्रायः सभी सामान्य शिशु कुछ सार्थक शब्दों का उच्चारण करने लगते हैं। इन शब्दों से उनकी स्मृति का अनुमान होता है। एक वर्ष का बालक खिलौने के छिप जाने पर उसे पाने के लिये बड़ी सतर्कता से देखता है। ऐलेन[3] के अनुसार एक साल का शिशु कुछ क्षण तक यह याद रखता है कि तीन छोटी सन्दूकों में किसमें उसका खिलौना रक्खा गया है। जेसेल[4] का कथन है कि एक वर्ष की उम्र के अध्ययन किये हुये शिशुओं में ९३ प्रतिशत शिशु यह जानने के लिये प्रयत्नशील हो गये कि उनके हाथ

प्रायः तीसरे या चौथे महीने से

1. Continuous and Spaced Learning. 2. The Development of Memory in the Child.

3. *Allen C. N.*, Archives of Psychology, Part 19, No. 127.

4. *Gessel, A.*, The First Year of Life, Harper, New York 1940,

से चिम्वच कहाँ गिर गये। ब्यूहलर[1] के अनुसार एक वष का शिशु खिलौना के खो जाने पर उसे पाँच मिनट तक याद रखता है और दो साल का शिशु उसे बीस मिनट तक याद रख सकता है।

रोता हुआ एक वर्ष का बालक कभी-कभी अपनी माँ की आवाज सुनकर चुप हो जाता है। एक वर्ष का शिशु आठ-दस दिन पर बाहर से अपने पिता के आने पर उसे पहचान जाता है, परन्तु दो-तीन महीने बाद उसके आने पर वह नहीं पहचान पाता। कुछ दिन बाद आने पर सभी की यह उत्सुकता हो जाती है कि छोटे शिशु को उसकी याद बनी है अथवा नहीं।

एक वर्ष का शिशु अनुकरण करना सीख लेता है। उसके अनुकरण में उसकी स्मृति-शक्ति ही छिपी रहती है। बाल्डविन और स्ट्रेचर[1] ने छोटे-छोटे शिशुओं की स्मृति-सम्बन्धी एक परीक्षा की। दो वर्ष के शिशुओं के सामने लकड़ी के चार चौकोर टुकड़े रक्खे गये और एक पाँचवे टुकड़े से उन पर आवाज कर वह टुकड़ा जमीन पर रख दिया गया। दो वर्ष के शिशु ने वैसा ही करने का प्रयत्न किया, पर वह सफल न हो सका। तीन वर्ष का शिशु इसमें सफल हो गया। इस प्रकार स्पष्ट है कि उम्र के बढ़ने के साथ गति-सम्बन्धी स्मृति बढ़ती जाती है।

गति-सम्बन्धी स्मृति

बालकों की चित्र-सम्बन्धी स्मृति का विकास धीरे-धीरे होता है। ढाई वर्ष की पूर्णिमा को चित्रमय वर्णमाला याद कराने की चेष्टा की गई। इस चेष्टा में वह केवल उन्हीं वर्णों को याद कर सकी जिससे सम्बन्धित वस्तुएँ घर में प्रयुक्त की जाती थीं। जैसे "अनार कहे अ, आम कहे आ, लकड़ी कहे ल, ओखली कहे ओ, खरबूजा कहे ख, इत्यादि इत्यादि"। परन्तु वह "उल्लू, ऋषी, तलवार, बतख, मगर, भगत, जहाज आदि शब्दों" को न याद कर सकी, क्योंकि घर में इन शब्दों से उसका परिचय नहीं होता रहा। परन्तु चार वर्ष की हो जाने पर पूर्णिमा वर्णमाला के अक्षरों को पहचानने में गलती नहीं करती। अपने परीक्षणों के आधार पर बाल्डविन[2] और स्ट्रेचर का कहना है कि दो साल के शिशु पहले से देखे हुए चित्रों में से एक चित्र, तीन साल के चार, चार साल के आठ, पाँच साल के ग्यारह और छः साल के बारह चित्रों को पहचान सकते हैं।

चित्र-सम्बन्धी स्मृति

पिल ने आठ से बारह वर्ष के २११३ लड़कों और २११९ लड़कियों की

1. *Buhler, C.*, The First Year of Life, Day, New York, 1930.

2. *Baldwin, B. T.*, and *Stretcher, L. I*, The Psychology of the Preschool Child, Appleton Century Crofts, New York, 1927.

मूर्त वस्तुओं की स्मृति सम्बन्धी परीक्षा की। उसने देखा कि आठ वर्ष की लड़कियाँ १७ शब्द और लड़के १६ शब्द; ९ वर्ष की लड़कियाँ १९ और लड़के १८; दस वर्ष की लड़कियाँ और लड़के २०; ११ वर्ष की लड़कियाँ २२·२५ और लड़के २१·७५; और १२ वर्ष की लड़कियाँ २३·७५ और लड़के २२·७५ शब्द याद कर सके। अमूर्त वस्तुओं के नाम को याद करने के सम्बन्ध में पिल ने २११२ लड़कों और २१२७ लड़कियों पर परीक्षण किया। इस परीक्षण में पिल ने देखा कि आठ वर्ष की लड़कियाँ १४·७५ और लड़के १४; ९ वर्ष की लड़कियाँ १७·७५ और लड़के १६; १० वर्ष की लड़कियाँ और लड़के दोनों १८; ११ वर्ष की लड़कियाँ २० और लड़के १९·२५; और १२ वर्ष की लड़कियाँ २२ और लड़के २०·७५ शब्द याद कर सके। पिल के अन्वेषण से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि १२ वर्ष तक लड़कियों में लड़कों की अपेक्षा स्मृति-शक्ति तीव्रतर होती है, परन्तु दस वर्ष की उम्र में दोनों की स्मृति-शक्ति बराबर होती है।

शाब्दिक स्मृति

ए० एस० स्टार के परीक्षणों से ज्ञात होता है कि एक बार सुनने पर चार या पाँच वर्ष के बच्चे चार अङ्कों को, ६ से ८ वर्ष के ५ और ९ से १२ वर्ष के बच्चे ६ अङ्कों को ठीक-ठीक दोहरा सकते हैं। स्मेडले ने अपने परीक्षण में देखा कि ७½ वर्ष के बच्चे ३५·०२५ प्रतिशत, ८½ के ४२½ प्रतिशत, ९½ के ४५ प्रतिशत, १०½ के ५० प्रतिशत, ११½ के ५५ प्रतिशत और १२½ के ५५·०२५ प्रतिशत अंकों को एक बार सुनने से दोहरा सकते हैं। लिखे हुए अङ्कों को देखने पर उनके दोहराने की शक्ति इस प्रकार पाई गई—७½ वर्ष ३६ प्रतिशत, ८½ वर्ष ४४·६ प्रतिशत, ९½ वर्ष ४७·५ प्रतिशत, १०½ वर्ष ५५ प्रतिशत, ११½ वर्ष ६५ प्रतिशत और १२½ वर्ष ७२·५ प्रतिशत। स्मेडले के परीक्षण से यह निष्कर्ष निकलता है कि देखने की स्मृति-शक्ति सुनने की स्मृति-शक्ति से तीव्रतर होती है, और सुनने की स्मृति-शक्ति की विकास-गति देखने की गति से धीमी होती है।

अङ्कगणित की स्मृति-शक्ति

बालकों की निरर्थक शब्दों की स्मृति-शक्ति के अन्वेषण में स्ट्राउड और मौल ने देखा कि ७ वर्ष के बालक ४ शब्द, ८ वर्ष के ५¼, ९ के ५¾, के १० ६½ और ११ के ६¾ शब्द याद कर सके। कविता याद करने की शक्ति पर भी इन्हीं बालकों पर परीक्षण किया गया और इसका फल इस प्रकार निकला: ७ वर्ष के ९¾ पंक्ति, ८ के ११¼ पंक्ति, ९ के १२¼, १० के १६ और ११ के १७½ पंक्ति याद कर सके।

निरर्थक शब्दों की स्मृति-शक्ति

स्मरण करने का सबसे अच्छा काल कौन ?

बहुधा यह प्रश्न पूछा जाता है कि स्मरण करने का सबसे अच्छा काल कौन है ? वस्तुतः इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है। स्मृति के सम्बन्ध में रुचि की बात आ जाती है। अपनी अपनी रुचि के अनुसार सभी लोग किसी भी अवस्था में विभिन्न बातें याद कर सकते हैं। भौतिक-शास्त्र का विद्यार्थी अपने विषय-सम्बन्धी बातें अधिक सरलता से याद कर सकता है। संगीत-सम्बन्धी स्मृति की परीक्षा में वह एक छोटे बालक के सामने निकम्मा सिद्ध हो सकता है। इसी प्रकार किसी चित्र-सम्बन्धी स्मृति की परीक्षा में बालक किसी प्रौढ़ व्यक्ति से श्रेष्ठ सिद्ध हो सकता है, क्योंकि बहुत सम्भव है कि प्रौढ़ व्यक्ति उस चित्र के अध्ययन में बालक के समान रुचि न दिखला सके। अतः यह कहा जा सकता है कि स्मृति के सम्बन्ध में रुचि का स्थान बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है।

रुचि से स्मृति सम्बन्धित

कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि बचपन याद करने का सबसे अच्छा काल है। परीक्षणों द्वारा मनोवैज्ञानिकों ने इस धारणा को गलत सिद्ध कर दिया है। वस्तुतः याद करने का सबसे अच्छा काल तभी है जब व्यक्ति याद करना चाहता है। बच्चों में रट कर याद करने की शक्ति का विकास अवश्य शीघ्र ही हो जाता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि बचपन के बाद कोई रट नहीं सकता। यहाँ भी रुचि का ही प्रश्न उपस्थित होता है। रुचि के रहने पर किसी भी समय व्यक्ति रटने में समर्थ हो सकता है। हाँ, यह हमें मानना पड़ेगा कि वृद्धावस्था में जब सभी शक्तियों का ह्रास प्रारम्भ हो जाता है तो इस ह्रास का प्रभाव स्मृति पर भी स्वभावतः पड़ता ही है।

'बचपन' स्मरण करने के लिए सबसे अच्छा काल नहीं

११

अवधान और रुचि का विकास[1]

अवधान का स्वरूप[2]

पहले अवधान को एक मानसिक शक्ति माना जाता था। परन्तु प्रयोगात्मक मनोविज्ञान ने अन्वेषण के फलस्वरूप यह अब सिद्ध कर दिया है कि यह एक मानसिक क्रिया है। बिना अवधान के हम कोई कार्य नहीं कर सकते। हम चाहे जो कार्य करें उसमें हमें अवधान (या ध्यान) देना ही होगा। अवधान का सम्बन्ध चेतनता[3] से है। किसी वस्तु पर ध्यान देना उस पर अपनी चेतना केन्द्रित करना है। जागृतावस्था में हमारा ध्यान किसी न किसी वस्तु पर केन्द्रित रहता ही है।

चेतना से सम्बन्ध

साधारणतः हमारी यह धारणा है कि हम एक बार कई वस्तुओं को देख लेते हैं। उदाहरणार्थ किसी कमरे के निरीक्षण में जान पड़ता है कि हम एक साथ कई वस्तुओं को देख रहे हैं। परन्तु बात ऐसी नहीं है। हम एक बार एक ही वस्तु पर अपनी चेतना केन्द्रित कर सकते हैं। हाँ, यह सम्भव हो सकता है कि एक क्षण में हम बारी-बारी से अपनी चेतना कई वस्तुओं पर केन्द्रित कर लें। इस प्रकार अपनी चेतना केन्द्रित कर सकने में वैयक्तिक वैभिन्न पाया जाता है।

एक बार एक ही वस्तु पर अवधान केन्द्रित

यदि हम एक बार एक ही वस्तु को देख सकते हैं, तो एक क्षण में बारी-बारी से कई वस्तुएँ हम कैसे देख पाते हैं और हमें यह कैसे मालूम होता है कि हम एक बार कई वस्तुएँ देख रहे हैं? ऊपर हम कह चुके हैं कि चेतना के केन्द्रित होने से हम किसी वस्तु पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। हमारी चेतना के दो भाग होते हैं:

केन्द्रीय और तटीय चेतना

---

1. The Development of Attention and Interest लेखक द्वारा रचित 'प्रयोगात्मक मनोविज्ञान', पृष्ठ १६३-१६६, आगरा बुक स्टोर, आगरा, १९५४।

2. Nature of Attention. 3. Consciousness.

केन्द्रीय[1] और तटीय[2]। जिस वस्तु पर हमारा ध्यान जाता है वह केन्द्रीय चेतना का अंग बन जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ और भी वस्तुएँ होती हैं जो तटीय चेतना के अन्तर्गत पड़ी रहती हैं और मस्तिष्क जब चाहे तब उन्हें केन्द्रीय चेतना का अंग बनाने में समर्थ होता है। इसीलिए तो हमारे ध्यान को एक वस्तु से दूसरी वस्तु पर जाने में कुछ देर लगते नहीं जान पड़ती। यह ध्यान रखने की बात है कि केन्द्रीय और तटीय चेतना को विभाजित करने के लिए कोई निश्चित रेखा नहीं। जो वस्तु तटीय चेतना के अन्तर्गत है वही केन्द्रीय चेतना में तुरन्त ही आ सकती है और केन्द्रीय चेतना वाली तटीय में आ सकती है। अतः हम कह सकते हैं कि अवधान का विषय बदला करता है। हमारा यह अनुभव भी है कि हम क्षण-क्षण पर अपना ध्यान एक वस्तु से दूसरी वस्तु पर हटाया करते हैं। अवधान का विषय वही माना जायगा जिस पर हमारी चेतना केन्द्रित होगी। अवधान को समझने के लिये हमें उसके और चेतना के भेद को समझ लेना चाहिए। नीचे हम इसी भेद की ओर संकेत करेंगे।

अवधान और चेतनता[3]

ऊपर हम यह कह चुके हैं कि चेतना के केन्द्रित होने से हमारा अवधान किसी वस्तु पर जाता है; परन्तु इससे यह समझना भूल होगी कि अवधान और चेतना में भेद नहीं। जिस वस्तु पर हमारा अवधान जाता है उसकी चेतना हमें अवश्य होती है, परन्तु चेतनता के अन्तर्गत आई हुई सभी वस्तुओं पर हमारा ध्यान जाना आवश्यक नहीं। चेतनता का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो सकता है और अवधान उसका केवल एक अंग हो सकता है। कमरे में रक्खी हुई विभिन्न वस्तुएँ—जैसे, चित्र, कलम, कुर्सी, मेज, पंखा, चारपाई तथा दर्पण हमारी चेतनता में आ सकती हैं; परन्तु हमारा ध्यान केवल दर्पण पर ही केन्द्रित हो सकता है, क्योंकि हम उसमें अपना शरीर देखने जा रहे हैं। इस प्रकार चेतनता के दो क्षेत्र की बात कही जा सकती है—ध्यान वाला और उपेक्षा वाला। ध्यान वाला क्षेत्र केन्द्रीय चेतना में होता है और उपेक्षा वाला तटीय में। तटीय चेतनता को कभी-कभी उप-चेतनता[4] की भी संज्ञा दी जाती है। उप-चेतना में रहने वाली वस्तुओं पर हमारा ध्यान नहीं जाता, तो उनकी हमें चेतना कैसे रहती है? उप-चेतना की वस्तु से हमारी चेतना के पूरे वातावरण की ओर संकेत मिलता है। उप-चेतना में रहने वाली वस्तुओं के हट जाने पर हमें उनकी चेतना हो आती है। जैसे, घड़ी के 'टिक-

अवधान चेतना का केवल एक अंग

---

1. Central 2. Marginal 3. Attention and Consciousness. 4. Sub-Consciousness

टिक' की हमें चेतना नहीं रहती, परन्तु 'टिक-टिक' के बन्द हो जाने पर हमें तुरन्त चेतना हो जाती है कि घड़ी का चलना बन्द हो गया।

अवधान की दशायें[1]

जिन बातों के कारण हम अपना अवधान किसी वस्तु पर केन्द्रित कर पाते हैं, उसे अवधान की दशायें कहते हैं। इन बातों में कुछ का सम्बन्ध वातावरण से होता है; जैसे, उद्दीपक की तीव्रता तथा काल और वस्तु की गतिशीलता इसके अतिरिक्त कुछ का सम्बन्ध व्यक्तिगत बातों से होता है, जैसे व्यक्ति की शिक्षा, रुचि, मन, स्थिति, तात्कालिक क्रियाशीलता। अवधान की दशाओं के इस वर्गीकरण का तात्पर्य यह नहीं कि एक दशा दूसरे से स्वतन्त्र होती है। वस्तुत: ये सभी मिलकर हमारे अवधान को कभी-कभी किसी वस्तु की ओर खींचती हैं। अवधान के केन्द्रित होने में तात्कालिक क्रियाशीलता, प्रयोजन और मन:स्थिति का सदा प्रभाव पड़ा करता है, यद्यपि वातावरण-सम्बन्धी बातें भी अपनी उग्रता के कारण हमारा ध्यान अपनी ओर अनायास खींच लेती हैं। नीचे हम वातावरण तथा व्यक्तिगत सम्बन्धी अवधान की दशाओं को अलग-अलग समझने की चेष्टा करेंगे।

वातावरण और व्यक्तिगत सम्बन्धी

वातावरण-सम्बन्धी अवधान की दशायें

(१) **आकार**—आकार का हमारे ध्यान पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। प्राय: यह सभी का अनुभव है कि बौना या बहुत लम्बा आदमी हमारा ध्यान आकर्षित कर लेता है। समाचार-पत्र में छपे हुए सबसे बड़े चित्र की ओर हमारा ध्यान तुरन्त चला जाता है।

(२) **गति**—गतिशील वस्तु की ओर हमारा ध्यान शीघ्रतर जाता है। दूकान में गतिशील खिलौना अन्य खिलौने की अपेक्षा हमारा ध्यान शीघ्रतर आकर्षित कर लेता है। हम अपने मित्र का ध्यान खींचने के लिए उनकी ओर अपना हाथ या रूमाल हिलाते हैं,—केवल हाथ अथवा रूमाल का दिखलाना ध्यान को आकर्षित करने के लिए पर्याप्त नहीं होता। इसीलिए तो रेल के ड्राइवर को संकेत देते समय गार्ड झण्डी को केवल दिखलाता नहीं, वरन् उसे हिलाता भी रहता है।

(३) **अवधि**[2]-घड़ी में एलार्म लगाने के लिए हम कुञ्जी को अच्छी प्रकार कसते हैं; जिससे उपयुक्त समय पर वह काफी देर तक बजती रहे। घूम कर सौदा बेचने वाले अपनी आवाज लम्बी करके निकालते हैं, जिससे लोगों का ध्यान वे अवश्य ही

1. Conditions or Determiners of Attention. 2. Duration.

आकर्षित कर लें। बात यह है कि उद्दीपक जितना ही दीर्घकालीन होता है उतनी ही हमारे स्नायुमण्डल[1] की अवरोध-शक्ति कम हो जाती है। स्नायुमण्डल के अवरोध-शक्ति की कमी के कारण व्यक्ति का ध्यान किसी वस्तु की ओर शीघ्र ही आकर्षित हो जाता है। किसी दीर्घकालीन उद्दीपक से हमारा ध्यान अधिक प्रभावित होता है, क्योंकि उस दीर्घकाल में हम अपने आसन बदलते रहते हैं, यदि एक आसन में ध्यान आकर्षित न हो सका तो किसी दूसरे आसन में हो जाने की अधिक सम्भावना रहती है।

(४) **आवृत्ति**[2]—उद्दीपक की आवृत्ति भी हमारे ध्यान को आकर्षित कर लेती है। इसीलिये तो शिक्षक या वक्ता जिस बात की ओर अपने श्रोताओं का ध्यान आकर्षित करना चाहता है उसे वह कई बार दोहराता है।

(५) **तीव्रता**[3]—तीव्रता हमारे ध्यान को शीघ्र आकर्षित कर लेती है। इसीलिये तो दूसरों का ध्यान आकर्षित करने के लिये लोग कभी गाढ़े रंग के कपड़े पहनते हैं। गहरे अक्षरों में लिखा हुआ विज्ञापन अथवा सूचना हमारे ध्यान को शीघ्र आकर्षित कर लेता है। दीपक की अपेक्षा बिजली का तीव्र प्रकाश हमारे ध्यान को शीघ्र आकर्षित कर लेता है।

अवधान की व्यक्तिगत दशायें

(१) **सामाजिक बातें**—व्यक्ति विभिन्न सामाजिक बातों से प्रभावित होता ही है। जो बातें उसका निकटवर्ती समाज करता है उसकी ओर उसका ध्यान स्वभावतः आकर्षित हो जाता है, और उसे वह करना चाहता है।

(२) **रुचि**—रुचि और अवधान में घनिष्ट सम्बन्ध है (इसकी हम आगे चर्चा करेंगे)। जिस वस्तु में हमारी रुचि होती है उस ओर हमारा ध्यान आकर्षित हो जाता है। बाजार अथवा समाचार-पत्र की वही वस्तुएँ हमारा ध्यान आकर्षित करती हैं जिनमें हमारी रुचि होती है।

(३) **शिक्षा और अनुभव**—अपनी-अपनी शिक्षा और अनुभव के अनुसार लोग विभिन्न वस्तुओं की ओर आकर्षित होते हैं। इसलिये समान वातावरण में विभिन्न लोगों की प्रतिक्रियायें भिन्न-भिन्न हो सकती हैं। किसी बाग में आने पर 'वनस्पति-विज्ञान-वेत्ता', 'माली' तथा 'सुगन्ध-रसिक' का ध्यान विभिन्न बातों पर जायगा। ऐसा उनकी शिक्षा तथा अनुभव के कारण ही होता है।

रुचि

ऊपर हम कह चुके हैं कि अवधान और रुचि में घनिष्ट सम्बन्ध है। वस्तुतः

1. Nervous System. 2. Repetition. 3. Intensity.

अवधान की व्यक्तिगत दशाओं में रुचि का प्रभाव बड़ा व्यापक जान पड़ता है। विषम के अनुसार रुचि वह प्रवृत्ति है जिससे हम किसी अनुभव में दत्तचित्त होकर उसे जारी रखना चाहते हैं। विंघम की इस उक्ति में अवधान और रुचि की परस्पर-निर्भरता एकदम स्पष्ट है। मैग्डूगल कहता है कि "रुचि छिपा हुआ अवधान है और अवधान रुचि का क्रियात्मक रूप है।"

रुचियों के भेद

(१) **जन्मजात**—रुचियों के दो भेद किये जा सकते हैं: जन्मजात और अर्जित। जन्मजात रुचियाँ मूलप्रवृत्यात्मक होती हैं, जैसे खाने-पीने, दौड़ने, भागने, लड़ने और चिल्लाने की रुचियाँ। "मूलप्रवृत्तियों और सामान्य प्रवृत्तियों की क्रियाशीलता से हमें कुछ विशिष्ट वस्तुएँ रुचिकर लगती हैं। माँ की रुचि अपने पुत्र में है। बिल्ली की रुचि चूहे में होने से वह बिल के पास चुपके से छिप जाती है। कुत्ते की रुचि खरगोश में होने के कारण वह उसके पीछे झाड़ी-झाड़ी दौड़ता है। सर्प की रुचि मेढ़कों में होती है। इसीलिये कभी उन्हें निगलने के लिए वह कुयें अथवा पानी के गड्ढों में चला जाता है।"[1] ऐसी रुचियों को जन्मजात अथवा स्वाभाविक कहा जा सकता है।

(२) **अर्जित**—शिक्षा अथवा अनुभव के फलस्वरूप जो रुचियाँ व्यक्ति में उत्पन्न होती हैं वे अर्जित कही जाती हैं। अर्जित रुचियों की भी नींव जन्मजात रुचियों में ही होती है। उदाहरणार्थ: बालकों की संगीत तथा पढ़ने-लिखने में रुचि उसके आत्म-प्रकाशन-सम्बन्धी जन्मजात रुचि अथवा मूलप्रवृत्ति के कारण हो सकती है।

रुचि के न होने से व्यक्ति किसी वस्तु की ओर अवहेलना की दृष्टि से देखता है। पेट भरे रहने पर बालक की रुचि मिठाई की ओर नहीं रहती। रुचि के न रहने पर बालक अपना ध्यान कक्षा-शिक्षण में नहीं लगाता। अत: प्रत्येक पाठ का सम्बन्ध बालक की रुचियों से होना आवश्यक है, अन्यथा शिक्षक का श्रम व्यर्थ जायगा।

अवधान और रुचि के इस संक्षिप्त मनोवैज्ञानिक विवेचन के बाद नीचे हम इन्हें बालकों के विकास के सम्बन्ध में अति संक्षेप में समझने की चेष्टा करेंगे, क्योंकि यहाँ हमारा क्षेत्र बहुत ही सीमित है।

बालक में अवधान देने की शक्ति का विकास

अभी तक यह निश्चय नहीं किया जा सका है कि शिशु किस समय से किसी

१. लेखक द्वारा रचित "मनोविज्ञान और शिक्षा" पृष्ठ ४०४, द्वि० सं०, प्रकाशक-लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, १९५६।

वस्तु की ओर अपना अवधान केन्द्रित करने में समर्थ होता है। प्रायः यह देखा जाता है कि एक महीने की उम्र के पहले ही शिशु दीपक की ओर एकटक देखने का प्रयास करता है। दो महीने का शिशु तो दीपक के हटा लेने पर रोते हुए भी देखा जाता है, और फिर दीपक के आजाने पर चुप हो जाता है। कमरे में किसी के आने पर चार-पाँच महीने का शिशु उसकी ओर कुछ आकर्षित होते देखा जाता है। एक महीने का शिशु किसी वस्तु की ओर बहुत देर तक नहीं देख सकता। उसकी आँखें बहुधा इधर-उधर नाचा करती हैं। परन्तु चार-महीने का शिशु कुछ देर तक किसी वस्तु को देखते रहने में सफल होता है। अब वह दूसरों की आवाज से आकर्षित होता है और पुचकारने का उत्तर मुस्करा कर देता है। इस प्रकार अवधान देने की उसकी शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है। इस शक्ति के बढ़ने का उसकी रुचियों के विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। जब शिशु की रुचि खिलौनों में हो जाती है तो उनकी ओर वह अपना अवधान केन्द्रित करने लगता है।

उत्तरोत्तर विकास

वान ऐल्स्टिन[1] ने अपने अन्वेषण में देखा कि दो वर्ष के शिशु केवल ७ ही मिनट किसी वस्तु की ओर स्थिर ध्यान से देख सकते थे, परन्तु चार-पाँच वर्ष के शिशु १४-१५ मिनट तक अपने ध्यान को केन्द्रित कर सके। 'ध्यान की स्थिरता' और बालक के व्यक्तित्व-विकास में घनिष्ठ सम्बन्ध है। मन्द बुद्धि का बालक अपने ध्यान को कम केन्द्रित कर पाता है परन्तु ध्यान की स्थिरता के आधार पर किसी बालक को मन्द बुद्धि का मान लेने के पहले यह निर्णय कर लेना अत्यन्त आवश्यक है कि किसी वस्तु विशेष में बालक की रुचि है या नहीं। कहना न होगा कि रुचि के अभाव में वह उस वस्तु की ओर अपना ध्यान न दे सकेगा। वस्तुतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह कहना गलत है कि बालक ध्यान नहीं दे रहा है। वह (या कोई भी व्यक्ति) सदा किसी न किसी वस्तु पर ध्यान दिया करता है। हाँ, यह हो सकता है कि इस वस्तु पर ध्यान न देकर बालक कभी हमारी अपेक्षा के विपरीत किसी दूसरी वस्तु पर ध्यान दे सकता है क्योंकि अपनी रुचि के अनुसार अपने ध्यान का केन्द्र वह चुन ही लेता है।

बालक के ध्यान का केन्द्र उसके स्वभाव, रुचि, स्वास्थ्य और उद्देश्य पर निर्भर करता है। साधारणतः जिस खिलौने से बालक खेलता रहता है बीमारी की

---

१. *Van Alstyne* : Play Behaviour and Choice of Play Materials of Pre-School Children, Chicago University, Chicago Press, 1932.

हठात् ध्यान लगाना अमनोवैज्ञानिक

दशा में उसे वह झनक कर फेंक दिया करता है। स्ट्रैङ्ग[1] के अनुसार पाँच वर्ष का बालक मिट्टी तथा लकड़ी के खिलौने, गुड़िया तथा रंगीन खड़िया से अधिक आकर्षित होता है। धीरे-धीरे उसकी रुचियाँ दूसरी वस्तुओं में होने लगती हैं। तब वह इन वस्तुओं की ओर अधिक आकर्षित नहीं होता। किसी वस्तु की ओर बालक का ध्यान हठात् लगाना अमनोवैज्ञानिक है, क्योंकि उसका ध्यान हठात् लगाया ही नहीं जा सकता। अतः बालक के ध्यान न देने पर उसके कारण को समझ कर उसे दूर करने की चेष्टा करनी चाहिए।

बालक की रुचियाँ

रुचियों का महत्त्व

ऊपर हम संकेत कर चुके हैं कि व्यक्तित्व-विकास में रुचिओं का विशेष महत्त्व होता है। जिसके पास जितनी रुचियाँ होती हैं उसका व्यक्तित्व उतना ही व्यापक होता है। अतः बालक में अनेक रुचियों का विकास करना आवश्यक है। अनेक रुचिओं के रहने से अवसर पर वह अपना पथ निर्धारित करने में सफल हो सकेगा, अन्यथा उसमें कूपमण्डूकता आ जायगी। कई रुचियों के रखने से मानसिक उदारता बढ़ती है। इससे व्यक्ति को समय-समय पर मानसिक विश्राम भी मिलता रहता है, क्योंकि एक रुचि वाले विषय के साथ काम करने से व्यक्ति जब तक थक जाता है तो दूसरी रुचि वाले विषय में लगने से उसकी मानसिक थकावट कुछ दूर होती जान पड़ती है।

बालकों की रुचि का पता लगाना

सर्व प्रथम अभिभावकों को बालकों की रुचिओं को समझने की चेष्टा करनी चाहिए। बालक की किसी इच्छा मात्र से उसकी रुचि का अनुमान लगा लेना ठीक न होगा। रुचि का सम्बन्ध किसी विषय के सम्बन्ध में व्यक्तिगत क्रियाशीलता से होता है। यहाँ पर यह ध्यान रखना है कि रुचि और योग्यता में विशेष सम्बन्ध नहीं। रुचि के रखते हुये भी अनुकूल वातावरण के अभाव से बालक में तत्सम्बन्धी योग्यता का अभाव हो सकता है। संगीत में रुचि रखते हुये भी बालक यदि अच्छा गुरु न पा सका तो उसमें संगीत-सम्बन्धी योग्यता न आयेगी। इस मनोवैज्ञानिक सत्य के कारण यह आवश्यक है कि बालक की रुचि का ठीक-ठीक पता लगाया जाय और उसके विकास हेतु समुचित उपकरणों का आयोजन किया जाय।

---

[1] *Strang*, R., An Introduction to Child Study, p 172, Rev. Ed. Macmillan, New York, 1938.

उम्र के बढ़ने के साथ बालकों की रुचियों में परिवर्तन आता रहता है। अतः जो बातें शैशव में अच्छी लगती हैं वे बचपन में अरुचिकर लग सकती हैं और बचपन की बातें कैशोर के लिए व्यर्थ हो सकती हैं। नीचे हम देखेंगे कि बालकों की रुचियों में उत्तरोत्तर विकास कैसे होता है।

बालकों की खेल-सम्बन्धी रुचियाँ

बालकों के खेलों के अध्ययन से उनके वर्तमान स्वभाव, योग्यता और आवश्यकता का बहुत हद तक पता लगाया जा सकता है। शैशव में बालक अपनी क्रियाशीलता के क्रम में एकदम स्वतन्त्र रहना चाहता है। इस समय उसकी रुचि केवल स्वतन्त्र रहने में ही जान पड़ती है। इधर-उधर आना-जाना, वस्तुओं को उलटना-पटकना तथा फोड़ना उसके मनोरंजन और खेल का प्रधान अंग जान पड़ता है। एक वर्ष का शिशु अपने दूध भरे प्याले को नष्ट करते देखा जाता है। घर में रखी हुई वस्तुओं को अस्त-व्यस्त करने में वह मग्न दिखलाई पड़ता है। डेढ़-दो वर्ष का शिशु धूल में खेलना पसन्द करता है। गेंद भी उसके खेल का एक साधन होता है। तीन-चार वर्ष का बालक छड़ी को घोड़ा मानकर उसकी सवारी करता है और खिलौने को गाड़ी मानकर उसका ड्राइवर बनने का स्वाँग रचता है। अभी तक उसके खेल प्रायः व्यक्तिगत ही होते हैं। छः-सात वर्ष की उम्र में उसके खेल का स्वरूप सामूहिक होने लगता है। समूह में रहना तो उसे दूसरे साल की उम्र से ही अच्छा लगता है; परन्तु दो-तीन वर्ष के बच्चे समूह में रहते हुये भी अपने-अपने वैयक्तिक खेल में ही मस्त रहते हैं।

स्वाभाविक क्रियाशीलता, वैयक्तिक और सामूहिक खेल

छः-सात वर्ष पर बालक की रुचि जब सामूहिक खेलों में होने लगती है तो साथी न मिलने पर उसके सामाजिक विकास को बड़ा धक्का लगता है, तब उसके भाषा-विकास में भी विघ्न पड़ता है। सात वर्ष की अवस्था से बालक में विधायकता की मूलप्रवृत्ति विशेषतः जागृत होने लगती है। अब उसके खेल में विधायकता का पुट देखने को मिलता है। धूल व मिट्टी के घर, फूलों की माला तथा कागज की नावें आदि बनाने का प्रयास करना उनके खेल के अंग हुआ करते हैं। इसी समय लड़कियाँ गुड़ियों के साथ खेलना विशेष पसन्द करती हैं। दस वर्ष की अवस्था से बालकों और बालिकाओं के खेलों में प्रतियोगिता का भाव मिलने लगता है। अब वे अपने खेलों में कुछ पूर्व निर्धारित नियमों का पालन करना आवश्यक समझने लगते हैं। गुल्ली-डण्डा, हॉकी,

विधायकता, प्रतियोगिता, कला तथा लड़के और लड़कियों के खेल में भेद

फुटबाल, बैडमिण्टन, क्रिकेट, तैरना, दौड़ना तथा पेड़ पर चढ़ना आदि उनके खेलों के प्रधान अंग हुआ करते हैं। इन खेलों में वे एक दूसरे से अपनी श्रेष्ठता दिखलाना चाहते हैं। दस-बारह वर्ष की उम्र से लड़कों और लड़कियों में अपने खेल के क्रम में तत्सम्बन्धी कला की सीखने की प्रवृत्ति आ जाती है। दस वर्ष की अवस्था से लड़कियों के खेल में लड़कों के खेलों की अपेक्षा विशेष भिन्नता दिखलाई पड़ने लगती है। घरेलू कार्यों में उनकी रुचि बढ़ने लगती है। सीना, बुनना, नाचना और गाना सीखना उनके खेल के अंग होने लगते हैं—यद्यपि थोड़े ही दिन में ये सब खेल न होकर उनके लिए कार्य हो जाते हैं।

बालकों की सामाजिक रुचियाँ

वालकों की सामाजिक रुचिओं का विकास यकायक नहीं हो जाता। वस्तुतः इसका प्रारम्भ अन्य रुचिओं ही के साथ होने लगता है। प्रायः यह देखा जाता है कि एक ड़ेढ़ साल का शिशु अकेले छोड़ देने पर रोने लगता है। अतः यह कहा जा सकता है कि इस समय उसकी सामाजिक रुचि दूसरों के साथ रहने तक सीमित है। दो-तीन वर्ष का शिशु अपने ही उम्र के अन्य शिशुओं के साथ मिलकर खेलना चाहता है। तीन-चार वर्ष का शिशु अपने माता अथवा पिता के साथ बाहर जाने की इच्छा प्रगट करता है और न ले जाने पर रोने लगता है। पाँच-छः वर्ष का शिशु किसी मेले, समारोह अथवा उत्सव में जाने के लिए हठ करते देखा जाता है। आठ-दस वर्ष का शिशु बाहर जाकर वहाँ की बातें समझना चाहता है। पूजास्थानों का वह निरीक्षण करना चाहता है। त्यौहारों के अवसर पर अपने घर सजाने में उन्हें बड़ा आनन्द आता है। बालकों की सामाजिक रुचियों के विकास में वातावरण का विशेष हाथ रहता है। वातावरण जितना ही कुतूहलपूर्ण होता है, सामाजिक रुचियों के विकास का उतना ही अच्छा अवसर होता है।

वातावरण का विशेष प्रभाव

पढ़ने की रुचि

पढ़ने की रुचि पर बालकों का विकास बहुत हद तक निर्भर करता है। समुचित वातावरण के अभाव में कुछ बालकों में पढ़ने की रुचि का विकास नहीं हो पाता। फलतः ऐसे बालकों का व्यक्तित्व-विकास अधूरा रह जाता है। दस वर्ष के पहले पढ़ने में बच्चों की कोई विशेष रुचि नहीं रहती। अब तक उनकी रुचि प्रधानतः खेलों में ही होती है। परन्तु दस-ग्यारह वर्ष की अवस्था पर उचित वातावरण के मिलने पर उनकी पढ़ने की रुचिओं का विकास होने लगता है। पढ़ने की रुचि के

विकास के अनुसार भेद

आधार पर उनके मानसिक विकास के स्तर का भी अनुमान लगाया जा सकता है। छः सात वर्ष का बालक जानवरों-सम्बन्धी मनोरंजक कहानियाँ पढ़ना और सुनना चाहता है। तुकान्त गाने पढ़ने और गाने में उसे बड़ा आनन्द आता है। सात-आठ वर्ष के बालक में प्रकृति-सम्बन्धी बातें पढ़ने की रुचि आने लगती है। नदी, पहाड़, जंगल, समुद्र, सूर्य तथा चन्द्रमा आदि के सम्बन्ध में वह जानना चाहता है और तत्सम्बन्धी मनोरंजक कहानियाँ यदि उसे मिल गईं तो उन्हें वह बड़े चाव से पढ़ता है। नव वर्ष के हो जाने पर उसे प्रायः कल्पनात्मक कहानियाँ अच्छी लगती हैं। परियों और शेखचिल्ली की कहानियाँ इस समय उसे बड़ी भाती हैं। ग्यारह वर्ष की अवस्था से उसमें जिज्ञासा प्रवृत्ति विशेष क्रियाशील हो जाती है, अतः इस समय वह आविष्कार तथा अन्य रहस्यपूर्ण बातें सुनना और पढ़ना चाहता है। इसी समय उसमें प्रतियोगिता-भावना भी खूब होती है। अतः साहसपूर्ण कहानियाँ भी उसे बड़ी रुचिकर लगती हैं। लड़कियों का सामाजिक विकास लड़कों से कुछ भिन्न होता है। अतः उनकी पढ़ने की रुचियाँ भिन्न होती हैं। दस-बारह वर्ष की लड़कियाँ कौटुम्बिक बातों वाली कहानियाँ पढ़ना अधिक पसन्द करती हैं। जीवन-चरित्र और ऐतिहासिक कहानियाँ भी उन्हें अच्छी लगती हैं। किशोरावस्था के आते-आते लड़के और लड़कियों की रुचिओं में बड़ा भेद आ जाता है, क्योंकि इस समय उनके जीवन की विभिन्न समस्याएँ अपने वास्तविक रुचि की ओर संकेत करने लगती हैं। अतः इन विभिन्न समस्याओं से सम्बन्धित ही उनकी पढ़ने की रुचियाँ होती हैं।

बालकों की व्यावसायिक रुचि

शैशव अथवा बचपन में बालक के व्यावसायिक रुचि का पता लगाना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि इस समय उसे जीवन की विभिन्न समस्याओं का विशेष ज्ञान नहीं रहता। परन्तु कैशोर अर्थात् बारहवें या तेरहवें वर्ष के प्रारम्भ से वह अपने व्यावसायिक रुचि का कुछ-कुछ संकेत देने लगता है। व्यावसायिक रुचि के विकास में माता-पिता के वातावरण का विशेष प्रभाव पड़ते दिखलाई पड़ता है। इसीलिए तो प्रायः यह देखा जाता है कि बढ़ई का लड़का लकड़ी के कार्य की ओर और सोनार का लड़का सोनारी की ओर अपनी प्रवृत्ति दिखलाता है। परन्तु माता-पिता के व्यवसाय को ही बालक को चुनने के लिये अभिप्रेरित नहीं करना चाहिए। उसे इसके लिए पूरी स्वतन्त्रता देना अत्यन्त आवश्यक है। माता-पिता द्वारा इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का दबाव हानिकर होगा।

माता-पिता द्वारा दबाव हानिकर

१२

अपराधी बालक—कुछ कारण और उपचार[1]

बच्चे बहुधा बड़े प्यारे लगते हैं और प्राय: यह कहा जाता है कि वे बड़े ही अच्छे हैं और उनका जीवन बड़ा ही सुखी है। परन्तु सभी बच्चों के विषय में यह बात लागू नहीं होती। कुछ बच्चे ऐसे होते हैं जो वातावरण में अपने को व्यवस्थित नहीं कर पाते। ऐसे बच्चे प्राय: ऐसे व्यवहार दिखलाते हैं जिन्हें सामान्य नहीं कहा जा सकता। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि उनमें 'व्यक्तित्व सम्बन्धी[2] कुछ कठिनाइयाँ' आ गई हैं। ऐसे बच्चे संवेगात्मक दृष्टि से अस्वस्थ होते हैं; और उन्हें समस्या-बालकों[3] की संज्ञा दी जा सकती है। यों तो कठिनाइयाँ और समस्यायें सभी व्यक्तियों के अनुभव की वस्तु होती हैं; चाहे वे बच्चे, प्रौढ़ वा बूढ़े हों। परन्तु संवेगात्मक दृष्टि से स्वस्थ व्यक्ति अपनी समस्याओं का हल समाज द्वारा स्वीकृत साधनों के सहारे करना चाहता है। इसके विपरीत संवेगात्मक दृष्टि से अस्वस्थ व्यक्ति अपने के आवेशवश किसी समय कुछ भी कर सकता है। अगले पृष्ठों में हम यह समझने की चेष्टा करेंगे कि संवेगात्मक दृष्टि से अस्वस्थ बालक के असामान्य व्यवहार के क्या कारण होते हैं और उनके दोषों को दूर करने के लिये किन-किन उपायों का अवलम्बन लिया जा सकता है। अगले पृष्ठों में संवेगात्मक दृष्टि से अस्वस्थ तथा असामान्य व्यवहार दिखलाने वाले बालक को 'अपराधी बालक' की संज्ञा दी जायगी।

अपराधी बालक

पुराने जमाने में अपराधी बालक के असामान्य व्यवहार का कारण किसी भूत, प्रेत अथवा शैतान को समझा जाता था। ऐसे बालकों से लोग डरा करते थे और कभी-कभी उनकी पूजा भी किया करते थे। इसके विपरीत उन्हें कभी-कभी मार डालने की भी चेष्टा की जाती थी। परन्तु अपराधी बालकों के प्रति आजकल ऐसा व्यवहार नहीं किया जाता। मनोवैज्ञानिक खोजों के फलस्वरूप अब

प्राचीन और वर्तमान धारणा

---

1. Delinquent Children—some Cause and Remedies [लेखक द्वारा लिखित "शिक्षा" अक्टूबर, १९५५, तथा जनवरी, १९५६ (उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ) में प्रकाशित लेख के आधार पर]

2. Some Personality Disturbances. 3. Problem Children.

उनके व्यवहार के कारण को समझने की उपयोगिता मान ली गई है। पाश्चात्य देशों में तो अपराधी बालकों के उपकार के लिये बड़ी-बड़ी संस्थायें संचालित की जा रही हैं और उनसे अपराधी बालकों का बड़ा ही उपकार होता है।

बालकों के असामान्य व्यवहार के मनोवैज्ञानिक कारण

कुछ लोग असामान्य व्यवहार के कारण को शारीरिक[1] मान बैठते हैं। कुछ बालकों के सम्बन्ध में यह ठीक भी हो सकता है; परन्तु कुछ के सम्बन्ध में संवेगात्मक[2] कुव्यवस्थापन ही प्रधान कारण हो सकता है। शारीरिक कारण के अन्तर्गत बुरा स्वास्थ्य, शरीर[3] की कोई विशिष्ट बनावट तथा ग्रन्थियों सम्बन्धी कुछ[4] गड़बड़ी आदि बातें आ सकती हैं। संवेगात्मक कुव्यवस्थापन का तात्पर्य बालक के प्रति दूसरों का दुर्व्यवहार और असहानुभूति से समझा जा सकता है।

शारीरिक और संवेगात्मक कारण

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के अनुसार बालक के असामान्य व्यवहार के कारण शारीरिक और संवेगात्मक दोनों हो सकते हैं। संवेगात्मक कुव्यवस्था का कारण वातावरण हो सकता है। वातावरण-सम्बन्धी बातों में अधोलिखित बातें आ सकती हैं: (१) बुरा नैतिक वातावरण, (२) माता-पिता अथवा दोनों का मानसिक असन्तुलन[5] (३) अच्छी बातें सिखला सकने में माता-पिता की अयोग्यता, तथा झगड़ालू घर।

जॉर्डन[6] के अनुसार बालकों के कुव्यवस्थापन के अधोलिखित कारण हो सकते हैं:—

प्रवृत्तियों और इच्छाओं का दमन[7]

१—प्रौढ़ों अथवा साथियों द्वारा चिढ़ाया जाना, अथवा उनकी वास्तविक कल्पित उदासीनता जिससे आत्महीनता की भावना बालक में आ जाती है।

२—काम-मूलप्रवृत्यात्मक किसी दोष के कारण मन में पाप-भावना का जमना।

३—कोई ऐसा शारीरिक दोष जिससे बालक अपने को कुरूप समझने लगे।

४—माता-पिता द्वारा अत्यधिक लाड़ प्यार के कारण निकटवर्ती सामाजिक कार्यों में हाथ न बटा सकना।

५—स्कूल में असफलता के कारण दूसरे बालकों द्वारा अपमानित होना।

---

1. Phsysiological. 2. Emotional maladjustment. 3. Body Build. 4. Glandular disorder. 5. Mentally Unbalance.

6. *Jordan, Arthur. M.,* Educational Psychology, pp. 403-405, Henry Holt & Co, New York, 1942.

7. Thwarting of Impulses and Desires.

संवेगात्मक उद्दीपन[1]

१—भय उत्पन्न करने वाले संवेगात्मक धक्के ।

२—स्नायविक[2] दुर्बलता से पीड़ित माता-पिता अथवा सम्बन्धियों की उपस्थिति ।

३—लगातार उद्दीपन, जैसे नित्य सिनेमा देखना ।

४—माता-पिता द्वारा बड़ी-बड़ी ऐसी अपेक्षायें जिन्हें नैतिक साधनों से न पूरा किया जा सके ।

घर की बुरी दशायें

१—माता-पिता के आपसी झगड़े ।

२—माता पिता से समुचित प्यार का न मिलना ।

३—माता-पिता द्वारा एक दूसरे का तलाक—जब कि बालक दोनों को बहुत अधिक प्यार करता है ।

४—कौटुम्बिक आर्थिक अवस्था के खराब होने के कारण अपने को अरक्षित समझना ।

५—कुटुम्ब के अन्य सदस्यों से हतोत्साहित करने वाली तुलना करना ।

६—कुटुम्ब की आकांक्षाओं के अनुसार उन्नति करने में असमर्थ होना ।

उपर्युक्त बातों से यह जान पड़ता है कि बालक के पालन-पोषण तथा विकास पर उसके सामाजिक वातावरण का बड़ा ही प्रभाव पड़ता है । इस सामाजिक वातावरण में माता-पिता तथा पड़ोसी और साथियों द्वारा प्राप्त व्यवहार का विशेष महत्त्व होता है ।

स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति न होना

शारीरिक, आत्मसम्बन्धी, और सामाजिक

अपनी अनेक स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बालक को दूसरों पर आश्रित रहना होता है फलत: उसे दूसरों के अनुसार भी अपने को व्यवस्थित करने की चेष्टा करनी होती है । इन आवश्यकताओं का तीन वर्गीकरण किया जा सकता है । (१) शारीरिक—जैसे भोजन, जल, नींद तथा अन्य शारीरिक सुविधायें; (२) आत्म-सम्बन्धी—जैसे, दूसरों से प्रशंसा, राय तथा अपनत्व की भावना पाने की इच्छा; (३) सामाजिक—जैसे, दूसरों के कार्यों में हाथ बटाने हेतु कुछ सामाजिक कौशल प्राप्त करने की इच्छा । ये स्वाभाविक

1. Emotional Stimulation. 2. Nervous Weakness.

आवश्यकतायें बालकों के विभिन्न व्यवहार और कार्यों के लिए अभिप्रेरणायें हो जाती हैं। इन अभिप्रेरणाओं की क्रियाशीलता में जब कभी किसी प्रकार की बाधा उपस्थित होती है तो बालक एक तनाव में आ जाता है। यदि यह तनाव गहरा हुआ और यदि उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती तो उसके व्यवहार अवांछित रुख लेने लगते हैं। स्पष्ट है कि व्यक्तित्व-व्यवस्थापन इन आवश्यकताओं की समुचित पूर्ति पर निर्भर करता है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयास में अभिभावकों को यह भी याद रखना है कि उनकी अत्यधिक पूर्ति भी व्यक्तित्व के सन्तुलन को उसी प्रकार बिगाड़ सकती है जैसे उनका अवदमन व्यक्तित्व के स्वास्थ्य के लिए घातक होता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बालक का स्वस्थ विकास उसकी आवश्यकताओं की सन्तुलित पूर्ति पर निर्भर करता है। यदि बालक की शारीरिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती तो बालक के व्यक्तित्व का स्वस्थ विकास न होगा। उलझनों[1] और भग्नाशाओं[2] का सामना तो सभी बालकों को कुछ-कुछ करना ही होता है; परन्तु इनकी अवधि बहुत दीर्घ हो जाती है तो बालक अपराधी होने की ओर झुक सकता है। जैसे भोजन के न मिलने से शरीर जर्जरित होने लगता है उसी प्रकार बालक का मन जर्जरित होने लगता है और वह धैर्य खो बैठता है, जब उसकी विविध मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती। यदि उसकी इन आवश्यकताओं की सदा समुचित पूर्ति होती रहे तो समाज में सुखी बालकों की संख्या बढ़ जाय और दुखी तथा अपराधी बालकों की संख्या घट जाय। परन्तु बालकों की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती, क्योंकि उनकी पूर्ति करने में प्रौढ़ों को थोड़ा आत्म-नियन्त्रण करना होता है और वे इस आत्म-नियन्त्रण में सफल नहीं होते। इच्छाओं के दमन का कुपरिणाम विविध बालकों पर विभिन्न प्रकार से पड़ता है। कुछ बहुत ही साधारण बातों से ही अव्यस्थित हो जाते हैं और कुछ पर बड़ी गहरी-गहरी बातों का भी विशेष प्रभाव पड़ते नहीं दिखलाई पड़ता। परन्तु हमें यह तो मानना ही पड़ेगा कि सभी बालक उन आवश्यकताओं की पूर्ति चाहते हैं जिनके लिए आजतक मानव आपस में संघर्ष करता रहा है। अतः जो बालकों के प्रति उत्तरदायी हैं उनका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि बालक के साथ वैसा ही व्यवहार करें जैसा वे दूसरों से अपने लिए चाहते हैं—

आवश्यकताओं की पूर्ति पर व्यक्तित्व का स्वस्थ्य विकास निर्भर

अपराधी बालकों के उत्पन्न करने वाले उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक कारणों की

1. Conflicts. 2. Frustrations.

चर्चा के बाद हम नीचे उन कारणों पर दृष्टिपात करेंगे जो घर[1], वाह्य वातावरण[2] तथा व्यक्तिगत[3] बातों से सम्बन्ध रखते हैं।

गत पृष्ठों से यह स्पष्ट है कि अपराधी बालकों के होने का कोई एक ही कारण नहीं हो सकता। अतः किसी अपराधी बालक को पूर्णरूपेण समझने के लिये उसकी विशिष्ट परिस्थिति का अध्ययन करना चाहिए। प्रत्येक बालक की अपनी-अपनी परिस्थिति होती है। घर, स्कूल, साथी, पड़ौसी, कार्य-काल तथा अवकाश-समय आदि सभी बातों का बालकों के व्यक्तित्व-विकास पर प्रभाव पड़ता है। वर्तमान परिस्थितियों के आधार पर ही किसी अपराधी बालक के सम्बन्ध में कुछ निर्णय कर लेना ठीक न होगा, क्योंकि जो भूतकाल में हो चुका है उसका प्रभाव उसके व्यक्तित्व पर स्थाई रूप से जमा रहता है। अतः याद रखना है कि जन्म से ही कोई बालक अपराधी नहीं होता। उसके अपराधी होने का प्रधान कारण उसकी परिस्थितियाँ ही होती हैं। केवल वाह्य रूप के देखने से ही अपराधी बालक को पहचान लेना अत्यन्त कठिन है; क्योंकि किसी सामान्य बालक और उसमें वाह्यतः कोई अन्तर नहीं दिखलाई पड़ता। किसी अपराधी बालक के समझने तथा उसके उद्धार के लिए हम उसके वंशानुक्रम,[4] सामाजिक[5] इतिहास तथा तात्कालिक[6] उत्पादक परिस्थिति का अध्ययन करना चाहिए। उसके अपराधी होने में ये सभी कारण अपना-अपना योग देते हैं। स्पष्ट है कि अपराधी बालक एक सामाजिक समस्या है और समाज को दृष्टि में रखते हुये उसके सुधार के उपायों को हमें खोजना है।

अपराधी बालक एक सामाजिक समस्या

उपर्युक्त विवेचन से हम इस सारांश पर पहुँचते हैं कि अपराधी बालक के अवगुण जन्मजात नहीं होते और उसके ऐसे होने के कई कारण हो सकते हैं। अतः अपराधी बालक के किसी व्यवहार को समझने के लिये हमें कई दृष्टिकोणों को अपनाना होगा। नीचे ऐसे ही कुछ दृष्टिकोण पर अति संक्षेप में प्रकाश डाला जायगा। इन दृष्टिकोणों की चर्चा में घर, वाह्य वातावरण तथा कुछ व्यक्तिगत बातों पर विशेष ध्यान दिया जायगा।

बालक को अपराधी बनाने वाले घरेलू कारण[7]

प्रायः यह सोचा जाता है कि गरीबी बालक को अपराधी बना देती है। बालक के अपराधी बनने में गरीबी का प्रभाव अवश्य पड़ता है, क्योंकि गरीबी के

1. Home. 2. Environment outside home. 3. Personal Factors. 4. Biological Heritage. 5. Social History. 6. Immediate Situation. 7. Home Condition Leading to Delinquency.

कारण उसकी बहुत सी इच्छाओं की पूर्ति नहीं हो पाती, और अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए वह अनैतिक साधनों की ओर झुक सकता है।

गरीबी

न्यायालय में जितने अपराधी बालक उपस्थित किये जाते हैं उनमें अधिकांश गरीब कुटुम्ब वाले होते हैं। परन्तु हमें यह भी याद रखना है कि धनी घर के अपराधी बालक न्यायालय में बहुत ही कम लाये जाते हैं, क्योंकि उनके अभिभावक स्वयं उस सम्बन्ध में आवश्यक उपचार करने की चेष्टा करते हैं।

माता-पिता की बेकारी के कारण बच्चे प्रायः भूखे रह जाते हैं और वे अपनी साधारण शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भीख माँगने, चोरी करने अथवा कुछ ऐसे कार्यों को करने का ओर झुक सकते हैं जिनसे उनका नैतिक अधःपतन हो जाता है। बेकारी के कारण माता-पिता में बहुधा ऐसे झगड़े हो सकते हैं जिनसे घर का सारा वातावरण दूषित हो सकता है। ऐसी स्थिति के आ जाने पर लड़के घर छोड़कर बाहर चले जाना पसन्द करते हैं। बाहर जाकर वे घर की आर्थिक स्थिति के सुधारने का कुछ प्रयत्न भी कर सकते हैं। इस प्रयत्न में वे अनैतिक साधनों का सहारा ले सकते हैं।

बेकारी

यदि माँ को घर में छोटे-छोटे बच्चों को छोड़कर बाहर नौकरी अथवा मजदूरी करने जाना होता है तो इसका प्रभाव नियन्त्रणहीन बालकों पर बुरा पड़ सकता है। माँ की अनुपस्थिति में लड़के मनमानी करने लगते हैं और ऐसी आदतें सीख सकते हैं जो बाद में उन्हें अपराध करने की ओर अभिप्रेरित कर सकती हैं।

माँ का बाहर नौकरी करना

अपराधी बालकों के अध्ययन में देखा गया है कि पिता के कड़े नियन्त्रण में रहने वाले लड़के बहुधा अपराधी की कोटि में आ जाते हैं। पिता के कड़े नियन्त्रण से उनकी स्वाभाविक इच्छाओं का दमन होता है। इस दमन के कुपरिणाम की ओर हम सातवें अध्याय में संकेत कर चुके हैं। दमन का प्रभाव कभी स्वस्थकर नहीं होता। इससे व्यक्ति अपनी स्वाभाविक इच्छाओं की पूर्ति चुपके-चुपके अनैतिक साधनों के सहारे करने की ओर झुक सकता है। पिता के अधिकारवाद का मन ही मन अथवा स्पष्टतः विरोध करते-करते उसमें सभी प्रकार के अधिकारियों के विरुद्ध हो जाने की प्रवृत्ति आ सकती है। इस प्रवृत्ति के कारण कोई अपराध कर बैठना उसके लिए सरल हो सकता है।

पिता का कड़ा नियन्त्रण

पति और पत्नी के आपसी झगड़े का बालक पर बुरा प्रभाव पड़ता है। जिन घरों में ऐसे झगड़े आये दिन हुआ करते हैं उनके लड़के अपने को अरक्षित समझने लगते हैं। इस अरक्षित भावना को दूर करने के लिए वे चोरी करना प्रारम्भ कर सकते हैं, क्योंकि चोरी से प्राप्त वस्तुओं से वे अपनी स्थिति मजबूत बनाना चाहते हैं। यदि माता-पिता के झगड़े के कारण उन्हें घर में शान्ति नहीं मिल सकती तो वे शान्ति तथा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बाहर चले जाना अच्छा समझ सकते हैं। इस प्रकार का बाहर जाना उनके नैतिक विकास में बाधक हो सकता है। 'बाल निर्देशन[1] केन्द्रों' का यह अनुभव है कि व्यवहार-सम्बन्धी समस्याओं वाले बालकों में घरेलू वातावरण में सुधार कर देने से स्वतः बड़े सुधार आ जाते हैं।

पति और पत्नी का आपसी झगड़ा

घर में उपमाता[2] अथवा उपपिता[3] की उपस्थिति का बालकों के विकास पर अवांछित प्रभाव पड़ सकता है। जब उपमाता अथवा उपपिता के कारण बालक पहले जैसा प्यार नहीं पाता तो उसमें संवेगात्मक तनाव आ जाता है और वह अपराध की ओर झुक सकता है।

उपमाता अथवा उपपिता की उपस्थिति

घर के विभिन्न बालकों को दो आँख से देखने से बालकों में परस्पर ईर्ष्या और वैमनस्य आ जाती है। जब एक लड़के की दूसरे के सामने सदा प्रशंसा की जाती है तो अप्रशंसित बालक प्रशंसित बालक के ही नहीं, वरन् प्रशंसा करने वाले के भी विरोधी हो जाते हैं। इस विरोध में वे कुछ ऐसा करने की चेष्टा में आ सकते हैं जिससे उन्हें कुछ प्रशंसा मिले। इस चेष्टा में उनका व्यवहार अनैतिक हो सकता है। जिन लड़को को घर में यथोचित प्यार नहीं मिलता उनके मन में असामाजिक[4] भावना-ग्रन्थियाँ घर करने लगती हैं। ये भावना-ग्रन्थियाँ साधारण से उद्दीपक के उपस्थित होने पर अवांछित व्यवहार की ओर व्यक्ति को अभिप्रेरित कर देती हैं। जिन लड़कियों को घर में प्यार नहीं मिलता वे काम-भावना सम्बन्धी अनैतिक व्यवहार की शिकार हुआ करती हैं। वे प्यार और सम्मान की भूखी हो जाती हैं और जो व्यक्ति उन्हें तात्कालिक प्यार और सम्मान देने को तैयार होता है उस पर वे सब कुछ निछावर करने को तैयार हो जाती हैं।

घर के बालकों को दो आँखों से देखना

अत्यधिक लाड़-प्यार का भी परिणाम बहुधा अवांछित ही होता है। जिन

1. Child Guidance Centre. 2. Foster-mother. 3. Foster-father.
4. Anti-social complexes.

बच्चों की प्रत्येक इच्छा को पूरी करने की चेष्टा की जाती है और जिसके प्रत्येक इशारे पर नाचने के लिए सभी हर समय तैयार रहते हैं उनकी दशा वास्तव में आगे चलकर दयनीय हो जाती है। घर में तो उनकी किसी प्रकार निभ जाती है, परन्तु उनका बाहर निभना अत्यन्त कठिन हो जाता है; क्योंकि बाहर समाज में उन्हें घर जैसा प्यार नहीं मिलता। ऐसे बच्चे कैशोर में अपनी प्रवृत्तियों के जीव हो जाते हैं और जो ही मन में आता है उसी के अनुसार आचरण दिखलाने लगते हैं। 'बाल निर्देशक केन्द्रों' द्वारा अन्वेषण से पता चला है कि ऐसे लड़के बहुधा चोरी के अपराधी पाये जाते हैं।

अत्यधिक लाड़-प्यार का कुपरिणाम

जिन घरों में शराब खोरी, अनैतिकता तथा निर्दयता का वातावरण बना रहता है उनके लड़के बहुधा विभिन्न प्रकार के अपराध करते पाये जाते हैं। यह इतनी स्पष्ट बात है कि इसके लिए उदाहरण की आवश्यकता नहीं। कुछ ऐसे गरीब, अनैतिक और निर्दयी माता-पिता होते हैं जो अपने बच्चों को भीख माँगने अथवा चोरी करने के लिए विवश किया करते हैं।

बालक को अपराधी बनाने वाले वाह्य वातावरण-सम्बन्धी कारण[1]

प्राय: प्रत्येक शहर में कुछ ऐसे क्षेत्र होते हैं जिनमें विशेषत: ऐसे गरीब लोग रहते हैं जिनकी रहन-सहन नैतिक नहीं कही जा सकती। ऐसे लोगों के घरों के लड़के प्राय: अनैतिक कामों में लग जाते हैं, क्योंकि उनका वातावरण ही बड़ा अनैतिक होता है। मनोरंजन के लिए बुरे स्थान, जुवा खेलने का स्थान तथा वेश्यालय आदि उनके अनुभव के अंग होने लगते हैं, क्योंकि वातावरण में उपस्थित इन स्थानों का प्रभाव उनके चरित्र पर पड़े बिना नहीं रहता।

अपराधी बालकों के अध्ययन से पता चला है कि एक बालक दूसरों को किसी अनैतिक कार्य में लगने के लिए उत्साहित करता है और अन्य अपराधी बालक अपना एक समूह बना कर अनैतिक व्यवहार के भागी होते हैं। यह अनैतिक व्यवहार ऐसा होता है जिसे कदाचित् कोई बालक अकेले करने का साहस न करता। ऐसे अनैतिक व्यवहार में रेलगाड़ी पर पत्थर फेंकना, बिना टिकट रेल यात्रा करना, वर्जित जलाशयों में तैरना, वर्जित स्थानों पर ऊधम मचाना तथा कहीं आग लगा देना आदि हो सकते हैं।

इस सामूहिक अनैतिक व्यवहार से यह जान पड़ता है कि यदि इन बालकों को

1. External Environmental Factors Leading to Delinquency.

अपने अवकाश-काल को बिताने का समुचित और स्वस्थकर साधन दिया जाता तो कदाचित् वे ऐसे कार्यों में न लगते । अतः समाज का यह कर्त्तव्य है कि वह बालक के अवकाश-काल के उपयोग के लिए उचित साधनों का आयोजन करे । इस सम्बन्ध में स्कूल का भी कुछ कर्त्तव्य दिखलाई पड़ता है । "सब धान बाइस पसेरी" की तरह बालकों की शिक्षा का आयोजन करना मनोवैज्ञानिक नहीं । शिक्षा में वैयक्तिक वैभिन्य[1] पर ध्यान देना आवश्यक है । इससे बालकों की विशिष्ट शक्तियों का विकास होगा और उनकी विभिन्न मूलप्रवृत्यात्मक इच्छाओं की पूर्ति होती रहेगी । यदि शिक्षा-क्रम में इस प्रकार का सुधार लाया जा सका तो अपराधी बालकों की संख्या कम करने में बड़ी सहायता मिलेगी ।

फैक्टरी में काम करने वाले बालकों की भी दशा दयनीय होती है । फैक्टरी में उन्हें मशीन की तरह काम करना होता है । उनकी सभी कोमल भावनाओं पर तुषारपात हो जाता है फलतः वे फैक्टरी में कार्य करने के बाद अनैतिक रूप में अपने अवकाश-काल को बिताने की ओर झुकते हैं । अपने मनोरंजन के लिये वे अवांछित स्थानों पर जाते हैं । इन स्थानों का उनकी नैतिकता पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है ।

बालक के अपराधी होने के व्यक्तिगत कारण[2]

किसी शारीरिक दोष के कारण बालक का कोई अनैतिक व्यवहार दिखलाना अवश्यमभावी नहीं; परन्तु शारीरिक दोष के कारण जो वह दूसरों का व्यंग सुना करता है उससे उसमें असामाजिक व्यवहार दिखलाने की प्रवृत्ति आ सकती है । उदाहरणार्थ : जो बालक सदैव बीमार रहा करता है उसमें एक प्रकार की आत्महीनता की भावना आ सकती है और मन ही मन उन बालकों के प्रति विरोध-भावना ला सकता है जो प्रायः स्वस्थतर होते हैं । ऐसे बालक अन्य बालकों के समूह में अपने से कमजोर बालक को तंग कर सकते हैं अथवा दूसरों को चिढ़ाना अथवा उनकी वस्तुएँ अस्त-व्यस्त कर देना उनका साधारण स्वभाव हो सकता है ।

शारीरिक दोष

जिन बालकों का विकास दूसरों की अपेक्षाकृत मन्द अथवा तीव्रगति से चलता है उन्हें अपने व्यवस्थापन में बड़ी कठिनाई का सामना करना होता है । दोनों को अपनी उम्र वाले बालकों के साथ निभाना कठिन हो जाता है । मन्दगति से विकसित होने वाला बालक अपने को छोटा और तीव्रगति वाला अपने को बड़ा पाता है ।

विकास की मन्दता अथवा तीव्रता

---

1. Individual Differences. 2. Personal Factors Leading to Delinquent Behaviour.

ऐसी स्थिति में दोनों में एक प्रकार का ऐसा मानसिक असन्तोष उत्पन्न होता है जिससे अनैतिक व्यवहार की ओर झुकना कठिन नहीं होता। तीव्रगति से विकसित होने वाला बालक अपने से छोटे बालकों को विविध प्रकार से तंग कर सकता है; और मन्द गति वाला अपनी आत्महीनता-भावना के प्रति क्रियास्वरूप अनैतिक व्यवहार दिखला सकता है।

कैशोर में काम-सम्बन्धी भावनाओं के विकास के कारण लड़के और लड़कियाँ काम-सम्बन्धी बातें जानने की इच्छुक हो जाती हैं। माता-पिता अथवा अध्यापक इस सम्बन्ध में उनकी जिज्ञासायें शान्त करने का साहस नहीं करते और किशोर[1] भी इस सम्बन्ध में अपनी बातें उनसे कहने में बड़ा संकोच करते हैं। फलतः अपनी जिज्ञासाओं की पूर्ति के लिए वे अनैतिक साधनों का अवलम्बन लेते हैं।

काम-सम्बन्धी भावनाओं का विकास

बहुत से अन्वेषकों का कहना है कि दोषयुक्त व्यवहार और मानसिक विकास की मन्दता में घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस घनिष्ठ सम्बन्ध की यहाँ व्याख्या करना हमारे क्षेत्र के बाहर की बात है। परन्तु इस सम्बन्ध में इतना कह देना आवश्यक है कि मन्द बालक में अनैतिक प्रलोभनों से अपने को बचाने की सामान्य बालकों की अपेक्षा कम सामर्थ्य होती है। अतः समाज का यह कर्त्तव्य है कि ऐसे बालकों की रक्षा के लिए आवश्यक उपायों का आयोजन करे।

मानसिक विकास की मन्दता

उपर्युक्त विवेचन से यह जान पड़ता है कि बालक के अनैतिक व्यवहार के कई कारण हो सकते हैं और जो कारण स्पष्टतः दिखलाई पड़ता है वह वास्तविक नहीं भी हो सकता। इस वस्तु स्थिति के कारण ही अपराधी बालकों के उपचार में अभी तक पर्याप्त सफलता नहीं प्राप्त हो सकी है। बालक के किसी अनैतिक व्यवहार के मनोवैज्ञानिक, घरेलू, वाह्य वातावरण-सम्बन्धी तथा व्यक्तिगत कारणों को समझे बिना ही उसके सुधार के लिए उसे किसी संस्था को सुपुर्द कर देना ठीक नहीं। उसके सुधार के कार्य में माता-पिता, अध्यापकों तथा निकटवर्ती समाज की सहायता अत्यन्त आवश्यक है। यदि यह सहायता ठीक से नहीं दी जा सकी तो अपराधी बालक भविष्य में प्रौढ़ अपराधियों की कोटि में आकर समाज को पीड़ा देने लगेंगे। नीचे हम देखेंगे कि अपराधी बालकों के सुधार के लिए किन-किन उपायों का अवलम्बन लिया जा सकता है।

1 Adolescents.

अपराधी बालकों का उपचार[1]

ऊपर कहा गया है कि बालकों के अपराधी व्यवहार के कई कारण हो सकते हैं। स्पष्ट है कि उनके उपचार के लिए किसी एक साधन का उल्लेख नहीं किया जा सकता। विभिन्न बालकों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के साधनों का आयोजन करना आवश्यक होगा।

अपराधी बालकों का पता लगाना और पकड़ना प्रायः पुलिस के हाथ की बात होती है। अतः पुलिस को अपराधी बालकों वाले न्यायालयों के कार्य-सिद्धान्त को अच्छी प्रकार समझना चाहिए। उसे यह समझना चाहिए कि अपराधी बालकों के साथ प्रौढ़ अपराधियों की तरह व्यवहार नहीं करना चाहिए। यदि पुलिस ने अपराधी बालकों के साथ कड़ाई दिखलाई तो न्यायाधीश के पुचकारने पर भी बालक अपने सम्बन्ध में ठीक-ठीक बातें न बतला सकेगा, क्योंकि तब उसके मन में न्यायालय की पूरी कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में एक विरोध-भावना उत्पन्न हो जायगी।

यदि अपराधी बालक हवालात में रक्खा जाता है तो उसे प्रौढ़ अपराधियों के सम्पर्क से दूर रखना चाहिए। उसकी उसी प्रकार रक्षा करनी चाहिए जैसे एक पिता अपने पुत्र की रक्षा करता है। अपराधी को पकड़ लेने के बाद पुलिस अधिकारियों का यह कर्तव्य है कि वे माता-पिता को शीघ्र ही सूचित कर दें और इस सम्बन्ध में उनकी सहानुभूति के लिए अनुरोध करें, क्योंकि बालक के अपराध करने में घर का वातावरण भी कुछ हद तक उत्तरदायी हो सकता है। अपराधी बालक को सदा न्यायालय में ही उपस्थित करना आवश्यक नहीं समझना चाहिए। यदि इसके बिना ही उचित व्यवस्थापन संभव है तो अत्युत्तम होगा। यदि न्यायालय में लाना आवश्यक ही हुआ तो यथासम्भव उसे तब तक माता-पिता के साथ ही रहने देना चाहिए जब तक उसके मामले का निर्णय नहीं हो जाता।

अपराधी बालक के अध्ययन में उसके सामाजिक इतिहास[2] तथा शारीरिक[3] और मनोविश्लेषणात्मक[4] अन्वेषण पर विशेष ध्यान देना चाहिए। न्यायाधीश को बाल और किशोर मनोविज्ञान का पूरा ज्ञान होना चाहिए। अच्छा होगा यदि अपराधी लड़कियों से सम्बन्धित बातों को जानने के लिए किसी योग्य महिला को नियुक्त कर दिया जाय। इस प्रकार के अन्वेषण में पूरा वातावरण सहानुभूति-पूर्ण होना चाहिए। अपराधी बालक अथवा बालिका में आत्म-विश्वास उत्पन्न करना चाहिए। उनके साथ अपराधी जैसा व्यवहार नहीं करना चाहिए। उन्हें समाज का

---

1. Treatment of Delinquent Children. 2. Social History. 3. Physical Examination. 4. Psychoanalytic Investigation.

ऐसा सदस्य समझना चाहिए जिन्हें निर्देशन, सहानुभूति और सहायता की आवश्यकता है। उनके मामलों को सुनने के लिए न्यायालय में जनता का इकट्ठा होना अमनोवैज्ञानिक है। अन्त में यथासम्भव बालक को माता-पिता की ही देख-रेख में दे देना चाहिए। उसे राजकीय संस्था में तभी रखना चाहिए जब कि इसके बिना काम चलते न दिखलाई दे। यदि राजकीय संस्था में बालक के लिए कुछ प्रबन्ध किया जाता है तो उस सम्बन्ध में कुटुम्ब वालों की राय बड़ी ही सहायक होगी।

अपराधी बालकों के उपचार के सम्बन्ध में माता-पिता का भी मनोवैज्ञानिक अन्वेषण आवश्यक होगा। यदि किसी घरेलू कारण से बालक अपराध करने की ओर झुका तो उस कारण को दूर करना आवश्यक होगा। यदि पिता बेकार है और अपने बालकों को पैसा कमाने के लिए विवश करता है और इस विवशता के कारण बालक अपराध करने को बाध्य होते हैं तो पिता को किसी लाभप्रद कार्य में लगा देना चाहिए। यदि पिता किसी संवेगात्मक अव्यवस्थापन का अभियुक्त है और उसके अत्याचर के कारण बालक अनैतिक आचरण दिखलाते हैं तो पिता की मानसिक चिकित्सा करना आवश्यक है।

अपराधी बालकों के उपचार के सम्बन्ध में बेकर फाउण्डेशन, बोस्टन, यू० एस० ए०, ने कुछ सुझावों का प्रतिपादन किया है। इन सुझावों का नीचे संक्षेप में उल्लेख किया जा रहा है :—

"१—बालक की रुचियों के साथ माता-पिता की सहानुभूति।

२—माता-पिता का अपने व्यवहार में कड़ा न होना।

३—बालक की शारीरिक और मानसिक सीमाओं को समझना।

४—निर्दयता को बन्द करना।

५—कोसना बन्द करना।

६—रियायतें देना।

७—माता-पिता को अपने उत्तरदायित्व को निभाना।

८—अच्छा निरीक्षण करना।

९—बालक के अपराध को मामूली न समझना।

१०—कौटुम्बिक गलतफ़हमी को दूर करना।

११—काम-सम्बन्धी भावनाओं के प्रति माता-पिता का मनोवैज्ञानिक और स्वस्थ विचार रखना तथा इस सम्बन्ध में बालक और बालिकाओं की जिज्ञासाओं को शान्त करना।

१२—उचित घरेलू वातावरण उत्पन्न करना।

१३—कुटुम्ब के अन्य सदस्यों के अनैतिक व्यवहार को बन्द करना

१४—कुटुम्ब से उन सम्बन्धियों को निकाल देना जिनका बालकों पर बुरा प्रभाव पड़ता है।''

बालक के अनैतिक अथवा नैतिक व्यवहार पर स्कूल का भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। अतः अपराधी बालकों के उपचार के सम्बन्ध में स्कूल के उत्तरदायित्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है।

यदि स्कूल में बालक बुरे लोगों के संग में आ गया है तो उसे दूसरे स्कूल में स्थानान्तरित कर देना आवश्यक है। यदि बालक किसी विषय में कमजोर है और कक्षा से भाग कर अनैतिक काम में लग जाता है तो उस विषय में उसे कुछ अधिक सहायता देने का कुछ आयोजन करना चाहिए। इस आयोजन में सहानुभूति का होना आवश्यक है।

यदि अपराधी बालक के लिये किसी कार्य की आवश्यकता है तो इसके लिये शीघ्र ही प्रबन्ध करना चाहिये। यदि अवकाश-काल के बिताने के लिये स्वस्थकर साधनों की आवश्यकता जान पड़े तो तदनुसार प्रबन्ध करना चाहिये।

अपराधी बालकों के उपचार का प्रधान उद्देश्य उनके अच्छे चरित्र-निर्माण का है। अतः इस उपचार के क्रम में सम्बन्धित व्यक्तियों को देखना चाहिये कि बालक का संवेगात्मक तथा मानसिक विकास इस प्रकार हो कि उसमें अच्छी आदतें आ जाँय।

यदि अपराधी बालकों को राजकीय संस्थाओं में रखना आवश्यक ही जान पड़े तो इन संस्थाओं का रूप घर के समान होना चाहिये। इनमें बालकों के ऊपर किसी प्रकार का अनुचित नियन्त्रण नहीं होना चाहिये। सारा व्यवहार सहानुभूति के रस से सना होना चाहिये। ऐसी संस्थाओं का उद्देश्य समाज को योग्य सदस्यों का देना है। इस उद्देश्य में वे तभी सफल हो सकती हैं यदि वे मनोवैज्ञानिक रीतियों का सहारा लेती हैं।

बालकों की अपराध-प्रवृत्ति को रोकने के उपाय[1]

बालकों की अपराधी-प्रवृत्ति को रोकने के लिये किसी एक ऐसे उपाय की चर्चा नहीं की जा सकती जो हर स्थिति में लागू हो; क्योंकि उनकी अपराध प्रवृत्ति के कई कारण होते हैं। इस सम्बन्ध में जो रुचि रखते हैं उन्हें इस क्षेत्र के सभी उपलब्ध साहित्य से परिचित होना चाहिये जिससे इस सम्बन्ध वाली आधुनिक विचार-धारा से वे अवगत रहें। इसके बाद उन्हें यह समझना है कि अपराधी बालकों की मानसिक और संवेगात्मक स्थिति तथा कुछ अन्य सामाजिक बातें प्रस्तुत समस्या

1. Measures for Preventing Delinquent Behaviour of Children.

की उत्पत्ति के लिये उत्तरदायी हैं। इन दोनों बातों को किसी निश्चित रेखा से अलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि दोनों एक दूसरे पर निर्भर होती हैं—परन्तु दोनों को अलग-अलग समझ लेना समस्या के निराकरण में बड़ा सहायक होगा।

वस्तुतः अपराध-प्रवृत्ति को रोकने का कार्य बालक के जन्म के पूर्व ही प्रारम्भ कर देना चाहिये। राज्य का यह कर्तव्य है कि जो पति-पत्नी विषम मानसिक रोगों से पीड़ित हैं उन्हें सन्तानोत्पादक शक्ति से हीन कर दे। इस सम्बन्ध में कुछ वैज्ञानिक साधनों का आविष्कार किया जा चुका है।

शिशु के गर्भ में आ जाने के बाद माता के स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान देना चाहिये जिससे शिशु का स्वास्थ्य बुरा न हो। जन्म के बाद लालन-पालन इस प्रकार का हो कि शिशु अच्छी ही आदतों को अपनाये। इस सम्बन्ध में नर्सरी स्कूलों की उपयोगिता की ओर संकेत किया जा सकता है।

समय-समय पर स्कूल के अध्यापकों को लड़कों के घर जाते रहने की एक निश्चित व्यवस्था होनी चाहिये जिससे वे बच्चों के लालन-पालन में माता-पिता की आवश्यक मनोवैज्ञानिक सहायता कर सकें।

विकासावस्थानुसार बालक और बालिकाओं की काम-मूलप्रवृत्ति-सम्बन्धी जिज्ञासाओं को सन्तुष्ट करते रहना चाहिये जिससे उनकी संतुष्टि के लिये वे अवांछित साधनों का सहारा न लें।

बहुधा यह देखा जाता है कि माता-पिता की गरीबी के कारण बालकों को उन धन्धों में जाना पड़ता है जिनके लिये उनमें रुचि नहीं होती। इसका फल साधारणतः अपराध-प्रवृत्ति का उत्पन्न करना ही होता है। अतः व्यावसायिक[1] निर्देशन का कार्य-क्रम इस सम्बन्ध में बड़ा सहायक हो सकता है, क्योंकि इससे बालकों को मनोवांछित धन्धा पाने में बड़ी सहायता मिलेगी।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि अवकाश-काल के दुरुपयोग से बालकों में अपराध-प्रवृत्ति बढ़ती है। अतः अवकाश-काल के सदुपयोग तथा मनोरंजन के लिये स्वस्थ साधनों का आयोजन करना अत्यन्त आवश्यक है। बालकों के लिये क्लब अथवा गोष्ठी तथा स्काउटिंग आदि का प्रबन्ध होना चाहिये, जिससे अपनी विकासावस्थानुसार वे सामूहिक खेलों में भाग ले सकें।

राज्य का यह कर्तव्य है कि वह नियुक्ति पुलिस अधिकारियों द्वारा उन स्थानों

1. Vocational Guidance.

का निरीक्षण करता रहे जो मनोरंजन के सस्ते व्यापारिक साधनों का आयोजन करते हैं और अबोध बालक और बालिकाओं को फँसाते हैं। जो व्यक्ति अवांछित प्रवृत्ति के होते हैं उन पर भी पुलिस की कड़ी निगरानी होनी चाहिये।

हमारे देश के कुछ बड़े-बड़े शहरों में बच्चों द्वारा भीख मँगवाने की समस्या बड़ी विकट होती जा रही है। इन भीख माँगने वाले बच्चों का अपराध-प्रवृत्ति का अपनाना कठिन नहीं होता। अच्छा होगा यदि उन बच्चों को कोई कार्य दिया जाय और कानून द्वारा भीख माँगना अवैधानिक बना दिया जाय।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अपराधी बालकों के उद्धार के लिये हमें कई प्रकार के कार्य करने होंगे और इसमें माता-पिता, अध्यापक, स्कूल, समाज तथा राज्याधिकारी सभी का अपना-अपना कर्तव्य है। यदि सभी अपने-अपने कर्तव्य पर ध्यान दें तो उनका उद्धार करना कठिन न होगा।

१३

सामाजिक विकास[1]

समूह का बड़ा प्रभाव

मानव सामाजिक प्राणी है—इस कथन की सत्यता का आभास शिशु के प्रारम्भिक जीवन से ही मिलने लगता है। जिस प्रकार प्रौढ़ व्यक्ति अपनी विभिन्न आवश्यकताओं के लिए दूसरों पर निर्भर रहता है उसी प्रकार बालक भी दूसरों की सहायता पर आश्रित रहता है। ज्यों-ज्यों बालक बढ़ता है दूसरों पर उसकी निर्भरता कम होती जाती है ; तथापि दूसरों के सम्पर्क बिना वह कभी नही रह सकता। फलत: विभिन्न लोगों से उसका सम्पर्क बढ़ता जाता है। इन विभिन्न लोगों की उसमें उतनी रुचि नहीं होती जितनी कि उसके माता-पिता उसमें रुचि रखते हैं। फलत: अपने व्यवस्थापन[2] में उसे कठिनाई का सामना करना पड़ता है। इन कठिनाइयों तथा उसके उत्तरोत्तर विकास के कारण उसका सामाजिक व्यवहार जटिलतर रूप लेता जाता है।

दूसरों का सम्पर्क आवश्यक

बालक के पूरे विकास पर उसके सामाजिक सम्पर्क का बड़ा प्रभाव पड़ता है। बचपन में विभिन्न बातों का प्रभाव व्यक्ति पर बड़े शीघ्र पड़ जाता है। अत: विभिन्न प्रभावों द्वारा उसका विकास किसी भी प्रकार का बनाया जा सकता है। बालक का पहला सामाजिक सम्पर्क कुटुम्ब होता है। इसलिए उसकी प्रारम्भिक आदतें तथा अभिवृत्तियाँ[3] कुटुम्ब ही द्वारा निर्धारित होती हैं। इन आदतों और अभिवृत्तियों का उसके विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि इन्हीं के आधार पर वह विभिन्न सामाजिक उद्दीपकों[4] के प्रति अपनी प्रतिक्रियायें[5] दिखलाता है। "नर्सरी स्कूल के कुछ बालकों के आधार

समूह के प्रभाव पर उसका व्यवस्थापन निर्भर

1. Social Development. 2. Adjustment (अभियोजन). 3. Attitudes. 4. Stimuli. 5 . Responses,

पर पोर्टीनीयर[1] का कथन है कि घर की पृष्ठभूमि एक ऐसी मनोवज्ञानिक शक्ति हो जाती है जिससे बालक का सारा व्यवहार प्रारम्भिक दिनों में निर्धारित होता है। उसका व्यवहार घर तथा वातावरण के किसी एक विशेष प्रभाव द्वारा निर्धारित नहीं होता। उसके व्यवहार के निर्धारण में उसके व्यक्तित्व विशेष तथा सम्पूर्ण वातावरण के प्रति उसके व्यक्तिगत सम्बन्ध का प्रधान हाथ होता है।" समूह के लिए बालक जितना ही प्रिय माना जायगा उतना ही उस पर समूह का प्रभाव पड सकता है; और इस प्रभाव पर ही उसका व्यवस्थापन निर्भर करता है। जिस बालक को समूह के बहिष्कार का सामना करना पड़ता है उसका व्यक्तित्व बड़ा ही संकुचित हो जाता है और आगे चल कर उसे व्यवस्थापन सम्बन्धी अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। जेक[2] ने अपने अध्ययन में देखा कि उन बालकों में जो अपने किसी गुण के कारण अपने को दूसरों से श्रेष्ठतर दिखला सकते थे अधिक आत्म-विश्वास तथा नेतृत्व की शक्ति पाई जाती है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि बालक के विकास पर उसके सामाजिक समूह का बड़ा ही प्रभाव पड़ता है।

सामाजिक विकास का अर्थ

सामाजिक विकास का अर्थ दूसरों के साथ अच्छा व्यवहार कर सकने की योग्यता तथा अपने पैरों पर खड़ा हो सकने की शक्ति से है। अपनी अभिरुचियों[3], अभिवृत्तियों[4], रुचियों[5], आदतों[6] तथा व्यवहार में प्रौढ़ता प्राप्त करने को सामाजिक विकास कहा जा सकता है। यह प्रौढ़ता यकायक अथवा अचानक नहीं आ जाती। यह धीरे-धीरे आती है और सामान्यतः बालक के शारीरिक विकास के साथ-साथ यह भी आती रहती है।

सामाजिक विकास विविध विकासों का गुणनफल

सामाजिक विकास के साथ नई रुचियों, नये व्यवहार तथा नये प्रकार के मित्रों के चुनाव में वृद्धि होती है। सामाजिक विकास की दृष्टि से प्रौढ़ व्यक्ति केवल दूसरों के साथ रहना ही नहीं चाहता, वरन् दूसरों के साथ काम भी करना चाहता है।

---

1. *Portinier. L.*, The psychological field as a determinant of the behaviour and attitudes of pre-school children, *Journal of Genetic Psychology*, 62, 327-333, 1943.

2. *Jack, L. M.*, An exeperimental study of ascendant behaviour in pre-school children, *University of Iowa study of child welfare* 9, No. 3, 1934.

3. Tastes. 4. Attitudes. 5. Interests. 6. Habits.

सामाजिक विकास अन्य प्रकार के विकास से स्वतन्त्र नहीं होता। सामाजिक विकास का शारीरिक विकास, मानसिक विकास, संवेगात्मक विकास तथा व्यक्तित्व विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वस्तुतः सामाजिक विकास इन सब विविध विकासों का एक प्रकार से गुणनफल है।

निश्चित योजना और निर्देशन आवश्यक

दूसरों के साथ सामाजिक व्यवहार दिखलाना बालक धीरे-धीरे सीखता है। यह सीखना विभिन्न प्रकार के व्यक्तित्व के सम्पर्क में आने पर निर्भर करता है। इस सम्पर्क का ज्यों-ज्यों उसे अवसर मिलेगा उसका सामाजिक विकास होता जायगा। बालक के वांछित सामाजिक विकास के लिए एक निश्चित योजना और निर्देशन की आवश्यकता है। यदि बालक बुरे समूह के प्रभाव में आगया तो उसका सामाजिक विकास दूषित हो जायगा। बालक के पास इतना अनुभव नहीं होता कि वह अपना विकास सुचारु रूप से संचालित कर सके। अतः माता-पिता, शिक्षक और अभिभावकों को इस विषय में बड़ा सतर्क रहना चाहिए।

व्यक्तित्व का स्थापन

सामाजिक विकास के साथ-साथ बालक अपने व्यक्तित्व का स्थापन भी करता रहता है। ज्यों-ज्यों बालक अपने आत्म-प्रकाशन में सफल हो जाता है उसका सामाजिक विकास बढ़ता हुआ कहा जा सकता है, क्योंकि इसके साथ अपने पैरों पर खड़ा होने की भी उसमें शक्ति आती रहती है। इस शक्ति के साथ वह दूसरों से स्वतः सामाजिक बन्धन जोड़ने में समर्थ होता है और कुछ अपनी ऐसी मान्यताओं और आकाँक्षाओं का प्रकाशन करता है जिनमें सामाजिकता निहित होती है। इस विकास के साथ वह अपने व्यवहार में अधिक वैयक्तिक और स्वतन्त्र दिखलाई पड़ता है। अब ऐसा जान पड़ता है कि अपनी बातों में वह अपनी रुचि को भी प्रधानता देना चाहता है। अब दूसरों के इशारों पर ही नाचना उसे पसन्द नहीं रहता। परन्तु इन सबका यह अर्थ नहीं कि उसमें सामाजिकता की कमी आ रही है। वस्तुतः एक प्रकार से उसमें सामाजिकता अब बढ़ जाती है। पहले ही की तरह अब भी वह दूसरों के साथ रहने में प्रसन्नता का भाव प्रकट करता है। दूसरों के साथ का वह स्वागत किया करता है। दूसरों के साथ मिलकर किसी काम को करना उसे अच्छा लगता है। दूसरों के साथ वह सहानुभूति और दया का भाव दिखलाता है। वह दूसरों से प्रशंसा की कामना करता है। वह अपने दल के साथ भक्ति दिखलाता है और उसके आदर्शों के अनुसार चलने के लिए सब कुछ करने को तैयार हो जाता है।

सामाजिक विकास की धारा एक क्रम में

बालकों के सामाजिक विकास की धारा प्रायः एक क्रम में चलती हैं। इस

क्रम के कारण ही यह अनुमान करना कठिन नहीं होता कि किसी अवस्था विशेष में उनके सामाजिक विकास का साधारण स्वरूप क्या होगा।

स्वरूप का अनुमान सम्भव

इस स्वरूप के ज्ञान के आधार पर यह कहा जा सकता है कि किस उम्र पर वह दूसरों के साथ अधिक खेलने का इच्छुक होगा और किस उम्र पर उसमें प्रतियोगिता अथवा नेतृत्व की भावना का प्रादुर्भाव होगा। नर्सरी स्कूल के बच्चों के अध्ययन से सामाजिक विकास के विभिन्न स्तरों का पता लगा है। ब्लाज़ और बॉट[1] ने अपने अध्ययन में देखा कि दो साल के बच्चे अकेले खेलना अधिक पसन्द करते हैं, परन्तु उन पर भी अपने से बड़े बच्चों का इतना प्रभाव पड़ता है कि वे उनके व्यवहार तथा खेलों के अनुकरण करने की चेष्टा करते हैं। तीन साल के बच्चे दूसरे बच्चों के साथ खेलना पसन्द करने लगते हैं। बालकों के विकास की धारा एक ऐसे क्रम में चलती है कि लोग अपने बच्चों के सम्बन्ध में यह अनुमान करने लगते हैं कि अमुक उम्र पर वह अमुक प्रकार का व्यवहार दिखलायेगा। विकसित हुये बच्चे के सम्बन्ध में मर्फी, मर्फी और न्यूकाम्ब[2] ने अधोलिखित प्रकार की प्रतिक्रियाओं की कल्पना की है।

१—जन्म से प्रथम दो या तीन वर्ष तक वह बहुत ही सुन्दर लगता है और कुटुम्ब का खिलौना बना रहता है।

२—दो से छः वर्ष की अवस्था के अन्तर्गत उसमें कभी भी यह भावना आ सकती है कि दूसरे शिशु की परिचर्या में उसे बड़ों को बाधा नहीं डालनी चाहिए।

३—प्राइमरी स्कूल में जाने की उम्र पर उससे स्कूल में चुपचाप बैठ कर पढ़ना और गिनना सीखने की अपेक्षा की जा सकती है।

४—छ और बारह वर्ष की उम्र में उसे लिङ्ग-भेद का ज्ञान हो सकता है।

५—बारह वर्ष के बाद स्कूल और माता-पिता की यह आशा होने लगती है कि पढ़ने-लिखने में वह यथाशक्ति परिश्रम करे।

सामाजिक व्यवहार के प्रारम्भ[3]

जन्म के समय शिशु असामाजिक जान पड़ता है। लोगों में उसकी रुचि नहीं

---

1. *Blatz, W. E.*, and *Bott, E. A.*, Studied in Mental Hygiene of Children. 1., Behaviour of Public school Children—a description of method, *Journal of Genetic Psychology*, 94, 552—582, 1927.

2. *Murphy, G. Murphy, L. B.* and *Newcomb, T., M.,* Experimental Social Pychology, Rev. Ed., Harper, New York, 1937.

3. Beginnings of Social Behaviour.

होती। वह इस समय जड़ और चेतन के भेद को नहीं समझता। कमरे में रक्खी हुई विभिन्न वस्तुएँ तथा कमरे में आने-जाने और रहने वाले विभिन्न व्यक्ति उसके लिए समान होते हैं। ऐसी स्थिति में वातावरण की विभिन्न उद्दीपकों के प्रति ही वह अपनी कुछ प्रतिक्रियायें दिखला सकता है।

प्रारम्भ में जड़ और चेतन में भेद न कर सकना

प्रथम दो महीने में केवल अति गहन उद्दीपक जैसे तीव्र ध्वनि, अति प्रकाश, तथा कड़ा स्पर्श —के प्रति ही वह प्रतिक्रियायें दिखलाता है। इस समय मनुष्य की ध्वनि तथा अन्य ध्वनियों में वह भेद नहीं कर सकता। इसी प्रकार उसकी प्रतिक्रिया समान होगी चाहे वह किसी व्यक्ति द्वारा छुआ जाय अथवा किसी वस्तु से।

प्रथम दो महीने में

तीसरे महीने के शिशु का सामाजिक विकास स्पष्ट दिखलाई पड़ने लगता है। अब वह अकेले रहने पर होता है और लोगों के साथ रहने पर संतुष्टि का भाव दिखलाता है।

तीसरे महीने में

जब शिशु के वस्तु[1] और व्यक्ति[2] के भेद को समझने लगने से उसके सामाजिक विकास का प्रारम्भ कहा जा सकता है। प्रायः प्रथम दो वर्ष के सामाजिक विकास में विभिन्न बच्चों में कोई विशेष भेद नहीं पाया जाता, क्योंकि इस काल तक उनके वातावरण में अधिक समानता होती है। परन्तु ज्यों-ज्यों उनके वातावरण का भेद बढ़ता जाता है उनके सामाजिक विकास में भी अन्तर देखा जाता है।

वातावरण में भिन्नता के साथ सामाजिक विकास

प्रौढ़ों के प्रति प्रतिक्रियायें[3]

बच्चों की पहली[4] सामाजिक प्रतिक्रिया प्रौढ़ों[5] के प्रति होती है, क्योंकि सर्व प्रथम वे प्रौढ़ों के ही संपर्क में आते हैं। एक महीने की अवस्था पर शिशु मनुष्य की ध्वनि सुनने पर मुँह से स्तन-पान[6] करने की गति का आभास देता है। दो महीने पर गोद में लेने से वह रोना बन्द कर देता है। मनुष्य की ध्वनि सुनने से वह घूम जाता है, और किसी को मुस्कराते देख मुस्कराता है। तीसरे महीने पर जब उससे कोई बात करने का स्वाँग रचता है तो वह रोना बंद कर देता है। कुछ अन्य उद्दीपकों से आकर्षित होने पर भी इस समय शिशु रोना बंद कर देता है। इस अवस्था पर किसी के साथ छोड़ देने से अकेले होने पर वह रोने लगता है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है

1. Object. 2. Person. 3. Reaction to Adults. 4. Social Response. 5. Adults. 6. Sucking movement.

कि तीन महीने पर दूसरों में उसकी रुचि होने लगती है। तीसरे महीने में ही शिशु यह सीख जाता है कि रोने से दूसरे लोग उसके पास आ जाते हैं, और यदि उसकी इस विधि को प्रोत्साहन दिया जाय तो इससे वह लोगों के ऊपर एक प्रकार का नियन्त्रण प्राप्त कर लेता है। तीन महीने पर अपने व्यवहार से शिशु यह दिखलाता है कि वह अपनी माँ अथवा दाई को पहचानता है।

प्रथम दो वर्ष में

चौथे महीने पर उठाने के लिए शिशु पीठ खलाना सीख लेता है। कमरे से किसी के चले जाने पर कुछ देर तक उसकी गति को देखने का प्रयास करता है। वह किसी के मुस्कराने पर स्पष्टतः मुस्कराता है और मनुष्य के चेहरे पर ध्यान एकाग्रित कर सकता है। पाँचवें अथवा छठे महीने से क्रोध अथवा प्रेम की ध्वनि को शिशु समझने लगता है। क्रोध की ध्वनि पर वह रो सकता है और प्रेम पाने पर मुस्करा सकता है। अपने पास के व्यक्तियों का ध्यान आकर्षित करने के लिए अथवा उन्हें आनन्द देने के लिए ६ या ७ महीने का शिशु विभिन्न प्रकार की गतियाँ दिखला सकता है; जैसे, ऊपर-नीचे ऊछलना, करवटें बदलना, नाक सिकोड़ना, हाथ हिलाना या पैर फेंकना आदि। सातवें महीने पर घर के निकट लोगों को वह पहचानने लगता है और बाहरी लोगों से भय दिखलाता है। आठवें या नवें महीने पर शिशु दूसरों की बोली का कुछ अनुकरण करने लगता है। बारहवें महीने पर मना करने पर कुछ करने से हाथ खींच लेता है। इस अवस्था में किसी बाहरी आदमी के आने पर रो कर उनके प्रति वह अरुचि दिखलाता है। दो साल की उम्र में शिशु बड़ों के साथ बहुत सहयोग दिखलाता है।

दूसरे शिशुओं के प्रति प्रतिक्रियायें[1]

प्रथम वर्ष में

चौथे अथवा पाँचवें महीने के पहले शिशु को दूसरे शिशु की उपस्थिति का प्रायः ज्ञान नहीं रहता। चौथे या पाँचवें महीने पर शिशु दूसरे शिशु को देखकर मुस्कराता है अथवा उसकी ओर अपना हाथ फैलाकर उसमें अपनी रुचि का प्रकाशन करता है। आठवें या नवें महीने पर शिशु दूसरे शिशु के हाथ की वस्तु को छीनने का प्रयत्न कर सकता है; अथवा मित्रता के व्यवहार स्वरूप वह दूसरे शिशुओं को देख मुस्करा सकता है अथवा उन तक पहुँचने का प्रयत्न दिखला सकता है। नवें और तेरहवें महीने के बीच शिशु दूसरे शिशु के बाल पकड़ कर खींच सकता है अथवा उनके किसी व्यवहार या गति का अनुकरण कर सकता है। एक साल

---

1. Reactions to Other Children.

की अवस्था पर शिशु से जब दूसरा शिशु कोई वस्तु छीनता है तो दोनों में लड़ाई प्रारम्भ हो जाती है अथवा क्रोध में शिशु रोने लगता है।

दूसरे वर्ष में अन्य शिशुओं के सम्बन्ध में शिशु के सामाजिक व्यवहार का विकास बड़ी तीव्र गति से चलता है। तेरहवें महीने से अठारहवें महीने के अन्तर्गत शिशु खिलौने के साथ रुचि रखते हुए खेल के लिए दूसरे साथी के लिए भी अपनी रुचि का विकास कर लेता है। दूसरे वर्ष के पूरा होते-होते शिशु की दूसरे शिशुओं में रुचि बढ़ जाती है। अब वह दूसरों के संग में खेलना चाहता है। वह दूसरों के साथ मित्रता स्थापित करने के लिए खिलौनों को एक साधन मान लेता है। वह अपने साथियों के साथ खेलने के लिए अपने व्यवहार में आवश्यक परिवर्तन लाने का प्रयत्न करता है।

दूसरे वर्ष में

प्रारम्भिक सामाजिक व्यवहार के कुछ रूप[1]

दूसरे शिशुओं के साथ सम्पर्क में आने के कारण दूसरे वर्ष की अवस्था से शिशु में सामाजिक व्यवहार के कुछ रूप विकसित होने लगते हैं। अपने सामाजिक समूह का सदस्य होने के लिए वह अपने निकट समाज के अन्य व्यक्तियों के व्यवहारों को सीखने का प्रयत्न करने लगता है। पहले वर्ष के अन्तर्गत मुस्कराना, चिल्लाना, किलकारियाँ मारना, सिर हिलाना अथवा प्यार में हाथ या अपने गाल बढ़ाना वह सीख लेता है। दूसरे वर्ष में जब शिशु स्वयं खाना, कपड़े पहनना, तथा खिलौने के साथ खेलना सीख लेता है तो वह अनुकरण के आधार पर दूसरे से विभिन्न बातें सीखने लगता है।

विभिन्न प्रतिक्रियायें

दूसरे वर्ष की अवस्था में बच्चे अपरिचित व्यक्तियों से बहुत ही डरते हैं। इस प्रकार डरना उनके सामाजिक विकास का एक महत्त्वपूर्ण अंग माना जा सकता है।

दूसरे वर्ष में बच्चों में द्वेष[2] का भी विकास हो जाता है। खेल के सम्बन्ध में ही यह भावना बहुधा देखी जाती है। बच्चा दूसरे बच्चे से खिलौने छीन लेने का प्रयत्न करता है। यह प्रयत्न वह इसलिए नहीं करता कि उसे खिलौने की आवश्यकता है, वरन् इसलिए कि दूसरों पर अपना प्रभुत्व जमाने में उसे आनन्द आता है। जिस बच्चे का खिलौना छिन जाता है वह रोता है। प्रौढ़ों से स्नेह पाने की होड़ में भी बच्चे एक दूसरे से द्वेष करते हैं।

द्वेष

1. Some Forms of Early Social Behaviour. 2. Rivalry.

प्रारम्भिक बचपन में सामाजिक व्यवहार[1]

प्रथम छः वर्षों में बच्चे का सामाजिक विकास बड़ी द्रुत गति से होता है। इस अल्प काल में बच्चा वातावरण में अपने को कुछ व्यवस्थित कर लेता है। वह कुछ-कुछ सीख लेता है कि बड़े तथा छोटों के साथ कैसे व्यवहार करना चाहिए। अतः जब वह स्कूल जाना प्रारम्भ करता है तो अन्य बालकों के साथ सामूहिक क्रियाशीलता में हाथ बटाना वह जानता है।

प्रौढ़ों के साथ सम्बन्ध का रूप

पाँच या छः वर्ष के हो जाने पर बच्चे को प्रौढ़ों के संग में उतना अच्छा नहीं लगता जितना कि पहले वे उनके संग को पसन्द करते थे। ज्यों ज्यों बालक की उम्र बढ़ती है बड़ों में उनकी रुचि घटती जाती है और अपने खेल के साथियों के लिए उसकी रुचि बढ़ती जाती है। बॉट[2] ने अपने अध्ययन में देखा कि प्रथम पाँच-छः वर्ष के बाद बच्चों और पौढ़ों के सम्बन्ध का प्रधान रूप बातचीत का होता है। बच्चे प्रौढ़ों से प्रायः बातचीत किया करते हैं और कभी-कभी यह बातचीत इतनी ऊटपटाँग होती हैं कि प्रौढ़ लोग उससे तंग भी आ जाते हैं।

प्रौढ़ों से बातचीत

नर्सरी स्कूल में बालकों के अध्ययन में ब्रिजेज[3] ने देखा कि दो वर्ष की अवस्था में बच्चे सहायता के लिए प्रौढ़ों पर निर्भर रहते हैं। तीसरे वर्ष की अवस्था के लगभग वे बड़ों के प्रभुत्व का कुछ विरोध करने लगते हैं, और अब वे स्वतन्त्र होना चाहते हैं। फलतः अब बच्चे पर नियन्त्रण रखना कुछ कठिन हो जाता है। चौथे अथवा पाँचवें वर्ष से उसमें सहकारिता की भावना बढ़ने लगती है, और अब वह दूसरों से मिलकर खेलना अथवा काम करना सीखने लगता है। अब वह बड़ों से प्रशंसा पाने की कामना करने लगता है। उसका यह प्रयत्न होता है कि बड़े उसके काम की निन्दा न करें।

बड़ों के प्रभुत्व का विरोध

अन्य बच्चों से सम्बन्ध का रूप

दो वर्ष के पहले बच्चे प्रायः अकेले ही खेलना पसन्द करते हैं। दूसरों के

---

1. Social Behaviour in Early childhood.
2. *Bott, H.*: Observations of Play Activities in a Nursery School. *Genet Psychol Mongr.* 4, 44-88, 1928.
3. *Bridges, K. M. B*: Social and Emotional Development of the Pre-school Child, Kegan Paul, London, 1931.

साथ एक ही स्थल पर खेलते हुए जान पड़ने पर भी दो वर्ष के बालक प्रायः अपने वैयक्तिक खेल में ही मस्त रहता है। इस तरह के खेल में विभिन्न बालकों में परस्पर-सम्बन्ध केवल एक दूसरे के अनुकरण अथवा एक दूसरे को देखने का ही रहता है। तीसरे से चौथे वर्ष के अन्तर्गत बच्चे सामाजिक खेलों में कुछ अधिक भाग लेने लगते हैं। अब बच्चे अपनी रुचि अनुसार अपने खिलाड़ियों का चुनाव करने लगते हैं। उम्र के साथ खेल-समूह का आकार बढ़ता रहता है।

उम्र के साथ सामूहिकता का बढ़ना

सामाजिक व्यवहार के कुछ रूप

प्रारम्भिक सामाजिक सम्पर्क के फलस्वरूप बालक कुछ ऐसे सामाजिक व्यवहार सीख लेता है जो आगे चलकर उसके व्यवस्थापन में बड़ी सहायता करते हैं। अन्य बालकों के साथ खेल के सम्बन्ध में बालक यह सीखता है कि समूह में अन्य बालकों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए और अपनी वस्तुओं में दूसरों को कैसे हिस्सा देना चाहिए। दूसरों के भावों, शब्दों और क्रियाओं के अनुकरण से बालक अपने को दूसरों के समान बनाने का प्रयत्न करता है जिससे समूह के लोग उसे सहर्ष स्वीकार कर सकें। बच्चे को सामाजिक प्रशंसा और निन्दा का बड़ा ध्यान होता है। अतः वह वही कार्य करना चाहता है जिससे उसे सामाजिक प्रशंसा मिले।

सामाजिक प्रशंसा और निन्दा का ध्यान

तीन वर्ष की अवस्था से बालकों के व्यवहार में कुछ अँकड़न देखी जाती है, और अपनी इच्छा के विरुद्ध किसी बात को मानना वे अस्वीकार कर देते हैं। उसके व्यवहार का यह रूप सामान्य समझना चाहिए, क्योंकि यह सभी बालकों में प्रायः पाया जाता है। चौथे साल के बाद इस अँकड़न में कुछ कमी आ जाती है, क्योंकि बालक अब यह समझने लगता है कि प्रौढ़ों के कहने के अनुसार चलने में उसी का लाभ है। इस अंकड़न में कमी आने का यह भी कारण हो सकता है कि प्रौढ़ लोग भी बच्चे की इच्छाओं का आदर करना धीरे-धीरे आवश्यक समझने लगते हैं।

व्यवहार में कुछ अँकड़न

चौथे वर्ष की अवस्था से बालक में द्वेष और प्रतिद्वन्दिता की भावना विशेष देखी जाती है। द्वेष और प्रतिद्वन्द्वितावश बालक अपनी कोटि के अन्य बालकों से क्रियाशीलता तथा वस्तुओं के संकलन में बढ़ जाना चाहता है जिससे दूसरों से वह प्रशंसा प्राप्त करे।

द्वेष और प्रतिद्वन्द्विता

छोटे बच्चे एक दूसरे के साथ खेलना चाहते हैं, परन्तु साथ ही, वे आपस में झगड़ा भी खूब करते हैं, क्योंकि खेल में सहयोग दिखलाने की प्रवृत्ति अभी उनमें ठीक से नहीं पाई जाती। झगड़े में बालक दूसरे का खेल अथवा वस्तुएँ बिगाड़ देता है, रोता है, चिल्लाता है अथवा दूसरों से लड़ाई करता है। जब घर में कोई नया खिलौना आता है और वह इतनी संख्या में नहीं है कि दूसरों को भी दिया जा सके तो उसके लिये बच्चों में झगड़ा अवश्य होता है। बच्चों में झगड़ा या आपसी मनमुटाव केवल थोड़ी ही देर के लिए होता है, फिर बाद में उनमें पूर्ववत् मित्रता स्थापित हो जाती है। इस प्रकार झगड़ा और मित्रता बच्चों में साथ ही साथ चलती रहती हैं। छोटे बच्चों की अपेक्षा बड़े बच्चों में अधिक झगड़ा होता है, क्योंकि दूसरे बच्चों के सम्पर्क में वे अत्यधिक नहीं आते। ऐपेल[1] का कहना है कि दो वर्ष के बच्चों की अपेक्षा चार वर्ष के बच्चे अधिक देर तक झगड़ा करते रहते हैं और बड़े लड़के अपने झगड़ों में भय का प्रदर्शन अधिक करते हैं। भय में चिलाते हैं, शाब्दिक विरोध करते हैं या झगड़े के निपटारे के लिए बड़ों के पास आते हैं। बच्चे ज्यों-ज्यों बढ़ते हैं उनका सामाजिक व्यवस्थापन होता जाता है और वे कम झगड़े करते हैं।

बच्चों में झगड़ा

बच्चों के झगड़ों में लिङ्ग-भेद भी पाया जाता है। ग्रीन[2] के अनुसार लड़के लड़कियों की अपेक्षा अधिक प्रारम्भ करते हैं, और बदला लेने की भावना उनमें अधिक होती है। लड़के झगड़ों में अधिक शारीरिक शक्ति लगाते हैं, अथवा मारपीट करते हैं और लड़कियाँ झगड़े में शाब्दिक तर्क और विरोध बहुत करती हैं।

झगड़े में लिङ्ग-भेद

झगड़ा करने के साथ-साथ- कुछ लड़कों में दूसरों को तंग करने या चिढ़ाने की भी आदत होती है। चिढ़ाने के लिए दूसरे के किसी दोष की ओर संकेत किया जाता है अथवा किसी उपनाम से उसे पुकारा जाता है। तंग करने में चुटकी काटना, पिन चुभाना, बाल या कपड़े खींचना, धक्का देना, बैठते समय पीछे से कुर्सी खींच लेना या बैठने के पहले कुर्सी पर कोई एसी वस्तु रख देना जो बैठने पर शरीर में गड़े। इस प्रकार की शरारतें छोटे बच्चों की अपेक्षा बड़े बच्चे

दूसरों को तंग करना और चिढ़ाना

---

1. *Appel, M, H.*, Aggressive behaviour in nursery school children and adult procedures in dealing with such behaviour, *J, Exp, Edc*, 11, 185-199, 1942.

2. *Green, E. H.*, Group play and quarreling among pre-school children, *Child Development*, 4, 302-307.

अधिक करते हैं। वस्तुतः बड़े बच्चे ही छोटे बच्चों को इस प्रकार परेशान करते हैं। लड़के लड़कियों से अधिक ऐसे व्यवहार दिखलाते हैं। जिन लड़कों का सामाजिक व्यवस्थापन, ठीक नहीं हुआ रहता और जो 'आत्महीनता की भावना[1]-ग्रन्थि' के अभियुक्त रहते हैं वे ही दूसरों को इस प्रकार परेशान करते हैं।

सहयोग की भावना[2]

दो या तीन वर्ष के लगभग छोटा बच्चा प्रायः कुछ झगड़ालू होता है और उसे अपनी इच्छा पूर्ति की ही धुनि रहती है। अतः इस अवस्था में दूसरे के साथ मेल से खेलना उसके लिए कठिन होता है। चौथे वर्ष के अन्त होते-होते बच्चा समूह में मेल से खेलना और रहना सीख लेता है और सामूहिक क्रियाशीलता में वह अपना बहुत समय बिताता है। दूसरे बच्चों के साथ रहने और खेलने का उसे जितना ही अधिक अवसर मिलता है वह उतना ही शीघ्र दूसरे के साथ सहयोग करना सीख लेता है।

चौथे वर्ष से

दूसरों पर रोब जमाने की प्रवृत्ति प्रायः सभी छोटे बच्चों में पाई जाती है। दूसरों पर अपना रोब जमाने के क्रम में वे दूसरे बच्चों में इच्छित वस्तुओं को छीन लेते हैं, दूसरों से अपनी रक्षा करने का प्रयत्न करते हैं अथवा अपने साथियों के कुछ व्यवहार, जैसे खेल, पर नियन्त्रण रखने का प्रयास करते हैं। ऐन्डरसन[3] के अनुसार वही बच्चे प्रायः दूसरों पर रोब जमाने का प्रयत्न करते हैं जो अपने को अरक्षित समझते हैं। उसके अनुसार प्रारम्भिक अवस्था में लड़कियाँ लड़कों से अधिक दूसरों पर रोब जमाने का प्रयत्न करती हैं। परन्तु किण्डर गार्टेन स्कूल के बच्चों में उसने इसका उलटा पाया। वहाँ उसे लड़कों में दूसरों पर रोब जमाने की प्रवृत्ति अधिक मिली। उसने देखा कि जब दो-दो लड़के और लड़कियाँ साथ-साथ अलग-अलग खेलती हैं तो लड़कियाँ लड़कों पर रोब जमाने का प्रयत्न करती हैं।

दूसरों पर रोब जमाना

सहानुभूति[4]

सहानुभूति एक प्रकार का सामाजिक व्यवहार है। सहानुभूतिवश एक बच्चा

1. Inferiority Complex. 2. Attitude of co-operation.

3. *Anderson, H. H.*: Domination and integration in the social behaviour of young children in an experimental play situation, *Genet. Psychol. Monogr*, 19, 334—408, 1937.

4. Sympathy.

दूसरे बच्चे की अनुभूति का स्वयं अनुभव करता है। मर्फी[1] ने अपने अध्ययन में देखा कि दो या तीन वर्ष के बच्चे शरीर पर के उन साधारण घावों, सूजन और कष्ट को नहीं समझ पाते जिन्हें देख बड़ों का हृदय द्रवीभूत हो जाता है। दूसरों के साथ सहानुभूति दिखलाने के क्रम में दूसरों की सहायता करना, दुख के कारण को दूर करने का प्रयत्न करना, पुचकार कर सान्त्वना देना, जिसने दुख दिया उसको दण्ड देना, दुखी व्यक्ति की रक्षा करना, दुखी व्यक्ति के बारे में दूसरे से कहना, दुख के कारण को समझने के लिए दुखी व्यक्ति से प्रश्न पूछना तथा दुख को दूर करने के लिए सुझाव देना आदि बच्चे के व्यवहार में देखा जा सकता है। कुछ बच्चे ऐसे भी होते हैं जो दूसरे बच्चों के कष्ट में कोई सहानुभूति नहीं दिखलाते।

दूसरे की अनुभूति का स्वयं अनुभव

सहानुभूति-सम्बन्धी व्यवहार में वैयक्तिक भेद पाया जाता है। वास्तविक उम्र[2] और मानसिक उम्र[3] दोनों के विकास के साथ इसका विकास होता है। प्रथम दो या तीन वर्षों में लिंग-भेद नहीं दिखलाई पड़ता, परन्तु इसके बाद लड़कियों के व्यवहार में लड़कों की अपेक्षा प्रायः अधिक सहानुभूति होती है। मर्फी ने अपने अन्वेषण में देखा कि परिस्थिति के अर्थ को अच्छी तरह समझने पर ही सहानुभूति का दिखलाना सम्भव होता है। यदि बालक परिस्थिति को न समझ सका तो वह सहानुभूति दिखलाने में असमर्थ रहेगा।

लिङ्ग-भेद

सामाजिक स्वीकृति की अभिलाषा[4]

सामाजिक स्वीकृति की अभिलाषा सार्वलौकिक है। अतः एक छोटा शिशु भी चाहता है कि लोग उसी की ओर आकर्षित हों और उसकी क्रियाशीलताओं तथा कार्यों की प्रशंसा करें। चौथे या पाँचवें महीने की अवस्था से शिशु की आत्म-चेतनता इस विन्दु पर पहुँच जाती है कि उसके लिए प्रकाशन की आवश्यकता होती है। बातचीत कर सकने के बहुत पहले ही बच्चा यह समझने लगता है कि वह दूसरों के आकर्षण और प्रशंसा का केन्द्र हो रहा है। जब दूसरे लोग उसकी विविध गतियों पर ध्यान देते हैं तो वह प्रसन्न होता है और जब उस पर कोई ध्यान

दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना

1. *Murphy, L. B.*: Social Behaviour and Child Personality, Columbia University Press, New York, 1937.

2. Chronological Age. 3. Mental Age. 4. The Desire for Social Approval.

नहीं देता तो वह दुःखी होता है। घर के लोग यदि उस पर बहुत ध्यान देते हैं तो बड़ा होने पर उसे कुछ निराशा का सामना करना होगा, क्योंकि बाहरी लोग उस पर उतना ध्यान नहीं दे सकते। ऐसा प्रायः एकलौते अथवा जेष्ठ बच्चों के सम्बन्ध में देखा जाता है। अपेक्षानुसार दूसरों का ध्यान आकर्षित न कर सकने पर बच्चे लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिए कुछ नये उपायों को अपनाने का प्रयत्न करते हैं।

विकास की प्रत्येक अवस्था के साथ बच्चे की यह इच्छा बढ़ती जाती है कि लोग उसके कार्यों की प्रशंसा करें। प्रारम्भ में तो वह प्रौढ़ों से ही प्रशंसा की अपेक्षा करता है, परन्तु बाद में वह अपनी ही उम्र के अन्य बच्चों से भी प्रशंसा पाने की कामना करने लगता है। इस कामना की पूर्ति के लिए वह सभी सम्भव साधनों का सहारा लेता है और इसमें सफलता पाने पर उसके आनन्द का ठिकाना नहीं। अपने कार्यों से दूसरों को प्रभावित करने के क्रम में बच्चे कुछ ऐसे कार्य अवश्य कर जाते हैं जिनका प्रौढ़ लोग विरोध करते हैं और समाज निन्दा करता है। यदि बच्चे देखते हैं कि उसके कार्यों की प्रशंसा नहीं की जा रही है तो लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए वे कुछ असामाजिक व्यवहार भी दिखलाते हैं।

प्रशंसा पाने की इच्छा

बचपन के अन्तिम दिनों में सामाजिक व्यवहार[1]

टोली अवस्था[2]

स्कूल जाने लगने से बच्चे के सामाजिक व्यवहार में क्रान्तिकारी परिवर्तन आता है। अब वह अन्य बच्चों के सम्पर्क में आता है और इनका संग उसके लिये एक नया ही समाज होता है। अब घर के आस-पास केवल दो एक बच्चों के साथ खेलना उसे अधिक पसन्द नहीं। माता-पिता अथवा बड़े भाई और बहिन के साथ सैर करने अथवा किसी समारोह में जाना उसे अधिक अच्छा नहीं लगता। उसे वैयक्तिक खेल के स्थान पर सामूहिक खेल अधिक अच्छे लगते हैं। बच्चे की यह टोली-अवस्था होती है। इस अवस्था में उसमें सामाजिकता का विकास बड़ी ही तीव्र गति से चलता है।

व्यवहार में क्रांतिकारी परिवर्तन

बालक अपनी कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपने समूह अथवा टोली का संगठन स्वयं करता है। प्रौढ़ों का समाज उसे जो देने में असमर्थ होता है उसी को वह अपनी टोली से प्राप्त करना चाहता है। अपनी टोली के प्रभाव से सामाजिक

अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए

---

1. Social Behaviour During the Later Childhood. 2. Gang age.

व्यवहार-सम्बन्धी वह बहुत सी बातें सीखता है। ये सब बातें प्रौढ़ों के वातावरण में वह सरलता से नहीं सीख सकता।

छठे या सातवें वर्ष से बारहवें वर्ष तक का समय बचपन के अन्तिम दिन प्रायः कहे जाते हैं। इस काल में लड़के और लड़कियों को अपने लिंग के व्यक्तियों के साथ रहने में सन्तोष और सुख का बोध होता है। अकेले एक दिन भी रहना उन्हें बड़ा ही खलता है। बालक के जीवन पर टोली का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। ठीक और बुरे आचरण-सम्बन्धी धारणायें, पहनावे का ढङ्ग तथा खेल आदि के प्रकार बालक अपनी टोली से ही सीखता है।

टोली का गहरा प्रभाव

टोली में लिङ्ग भेद[1]

लड़कियों को अपनी टोली में घूमने और रहने की उतनी स्वतन्त्रता नहीं होती जितनी कि लड़कों को होती है। अतः लड़कों के व्यवहार में समूह का अधिक प्रभाव दिखलाई पड़ता है। बहुत सी लड़कियों को स्कूल के बाद गृहस्थी-सम्बन्धी कार्य करने होते हैं। अतः उन्हें अपने साथियों से मिलने का अवसर बहुत कम मिलता है। बहुत से माता-पिता अपनी लड़कियों को घर में ही रखना चाहते हैं, क्योंकि उनके अनुसार 'घर' ही लड़कियों के लिए अधिक उपयुक्त स्थान है। लड़कों को अपने खेल के आयोजन में बहुत से साथियों की आवश्यकता होती है। अतः अपने लिए एक टोली के आयोजन की वे चेष्टा करते हैं। इन सब कारणों से लड़कों के सामाजिक व्यवहार पर उनकी टोली का बड़ा प्रभाव पड़ता है।

लड़कियों को कम स्वतन्त्रता

बाल-समूह की कुछ विशिष्टतायें[2]

बाल-समूह की अपनी कुछ विशिष्टतायें होती हैं। बाल-समूह की रुचि किसी संगठित खेल में होती है। समूह का प्रत्येक सदस्य अपने समूह के आदर्शों के लिए कुछ त्याग करने के लिए तैयार रहता है। अपने समूह का सदस्य होने में वह एक प्रकार के गर्व का अनुभव करता है। समूह की क्रियाशीलताओं को वह औरों से गुप्त रखना चाहता है। जो उसके समूह का सदस्य नहीं होता उससे अपने को वह ऊँचा समझता है।

समूह के लिए त्याग की भावना

कभी-कभी कुछ समूहों का संगठन प्रौढ़ लोग भी करते हैं, जैसे स्काउट अथवा

1. Sex differences in gangs. 2. Some characteristics of children's groups.

बालचर संघ। ऐसे संघ का आयोजन दूसरों की सहायता से कभी-कभी बालकगण स्वयं भी कर लेते हैं। पहले समूह छोटा होता है, परन्तु खेल-सम्बन्धी आवश्यकताओं के बढ़ने से बच्चे उसके आकार को बढ़ाने का भी प्रयत्न करते हैं। सामान्यतः बच्चों की टोली में छः से आठ सदस्य तक होते हैं।

समूह के सदस्य आपस में मिलने का स्थान पहले से ही निश्चित कर लेते हैं। जैसा वातावरण रहेगा और जैसे वातावरण के लड़के समूह के सदस्य होंगे उसी के अनुसार उनके मिलने का स्थान निश्चित होगा। उदाहरणार्थ; लड़के किसी सड़क के कोने, पार्क, खण्डहर, सूने घर अथवा किसी खुले स्थान में मिलने का निश्चिय करते हैं। लड़कियों पर अभिभावकों की सदा अधिक दृष्टि होती है। अतः वे अपने समूह के किसी सदस्य के घर पर ही अथवा स्कूल में ही किसी स्थान पर अवकाश-काल में मिलना निश्चित करती हैं। इन सब स्थानों के चुनाव में लड़के और लड़कियाँ यह विशेष ध्यान रखती हैं कि उनके कार्यों में प्रौढ़ों द्वारा कोई हस्तक्षेप न किया जाय और सबकी रुचि के अनुसार किसी आयोजन के लिए पर्याप्त सुविधायें सुलभ हों। एक पूर्व योजनानुसार सभी सदस्य अपने-अपने लिए आवश्यक वस्तुओं को लाते हैं।

समूह के मिलने का स्थान

बच्चों के समूह की क्रियाशीलतायें विविध प्रकार की होती हैं और इन क्रियाशीलताओं के प्रकार पर बालकों के माता-पिता के समाज का बड़ा प्रभाव पड़ता है। बच्चों की सामूहिक क्रियाशीलताओं में नाटक, चाय पार्टी, सैर, पढ़ना, हॉकी और फुटबाल आदि के खेल, कोई रचनात्मक कार्य, दूसरे समूह के सदस्यों तथा बूढ़े लोगों को चिढ़ाना, लड़ाई-झगड़ा करना, चोरी करना, जुआ खेलना तथा किसी वस्तु का पता लगाना आदि हो सकता है।

समूह की क्रियाशीलतायें

सामूहिक क्रियाओं में शिष्टता का प्रायः अभाव रहता है। लड़के प्रायः बहुत शोर मचाते हैं और उन कार्यों को करने का प्रयत्न करते हैं जिनकी मनाही रहती है। समूह जो कुछ काम करना चाहता है उसी के अनुसार उसका सदस्य चलता है। अर्थात् बच्चे समूह के साथ कुछ देर के लिए आत्मसात कर लेते हैं। इस आत्मसात में उन्हें भले और बुरे की पहचान नहीं रहती।

ज्योंही बालक समूह में रहने की इच्छा का अनुभव करने लगता है वह अपने साथियों से प्रशंसा प्राप्त करने के प्रयत्न में भी रहने लगता है। अपने पहनावे, भाषा तथा व्यवहार के बारे में अपने साथियों के राय पर वह विशेष ध्यान देता है।

समूह के आदर्शों का प्रभाव

यदि घर के आदर्शों और उसके समूह के आदर्शों में कोई विरोध दिखलाई पड़ता है तो बालक अपनी समूह के ही आदर्शों की ओर झुकता है, क्योंकि इस अवस्था में घर के लोगों से प्रशंसा प्राप्त करने की अपेक्षा समूह से प्राप्त प्रशंसा को वह अधिक मूल्यवान और महत्त्वपूर्ण समझता है।

सामाजिक प्रशंसा और निन्दा

सामाजिक प्रशंसा और निन्दा का बालकों के व्यवहार पर बड़ा प्रभाव पड़ता हैं। वार्डेन और कोहेन[1] ने अपने अन्वेषण में देखा कि प्रशंसा और निन्दा के प्रभाव स्वरूप बच्चे अपने कार्यों को अधिक कुशलता से करने का प्रयत्न करते हैं।

निदशयोग्यता[2]

इस काल में लड़के निर्देश के प्रभाव में जितने आजाते हैं उतने अधिक कदाचित् अपने जीवन में फिर कभी नहीं आते। अपने समूह को स्वीकृत होने की उत्कट इच्छा के कारण समूह के अन्य सदस्यों अथवा नेता द्वारा दिये गये निर्देशों को बच्चे सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं।

जब बालक अपनी समूह के नेता के सुझावों को मानने लगता है तो अपने घर के प्रौढ़ों की आज्ञाओं का उलङ्घन करने की उसमें एक प्रवृति आ जाती है।

ता के निर्देशों का पालन

आज्ञा के उलंघन की यह प्रवृत्ति उन बालकों में अधिक होती है जो अपनी समूह के निर्देशों को अत्यधिक स्वीकार करते हैं। बड़ों से आये हुए जिन निर्देशों को बालक अस्वीकार करता है उन्हीं को यदि कोई उसका साथी देता है तो बिना तर्क के उन्हें वह स्वीकार कर लेता है। जिन बातों को न करने के लिए उससे कहा जाता है उन्हीं को वह प्रायः करने का प्रयत्न करता है।

द्वेष और प्रतियोगिता[3]

इस अवस्था में बालक भाँति-भाँति के खेलों में भाग लेता है। अतः उसमें द्वेष और प्रतियोगिता की भावना का आना स्वाभाविक है। इस भावनावश कुछ अरुचिकर खेलों और कार्यों में भी बालक भाग लेता है। प्रतियोगिता की भावना बालक के लिए बड़ी ही प्रेरक होती है।

---

1. *Warden, C. J.* and *Cohen, A.*: A study of certain incentives applied under school room conditions, *Journal of Genetic Psychology*, 39, 320-327, 1931.

2. Suggestibility. 3. Rivalry and Competition.

सहानुभूति[1]

सहानुभूति का वास्तविक रूप बालक के जीवन में इसी काल में दिखलाई पड़ता है, क्योंकि विभिन्न परिस्थितियों को समझना अब उसके लिए पहले से सरल हो जाता है। परन्तु सहानुभूति का उत्कृष्ट रूप कैशोर में अर्थात् १४ वें या १५ वें वर्ष के बाद ही बालक में मिलता है। अतः इस काल में भी बालक दूसरों को कभी-कभी चिढ़ाने या तंग करने में आनन्द का अनुभव करता है। छोटे बच्चों, जानवरों तथा नौकरों को आवेश में वह मार दिया करता है। राइट[2] ने अपने अन्वेषण में देखा कि बच्चों का ६८ प्रतिशत अपने परिचित साथियों की अपेक्षा अन्य अपरिचित बच्चों के प्रति अधिक सहानुभूति दिखलाते हैं। जब उनसे अपरिचितों के प्रति सहानुभूति क्यों दिखलाने का कारण पूछा गया तो उन्होंने प्रायः यही उत्तर दिया कि (१) वे अपने मित्र की परिधि बढ़ाना चाहते हैं, तथा (२) वे अपरिचित और मित्र के बीच सामाजिक असमानता को दूर करना चाहते हैं।

सच्चा रूप कैशोर में ही

दसवें, ग्यारहवें अथवा बारहवें वर्ष की अवस्था पर लड़के और लड़कियों में प्रायः विरोध देखा जाता है। इस विरोध में लड़के अधिक प्रमुख पाये जाते हैं। लड़कियों को अपने से छोटा समझने की लड़कों में एक प्रवृत्ति देखी जाती है। लड़कों की इस प्रवृत्ति के कारण लड़कियाँ लड़कों से अप्रसन्न रहती हैं और अवसर पर उनकी निन्दा करती हैं। इस प्रकार उनमें एक दूसरे के लिए सहानुभूति नहीं रहती।

लड़के और लड़कियों में विरोध

बच्चों पर सामूहिक जीवन का प्रभाव

सामूहिक जीवन से बच्चे अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की आदतें सीखते हैं। समूह में रहने से बालक बहुत सी सामाजिक बातें सीखता है। वह जानने लगता है कि दूसरों के लिए अपने स्वार्थ का त्याग करना क्यों आवश्यक है। दूसरों के लिए सहयोग करना तथा अपनी इच्छाओं और गतियों पर आवश्यक नियन्त्रण रखना समूह में रहने के कारण बालक सीख लेता है। साथ ही, उसमें साहस, आत्म-नियन्त्रण, न्याय-बुद्धि, धैर्य, भक्ति, ईमानदारी, तथा नेता की आज्ञा का पालन करना आदि अच्छी आदतें

अच्छी आदतें

1. Sympathy

2. *Wright*, *B. A.*: Altruism in children and the perceived conduct of others, *Journal of Abnormal Social Psychology*, 37, 218-233, 1942.

उसमें आती हैं। ये सब आदतें उसके प्रौढ़ जीवन में सफलता के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं।

उपर्युक्त अच्छी आदतों के अतिरिक्त बच्चों में सामूहिक जीवन से कुछ बुरी आदतें भी पड़ती हैं, जैसे गाली देना, गन्दे मजाक करना, गन्दी कहानियाँ कहना, अव्यवस्थित आचरण दिखलाना, घर से भाग जाना, राजनियम के विरुद्ध व्यवहार की प्रवृत्ति अपनाना, घर के बन्धनों को तोड़ टोली के सिद्धान्तों को अपनाना तथा वर्षों से स्थापित कुटुम्ब के आदर्शों के विरुद्ध जाना, आदि, आदि।

बुरी आदतें

विरोधात्मक काल[1]

कैशोर[2] आने के थोड़ा पहले—लड़कियों में १२ वें वर्ष और लड़कों में १४ वें वर्ष के लगभग कुछ असामाजिक व्यवहार दिखलाने की प्रवृत्ति आ जाती है। भाग्यवश यह प्रवृत्ति बहुत दिन तक नहीं चलती। लड़कियों में केवल तीन-चार महीने और लड़कों में इससे कुछ अधिक समय तक यह प्रवृत्ति रहती है। तरुणावस्था[3] के प्रारम्भ होते-होते इस प्रवृत्ति का लोप हो जाता है।

इस समय लड़के और लड़कियाँ दोनों दूसरों के शब्दों का गलत अर्थ लगाते हैं और सोचते हैं कि उनके पहले के मित्र अब शत्रु हो रहे हैं और जो पहले प्रेम से बोलते थे वे ही अब कटु शब्द बोलते हैं। इस भावना के कारण वे अपने घर, माता-पिता तथा समाज की बहुधा निन्दा करते हैं। किसी कार्य में हाथ बटाने के लिए कहा जाता है तो वे इसका विरोध करते हैं। यदि उनकी भलाई के लिए भी कुछ कहा जाता है तो उसमें वे सन्देह करते हैं। अतः वे अपने पुराने मित्रों का साथ छोड़ने का प्रयत्न करने लगते हैं; और अपने अवकाश-काल को अकेले ही बिताना चाहते हैं। वे अपने समय को पढ़ने अथवा हवाई किला बाँधने में बिताते हैं। अकेले रहने में वह यह धारणा बनाने लगता है कि कोई उसे प्यार नहीं करता और उसके जीवन में अब कोई रस नहीं है। उसकी इस प्रकार की भावना उसकी विशिष्ट शारीरिक अवस्था ही के कारण आती है। बारहवें या तेरहवें वर्ष के लगभग लड़के और लड़कियों की शारीरिक शक्ति कुछ कम हो जाती है। मनोवैज्ञानिकों का अनुमान है कि उनमें शारीरिक शक्ति की इस कमी का आना उनमें काम-सम्बन्धी[4] प्रौढ़ता के आने का स्वाभाविक परिणाम है। अपने पुराने साथियों के साथ कठिन परिश्रम

विरोध की भावना

---

1. Negative phase. 2. Adolescence. 3. Puberty. 4. Sexual Maturing.

वाले खेलों में वह अब सरलता से भाग नहीं ले सकता, अतः अपने समय को बिताने के लिए वह कुछ नई रुचियों का विकास करता है।

असामाजिक व्यवहार के कारण[1]

मनोवैज्ञानिकों की धारणा है कि लड़के और लड़कियों में असामाजिक प्रवृत्ति आने के दो प्रधान कारण होते हैं—(१) बुरा स्वास्थ्य, और (२) बुरा वातावरण। जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है, पूर्व कैशोर में व्यक्ति का स्वास्थ्य साधारणतः गिर जाता है। स्वास्थ्य के गिर जाने पर प्रायः सभी लोग असामाजिक रूप में कुछ व्यवहार दिखलाते हैं। अतः लड़के और लड़कियों के लिए भी असामाजिक व्यवहार दिखलाना स्वाभाविक ही है। घर की बुरी दशा, माता-पिता का बच्चे की परिस्थिति का न समझना, वातावरण में आये हुये परिवर्तनों को बच्चे का न समझना, उपयुक्त पौष्टिक भोजन का अभाव तथा घर के तथा स्कूल के अत्यधिक कार्य आदि सभी लड़के और लड़कियों की मानसिक स्थिति को पूर्व कैशोर में अप्रिय बनाते हैं। बुरी आर्थिक स्थिति वाले लड़के और लड़कियों पर इन सब परिस्थितियों का अच्छी आर्थिक स्थिति वालों की अपेक्षा प्रायः अत्यधिक बुरा प्रभाव पड़ता है।

बुरा स्वास्थ और बुरा वातावरण

साथियों का चुनाव[2]

शैशव में[3]

शैशव में भी बालक की किसी साथी के पाने की प्रवृत्ति देखी जाती है। एक वर्ष वाले बच्चे को भी देखा जाता है कि उसने किसी न किसी को अपना मित्र बना लिया है। इसीलिए तो वह किसी को अधिक चाहता है और किसी को कम, क्योंकि यह देखा जाता है कि किसी के यहाँ जाने की वह इच्छा प्रकट करता है और किसी के यहाँ जाने का वह विरोध करता है। जो व्यक्ति उसकी परिचर्या करते हैं और उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करते रहते हैं उन्हें वह अधिक चाहता है। प्रायः पहले या दूसरे वर्ष तक शिशु के साथी प्रौढ़ ही लोग होते हैं, क्योंकि वे उसकी केवल स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति ही नहीं करते, वरन् उसके साथी बनकर उसके साथ खेलते भी हैं। साथ ही यह भी ध्यान देने की बात है कि जैसे बड़े बच्चे अपने खिलौने से खेलते हैं वैसे ही प्रौढ़ लोग अपने छोटे बच्चों से भी खेलते हैं।

साथी पाने की प्रवृत्ति

---

1. Causes of Unsocial Behaviour. 2. Selection of Companions. 3. During Infancy.

बचपन में[1]

बचपन में अर्थात् तीसरे वर्ष से पाँचवें या छठे वर्ष तक बच्चों के साथी घर के प्रौढ़ लोग और पड़ौस के कुछ छोटे बच्चे होते हैं। इस समय घर और निकट पड़ोस ही बच्चे का सामाजिक वातावरण होता है। जब वह स्कूल जाना प्रारम्भ करता है तो उसके मित्रों का घेरा कुछ बढ़ता है और विभिन्न बालकों में से अपनी इच्छानुसार वह कुछ साथियों को चुन सकता है। वस्तुतः इसी समय दूसरे बच्चों के साथ खेलने की रुचि उसमें उत्पन्न होती है।

स्कूल जाने से मित्रों का बढ़ना

साथियों के चुनाव में बड़े बच्चे अपनी निर्णय-शक्ति का उपयोग करते हैं। छोटे बच्चे तो जो ही बच्चा मिला उसी के साथ खेलना प्रारम्भ कर देते हैं। परन्तु बड़े बच्चे कुछ कसौटी के अनुसार अपने साथियों का चुनाव करते हैं। इस कसौटी में उम्र,[2] बुद्धि[3] तथा खेलने[4] की कला के नाम लिये जा सकते हैं। प्रारम्भ में साथियों के चुनाव में लिङ्ग[5] पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। इसलिए लड़के और लड़कियाँ दोनों एक दूसरे के साथ हो जाते हैं।

साथियों के चुनाव के लिए एक कसौटी

प्रायः बच्चे उसी को अपना साथी बनाते हैं जो उनके साथ अच्छी तरह खेल सकते हैं अथवा कुछ अन्य काम कर सकते हैं। प्रौढ़ व्यक्ति बहुत दिन तक बच्चों के साथी नहीं रहते, क्योंकि वे बहुत दिन तक उसके साथी नहीं रह सकते। जब तक लड़कियाँ लड़कों के साथ खेल सकती हैं तब तक उनसे लड़के अपने खेल के साथी चुनते रहते हैं। अच्छे साथी सिद्ध होने पर लड़के दूसरे लड़कों द्वारा साथी के रूप में स्वीकर कर लिए जाते हैं, और उनके चुनाव में लिंग, धर्म तथा आर्थिक और सामाजिक स्थिति पर ध्यान नहीं दिया जाता।

खेल में अच्छे होने से साथी चुना जाना

बच्चे का वातावरण प्रायः बड़ा सीमित होता है। अतः निकट के पड़ौस से ही उन्हें अपने साथियों का चुनाव करना होता है। यदि पड़ोस के बच्चों में उसकी रुचि का कोई साथी न मिला तो वह या तो अपने स्वभाव में आवश्यकतानुसार परिवर्तन लाने का प्रयत्न करेगा जिससे वह पड़ौस के बच्चों के साथ खेल सके; अथवा वह एकदम अलग ही रहकर काल्पनिक साथियों का मन ही मन सृजन

उम्र, घर का वातावरण तथा लिङ्ग का प्रभाव

---

1. During Childhood. 2. Age. 3. Intelligence. 4. Art of playing. 5. Sex.

कर उनके साथ कल्पना में अपनी इच्छानुसार खेलता है। पार्टेन[1] ने अपने अध्ययन में देखा कि साथियों के चुनाव में बुद्धि-लब्धि उतना प्रभाव नहीं डालती जितना कि उम्र और घर के वातावरण का पड़ता है। हैगमैन[2] ने अपने अन्वेषण में देखा कि चार साल के बच्चे अपने साथियों के चुनाव में अपने ही लिङ्ग के बच्चों की ओर अधिक झुकते हैं; परन्तु दो साल के बच्चों में इस प्रकार की कोई प्रवृत्ति न पाई गई। कोच[3] ने अपने एक अन्वेषण में नर्सरी स्कूल के कुछ गोरे और नीग्रो बच्चों को लड़के और लड़कियों के जोड़े-जोड़े चित्र दिखलाकर अपने साथियों को चुनने के लिए उनसे पूछा। उसने देखा कि साथियों के चुनाव में बच्चे पहले लिंग[4] पर, तब वे इसके बाद जाति[5] पर ध्यान देते हैं। प्रायः यह देखा जाता है कि बच्चे ज्यों-ज्यों बड़े होते हैं उनमें अपने ही लिंग के साथियों को चुनने की प्रवृत्ति दृढ़ होती जाती है।

काल्पनिक साथी[6]

कुछ कारणों वश जिन बच्चों के साथी नहीं होते वे मन ही मन कुछ साथियों की कल्पना कर लेते हैं। बच्चे के लिए ये काल्पनिक साथी वास्तविक होते हैं, क्योंकि वे मन ही मन उनके शारीरिक लक्षणों तथा विविध कार्य करने के लिए गुणों की भी कल्पना कर लेते हैं। इन काल्पनिक साथियों के साथ खेलने में बच्चों को बड़ा आनन्द आता है। कुछ मनोवैज्ञानिकों की धारणा है कि जिन बच्चों को अपने माता-पिता का समुचित प्यार नहीं मिलता वे भी काल्पनिक साथियों के साथ खेलते हैं। प्रतिभाशाली बच्चों की आवश्यकतायें अधिक होती हैं। अतः सुव्यवस्थित वातावरण पाने पर भी काल्पनिक साथियों के साथ मन ही मन खेलने की उनकी प्रवृत्ति होती है।

बच्चों के लिए वास्तविक

जो बच्चे काल्पनिक साथियों के साथ इस प्रकार मन ही मन खेलते हैं उन पर इसका अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। काल्पनिक साथी आज्ञाकारी और दब्बू होता है। अतः बच्चे में प्रभुत्व दिखलाने की प्रवृत्ति आ जाती है। जब वह बाद में वास्तविक साथियों के साथ खेलता है, तो इस प्रवृत्ति के कारण उसे बड़ी अड़चनें उठानी पड़ती हैं,

काल्पनिक साथियों के साथ खेलना अच्छा नहीं

---

1. *Parten M, B.* : Social play among pre-school Children, *Journal of Abnormal Social Psychology*, 28, 136-147, 1933.

2. *Hagman, E. P.* : The Companionships of pre-school Children, *University of Iowa study of child welfare.* 7, No. 4,' 1933.

3. *Koch*, H. L. : A study of some factors conditioning the social distance between the sexes, *Journal of Social Psychology*, 20, 107, 1944.

4. Sex-factor. 5. Race-factor. 6. Imaginary Companions.

क्योंकि अब वह देखता है कि परिस्थिति पर वह नियन्त्रण नहीं रख सकता, क्योंकि दूसरे बच्चे उसके प्रभुत्व को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होते। फलतः वह समूह का एक अव्यवस्थित सदस्य हो जाता है। इस स्थिति के कारण उसे अपने व्यवहार में परिवर्तन लाना होगा, और इसमें असफल होने पर वह फिर अपने काल्पनिक साथियों की ओर वापस आ जाता है, क्योंकि उनके साथ खेलना उसके लिए अधिक सरल और आनन्ददायक होता है।

काल्पनिक साथियों का महत्त्व

बच्चे के व्यक्तित्व विकास में काल्पनिक साथियों का एक महत्त्व जान पड़ता है, क्योंकि उनकी सहायता से बच्चा अपने को समाज में व्यवस्थित करने का प्रयत्न करता है। जब इन काल्पनिक साथियों की उसे आवश्यकता नहीं होती तो वह उनका संग छोड़ देता है।

पाँचवें या छठे वर्ष तक इसकी प्रवृत्ति

बच्चों के काल्पनिक साथियों के सम्बन्ध में कई मनोवैज्ञानिक अन्वेषण किए गए हैं। इनसे यह पता चलता है कि लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा काल्पनिक साथियों से अधिक खेलती हैं और उनके लिए ये काल्पनिक साथी अधिक वास्तविक होते हैं। उत्कृष्ट बुद्धि के बच्चों, एकलौते बच्चों तथा उन भाई-बहनों में—जिनकी उम्र में बहुत अन्तर रहता है—काल्पनिक साथियों के साथ खेलने की अधिक प्रवृत्ति होती है। टरमन[1] ने अपने अध्ययन में देखा कि प्रतिभाशाली बच्चों के किसी न किसी समय काल्पनिक साथी अवश्य रहते हैं। तीन वर्ष की अवस्था के लगभग बच्चे काल्पनिक साथियों के साथ खेलना प्रारम्भ करते हैं; और पाँचवें या छठे वर्ष के हो जाने पर उनकी यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे चली जाती है, क्योंकि तब स्कूल जाने पर उन्हें वास्तविक साथी प्रायः मिल जाते हैं।

भिन्न-लिङ्गीय व्यक्तियों का चुनाव कम

काल्पनिक साथी प्रायः छोटे-छोटे लड़के और लड़कियों के ही रूप में होते हैं। बच्चे काल्पनिक साथियों में प्रौढ़ों, परियों तथा पशुओं को प्रायः स्थान नहीं देते। काल्पनिक साथी कभी-कभी बच्चे के ही लिंग के और कभी-कभी भिन्न-लिंगीय भी होते हैं। बच्चा अपने काल्पनिक साथी का एक नाम रख देता है। उससे वह बातचीत करता है और जहाँ जाता है उसे वह अपने साथ लिए जाता है। बच्चा अपने काल्पनिक साथी के साथ इस प्रकार खेलता है, मानो वह वस्तुतः

---

1. *Terman, L. M.*: Genetic Studies of Genius, Stanford University, Stanford University Press, Vol. 1925.

कोई दूसरा बच्चा ही है। जेरसिल्ड[1] ने अपने अन्वेषण के क्रम में ५ से १२ वर्ष के बच्चों से उनके काल्पनिक साथियों के सम्बन्ध में पूछा। बच्चों का प्रायः ३३ प्रतिशत ने अपने काल्पनिक साथियों के लक्षणों और गुणों का स्पष्टतः विवरण दिया। लड़कियों ने अपने काल्पनिक साथियों में बालकों का जितना नाम बतलाया उतना लड़कों ने लड़कियों के नाम नहीं बतलाये। परन्तु जेरसिल्ड ने प्रधानतः यही देखा कि काल्पनिक साथियों में भिन्न-लिंगीय व्यक्तियों का चुनाव कम किया जाता है।

बचपन के अन्तिम दिनों में साथियों का चुनाव

जब बच्चा स्कूल जाने लगता है तो साथियों के चुनाव में वह कुछ नई कसौटियों के अनुसार चलता है; परन्तु इन नई कसौटियों में उसकी कुछ पुरानी कसौटियाँ भी मिली रहती हैं। साथियों के चुनाव में बच्चे सर्वप्रथम पड़ोस के नैकट्य पर ध्यान देते हैं। इसके विपरीत किशोर अथवा प्रौढ़ लोग एक दूर स्थान से भी अपने साथी को चुन सकते हैं। अपने निकट के पड़ोस से अपने लिङ्ग, अपने ही आकार के तथा शारीरिक उम्र, मानसिक उम्र, सामाजिक प्रौढ़ता तथा रुचियों वाले बच्चे को साथी के रूप में वह चुनता है। इन सब बातों में मानसिक उम्र तथा सामाजिक प्रौढ़ता पर विशेष ध्यान देता है। बॉनी[2] ने अपने अन्वेषण में देखा कि अपने मित्रों के चुनाव में बच्चे बुद्धि तथा शैक्षिक सफलता को अधिक महत्त्व देते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि बच्चे को उस स्कूल तथा पड़ोस में रखना चाहिए जहाँ उसे समान बुद्धि तथा शैक्षिक सफलता के अधिक से अधिक साथी मिल सकें।

पड़ोस की निकटता

बचपन के अन्तिम दिनों में प्रायः लड़कों में अपने भिन्न-लिंगीय व्यक्तियों अर्थात् लड़कियों से अरुचि होती है। अतः आश्चर्य नहीं जब बच्चे अपने ही लिङ्ग के व्यक्तियों को बहुधा अपना साथी चुनते हैं।

बचपन के अन्तिम दिनों में साथियों के चुनाव में बच्चे सामाजिक और आर्थिक भिन्नता पर विशेष ध्यान नहीं देते। जब तक कोई दबाव न डाला जाय

1. *Jerseld and others* : Children's fears, dreams, wishes, day-dreams, likes, dislikes, pleasant and unpleasant memories, *Child Development Monogrom,*., No. 12, 1933.

2. *Bonney, M. E.* : A sociometric study of the relationship of some factors to mutual friendships on the elementary, secondary and college levels.. 9, *Sociometry* 21-47, 1946.

बच्चे अपने मित्रों के चुनाव पर जाति और धर्म पर भी ध्यान नहीं देते। यदि बच्चे अपने साथियों के व्यवहार सन्तोषजनक पाते हैं तो जाति और धर्म का उनके लिए कोई महत्त्व नहीं है। परन्तु अपने साथियों के चुनाव में दूसरे पड़ोस, दूसरे स्कूल तथा दूसरे समूह पर बच्चे अवश्य ध्यान देते हैं, क्योंकि इन दूसरे स्थानों के बच्चों को वे पराया समझते हैं।

दूसरे समूह से अरुचि

बहुत मन्द अथवा अति प्रतिभाशाली लड़के प्रायः किसी समूह के सदस्य नहीं हो पाते। अतः उन्हें अपना समय अकेले ही बिताना पड़ता है अथवा उनके कोटि के उन्हें बहुत ही कम साथी मिलते हैं। मन्द बालक समूह के कार्यों में पर्याप्त भाग नहीं ले पाता। अतः अन्य बालक उसका स्वागत नहीं करते। इसके विपरीत अति प्रतिभाशाली बालक समूह की साधारण क्रियाशीलताओं से बड़े शीघ्र ऊब जाता है और वापस चला आता है।

अति मन्द और अरुचि प्रतिभाशाली को कम साथी

नेतृत्व[1]

बच्चों के किसी भी समूह में परस्पर का व्यवहार समानता का नहीं दिखलाई पड़ता, चाहे कितने ही छोटे बच्चों का समूह क्यों न हो। उनमें एक ऐसा अवश्य होता है जो दूसरों का नेतृत्व करता है। प्रसिद्धि और नेतृत्व दोनों साथ-साथ नहीं चलते। एक व्यक्ति प्रसिद्धि होते हुए भी नेता नहीं हो सकता। इसके विपरीत एक नेता सदा प्रसिद्ध होता है और समूह के अधिकांश लोग उसे मानते हैं।

प्रत्येक समूह का एक नेता

नेतृत्व का पहला चिन्ह[2]

किसी भी दो खेलते हुये बच्चों में से किसी एक में नेतृत्व के कुछ लक्षण देखे जा सकते हैं। जो बच्चा कुछ बली होता है अर्थात् जिसमें नेतृत्व करने के कुछ गुण होते हैं वह अपनी इच्छानुसार खिलौने के ढेर से एक खिलौने को पहले उठा लेता है। यदि उसे पसन्द आया हुआ खिलौना किसी दूसरे बच्चे के पास है तो उसे छीनने के लिए वह उसे धक्का देता है, मारता है अथवा बकोटता है। दसवें या ग्यारहवें महीने के उम्र के लगभग बच्चे को इन सब कार्यों में अपनी सफलता का प्रायः ज्ञान हो जाता है,

प्रथम वर्ष में

1. Leadership. 2. The first sign of leadership.

और किसी वस्तु को छीनने में सफलता पाने पर वह प्रसन्नता की एक मुद्रा दिखलाता है। जिस बच्चे से खिलौना छिन जाता है वह रोकर अपना दुःख प्रगट करता है। जब आठ-दस महीने के दो बच्चे एक साथ रख दिये जाते हैं तो वे एक दूसरे के सन्निकट आकर एक दूसरे की वस्तु को लेना चाहते हैं अथवा एक दूसरे को धक्का देते हैं। उनमें जो दूसरे से बली होता है वही दूसरे पर अपना रोब जमाता है।

बचपन के प्रारम्भिक दिनों में नेतृत्व[1]

जिस बच्चे में नेतृत्व करने के गुण होते हैं वह अन्य बच्चों से स्वभावतः बुद्धि, आकार और उम्र में श्रेष्ठ होता है। बुद्धि, आकार तथा उम्र में बड़े रहने से वह खेल के लिए अधिक सुझाव दे सकता है। इसलिए दूसरे बच्चे उसका अनुसरण करने के लिए तैयार हो जाते हैं। तीसरी अथवा चौथी अवस्था तक नेता के चुनाव में बच्चे लिङ्ग पर ध्यान नहीं देते। इस अवस्था में प्रायः लड़कियाँ लड़कों का अधिक नेतृत्व करती हैं। इस अवस्था में नेतृत्व के लिए शारीरिक सौन्दर्य, सामाजिक और आर्थिक स्थिति उतना महत्त्वपूर्ण नहीं समझा जाता जितना कि बाद में समझा जाता है। ईमानदारी और समूह के प्रति उत्तरदायित्व का निभाना नेतृत्व करने के लिए बच्चे में आवश्यक गुण माने जाते हैं।

नेता, बुद्धि, आकार और गुण में बड़ा

प्रारम्भ में बच्चा दूसरों पर अपना रोब जमाने के लिये उन्हीं साधनों को अपनाने का प्रयत्न करता है जिन्हें वह प्रौढ़ों के लिए अपनाता है; जैसे—चिल्लाना, रोना तथा मारना आदि। उसे जल्दी ही यह ज्ञात हो जाता है कि इन विधियों से उसे सफलता न मिलेगी। अतः इनमें वह परिवर्तन करने की चेष्टा करता है। इस काल के नेता में अपने समूह पर कड़ाई दिखलाने की प्रवृत्ति रहती है। बच्चा-नेता अपने समूह के अन्य व्यक्तियों की इच्छाओं और भावनाओं पर विशेष ध्यान नहीं देता। वह चाहता है कि समूह के अन्य बच्चे बिना कुछ विरोध किये उसकी इच्छा के अनुसार चलें। यदि वे उसका अनुसरण नहीं करते तो वह क्रोध दिखलाता है अथवा समूह से उन्हें निकालने का प्रयत्न करता है। यदि बच्चा-नेता अपने व्यवहार में बड़ा निरकुंश हो जाता है तो दूसरे उसे पदच्युत करके अपना दूसरा नेता चुन लेते हैं।

बच्चा-नेता में कड़ाई की प्रवृत्ति

पार्टेन[2] ने नर्सरी स्कूल के बच्चों सम्बन्धी अपने अन्वेषण में दो प्रकार के

1. Leadership During Early Childhood.

2. *Parteen, M. B.* : Leadership among pre-school children, *Journal of Abnormal Social Psychology*, 27, 430-440, 1933.

नेताओं को पाया। एक प्रकार का बच्चा-नेता वह होता है जो बड़ी कुशलता और नीति पूर्वक प्रत्यक्ष रूप से अपने सुझावों के अनुसार दूसरों से कार्य करा लेता है; और दूसरे प्रकार का बच्चा-नेता वह है जो डाँट-डपट तथा मार-पीट कर अपने एक छोटे दल को अपने नियन्त्रण में करने का प्रयत्न करता रहता है।

दो प्रकार के नेता

बचपन के अन्तिम दिनों में नेतृत्व[1]

बचपन के अन्तिम दिनों में बच्चा-नेता समूह के आदर्शों का प्रतिनिधित्व करता है। इस समय नेता होने के लिए बच्चे का एक कुशल खिलाड़ी होना आवश्यक है। इस समय कुछ गुणों को हृदयङ्गम करने की बच्चों में उत्कट इच्छा होती है। ये गुण जिस बच्चे में सबसे अधिक पाये जाते हैं उसी को दूसरे अपना नेता स्वीकार करते हैं। समूह के बच्चे जिन गुणों की प्रशंसा करते हैं, यदि उन गुणों के विपरीत नेता आचरण दिखलाता है तो उसे पदच्युत कर दिया जाता है और उसके स्थान पर कोई दूसरा बच्चा-नेता चुन लिया जाता है। बच्चा-नेता के गुणों को पहचानने के लिए कई अन्वेषण किये गये हैं। इन गुणों में उम्र की श्रेष्ठता, कद में ऊँचाई, खेल में सर्वोत्तम, सबसे अच्छा लड़ने वाला, नेतृत्व करने की इच्छा, अच्छा स्वभाव, झगड़े में निर्णय करने का गुण, उदार हृदय, पढ़ने में अच्छा, स्फूर्तिवान तथा खेल का प्रारम्भ कर सकना आदि के उल्लेख किए जा सकते हैं।

बच्चा-नेता के गुण

सामाजिक प्रसिद्धि[2]

अपने वातावरण में सुव्यवस्थापन के लिये सामाजिक प्रसिद्धि पाना बच्चे के लिए बड़ा आवश्यक है। सामाजिक प्रसिद्धि का तात्पर्य अपने समूह के दूसरे बच्चों द्वारा प्रशंसा और मान्यता पाने से है। जो बच्चा जितनी यह प्रशंसा और मान्यता पाता है वह अपने को वातावरण में उतना ही अधिक सुव्यवस्थित कर पाता है। वातावरण में सुव्यवस्थापन पर व्यक्तित्व का वांछित विकास सम्भव है। जो बच्चा अपने समूह में प्रसिद्ध होता है वह अच्छे सामाजिक गुणों का अपने में विकास करता है। जो बालक सामाजिक प्रसिद्धि नहीं पाता वह अपने को एक प्रकार से वहिष्कृत समझता है, और उसका व्यक्तित्व विकास कुण्ठित हो जाता है।

सुव्यवस्थापन के लिए आवश्यक

1. Leadership during Later childhood. 2. Social Popularity.

प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिए आवश्यक गुण विकास की अवस्था के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं। परन्तु सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि बचपन तक के लिए कुछ गुण उसी प्रकार स्थिर समझे जा सकते हैं, जैसे कैशोर अथवा प्रौढ़ावस्था के लिए कुछ गुण स्थिर होते हैं। किसी बच्चे की समूह के लिए प्रसिद्धि उसके वास्तविक कार्यों पर निर्भर करती है। 'क्या वह नहीं करता'—इस पर उसकी प्रसिद्धि निर्भर नहीं। कुछ शारीरिक दोषों को होते हुए भी बच्चा यदि सामूहिक आदर्शों के अनुसार कुछ कार्यों को करने में सफल होता है तो दूसरे बच्चे उसकी प्रशंसा करेंगे और समूह के आदर का वह पात्र होगा। इसके विपरीत वह बच्चा जिसमें कोई शारीरिक दोष नहीं है, पर सामाजिक आदर्शों के अनुसार अपने व्यक्तित्व का प्रकाशन नहीं कर सकता तो उसकी कोई प्रशंसा नहीं करेगा। स्फूर्तिवान् बच्चे को समूह में तब तक स्वीकार किया जाता है जब तक उसकी गतियाँ दूसरों के लिए अरुचिकर नहीं होती। जो बच्चा संकोची और लज्जाशील होता है उस पर समूह में विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। जो बच्चा स्फूर्तिवान् होता है और समूह की प्रत्येक क्रियाशीलता में भाग लेता है वह लोगों का ध्यान अपनी ओर अधिक आकर्षित करता है। जो बच्चा सुव्यवस्थित होता है उसके बहुत मित्र होते हैं, और जो कुव्यवस्थित होता है उसके बहुत ही कम मित्र होते हैं;— अर्थात् समूह में वह प्रसिद्धि नहीं प्राप्त कर पाता।

प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिए गुण

जो बच्चा सामूहिक कार्यों में पूरा सहयोग देता है उसे समूह के अन्य बच्चे बहुत चाहते हैं। जो बिना दूसरे को विघ्न पहुँचाए समूह के कार्यों में अपने को शीघ्रताशीघ्र व्यवस्थित कर लेता है उसकी बड़ी प्रशंसा की जाती है, और इसके विपरीत गुण वाले बच्चे की बड़ी निन्दा की जाती है—अर्थात् वह सामाजिक प्रसिद्धि नहीं प्राप्त कर पाता। कोच[1] के अनुसार वह बालक सबसे अधिक प्रसिद्धि अपने समूह में पाता है जो परिस्थिति को स्वीकार करके दूसरों की तरह काम में लग जाता है तथा विरोध नहीं करता और दूसरों की प्रार्थनाएँ स्वीकार करता है।

प्रसिद्धि पर प्रभाव डालने वाली बातें

जिन बातों का बच्चे की प्रसिद्धि पर प्रभाव पड़ता है उनका नीचे उल्लेख किया जा रहा है।

कुछ पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों की धारणा है कि नर्सरी स्कूल के बच्चों में

1. *Koch, H. L.*: Popularity in pre-school children: some related factors and technique for its measurement, *Child Development*, 4, 164-175, 1933.

लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा अधिक प्रसिद्ध होती हैं। लड़कियाँ कुछ सामाजिक कलाओं में लड़कों की अपेक्षा शीघ्रतर प्रवीण हो जाती हैं। लड़कियाँ लोगों से बातचीत करने में अधिक कुशल होती हैं। इसलिए स्वभावतः वे प्रसिद्ध हो जाती हैं। भारतवर्ष की सामाजिक व्यवस्था कुछ भिन्न है। अतः यहाँ पर लड़कों और लड़कियों की हम इस प्रकार तुलना नहीं कर सकते, क्योंकि यहाँ लड़के और लड़कियाँ एक दूसरे के सम्पर्क में पाश्चात्य देशों की अपेक्षा बहुत ही कम आते हैं। स्पष्ट है कि अपने देश के बच्चों के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि लड़कियाँ लड़कों से अधिक प्रसिद्ध होती हैं। परन्तु अपने यहाँ उन स्कूलों में जिनमें सह-शिक्षा[1] की व्यवस्था है लड़कियाँ अवश्य ही लड़कों से अधिक प्रसिद्धि प्राप्त करती होंगी।

लिङ्ग

मनोवैज्ञानिकों में मतभेद है कि प्रतिभाशाली[2], सामान्य[3] तथा मन्द[4] बुद्धि बालकों में सबसे अधिक प्रसिद्धि कौन प्राप्त करता है। कोच[5] ने नर्सरी स्कूल के अपने अध्ययन में देखा कि प्रतिभाशाली बच्चे सामान्य बुद्धि वाले बच्चों से अधिक प्रसिद्ध होते हैं। एलेमेण्टरी स्कूल के बच्चों के अपने अध्ययन में हार्डी[6] कोच के निष्कर्ष का समर्थन करता है। बॉनी[7] ने अपने अन्वेषण में देखा कि प्रति प्रतिभाशाली[8] लड़के प्रसिद्ध नहीं हो पाते, क्योंकि समूह के अन्य लड़कों के साथ उनकी सहानुभूति नहीं होती, और समूह के रुचि के अनुसार अपने को व्यवस्थित करने का वे प्रयत्न नहीं करते। बॉनी ने यह भी देखा कि जो लड़के पढ़ने-लिखने में अच्छे होते हैं वे अपने समूह में सामाजिक प्रसिद्धि प्राप्त करते हैं।

बुद्धि

बड़े आकार के कुटुम्ब वाले बच्चे स्वभावतः सामाजिक व्यवस्थापन की कुछ कलाएँ सीख लेते हैं, क्योंकि वे प्रारम्भ से ही अपने घर में कई प्रकार के स्वभाव के व्यक्तियों के सम्पर्क में आते हैं। फलतः अपने समूह में भी वे शीघ्र ही व्यवस्थित हो जाते हैं। अतः ऐसे बच्चे दूसरों की अपेक्षा अधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। एकलौते

कुटुम्ब का आकार

1. Co-education. 2. Bright. 3. Average. 4. Below-average. 5. Ibid.

6. *Hardy, M. C* : Social Recognition at the Elementary School Stage, *Journal of Social Psychology*, 8, 365-384, 1937.

7. *Bonny, M. E.* : A Study of the relation of intelligence family size, and sex difference, with mutual friendships in the primary grades, *Child Development*, 13, 79-100, 1942.

8. Very bright.

बच्चे को घर के सभी लोग अपनी हथेली पर लिए रहते हैं। फलतः बच्चों के समूह में वह अपने को सरलता से व्यवस्थित नहीं कर पाता, क्योंकि वहाँ उसके हठ को मानने वाला कोई नहीं होता। स्पष्ट है कि एकलौते बच्चे बहुधा अपने समूह में प्रसिद्धि नहीं पाते।

सामाजिक और आर्थिक स्थिति

अच्छी सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक वातावरण से आये हुए बच्चे अधिक सामाजिक प्रसिद्धि अपने समूह में प्राप्त करते हैं, क्योंकि वे स्वभावतः बड़े व्यवहार-कुशल होते हैं।

स्वास्थ्य

स्वस्थ बच्चे अपने को शीघ्रतर व्यवस्थित कर लेते हैं। अतः समूह के अन्य बालक उनका आदर करते हैं। स्वस्थ बच्चे स्कूल के विविध कार्यों तथा खेल के मैदान में बहुधा बड़े कुशल पाये जाते हैं। इसलिए अपने समूह में वे प्रसिद्ध हो जाते हैं।

सौन्दर्य

अपने मित्रों और साथियों के चुनाव में बच्चे वाह्य सौन्दर्य पर भी ध्यान देते हैं। जो बच्चा देखने में सुन्दर नहीं जान पड़ता उससे बहुत कम लोग मित्रता करते हैं। हार्डी[1] ने अपने एलेमेण्टरी स्कूल के बच्चों के अध्ययन में देखा कि प्रसिद्ध लड़कों का लगभग ६६ प्रतिशत लड़के देखने में सुन्दर थे। छोटा या बड़ा कद प्रसिद्धि पर कम प्रभाव डालते हैं। अन्य गुणों के होने पर बच्चा अपने समूह में प्रसिद्धि प्राप्त कर लेगा, चाहे वह छोटे कद का हो या बड़े का।

प्रसिद्धि की स्थिरता

बच्चों के अध्ययन में प्रायः यह देखा गया है कि जो बालक एक बार प्रसिद्धि प्राप्त कर लेता है वह प्रायः बहुत दिनों तक अपनी प्रसिद्धि स्थिर किये रहता है, क्योंकि समूह में अपनी स्थिति कायम रखने की उसे चिन्ता होती है। साथ ही यह ध्यान देने की बात है कि जो बालक एक बार अपने व्यवहार में अपने समूह को अप्रसन्न कर देता है फिर से प्रसिद्धि प्राप्त करना उसके लिए बड़ा ही कठिन हो जाता है।

वहिष्कृत बच्चे

दब्बू और ऊधमी बालक

प्रत्येक सामाजिक समूह में कुछ ऐसे सदस्य होते हैं जिन्हें लोग उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। उपेक्षित बालक बड़ा ही दुखी होता है और उसमें व्यक्तित्व-सम्बन्धी कुछ ऐसे लक्षण आ जाते हैं जिनसे उसकी और भी अधिक निन्दा की जाती है। बालक की अपनी प्रसिद्धि या अप्रसिद्धि अपने ही गुणों अथवा अवगुणों पर निर्भर करती है। जो बालक

1. Ibid.

समूह के अन्य सदस्यों की तुलना में वृद्धि, व्यक्तित्व, सौंदर्य, कौटुम्बिक पृष्ट-भूमि तथा रुचि आदि में बहुत भिन्न होता है उसे लोग 'विचित्र' समझते हैं और उसे लोग अपने समूह में रखने को तैयार नहीं होते। जो बच्चे इस प्रकार अपने समूह से वहिष्कृत किये जाते हैं उनका दो वर्ग किया जा सकता है। १—शान्त[1] और दब्बू, तथा २—ऊधमी[2] अथवा समस्या-बालक। शान्त और दब्बू बालक किसी विषम परिस्थिति से भागने की चिन्ता में रह सकता है, जैसे स्कूल से भाग जाना, अपने को प्रौढ़ व्यक्ति पर एकदम छोड़ देना, डर के मारे किसी ऊधमी लड़के से छिपा रहना, अकेले खेलना, अपने से छोटी उम्र के बच्चों का साथ खोजना तथा दूसरों की बातों को न मानना तथा किसी नियम के अनुसार न चलना, आदि-आदि; ऊधमी बालक तुरन्त बिना सोचे-विचारे दूसरे बालक पर आक्रमण कर देता है, उसे पीटता है, बाल पकड़ कर खींचता, ढकेल देता है अथवा उसकी वस्तुएँ नष्ट कर देता है।

---

1. Quite or 'reserved Children. 2. Aggressive or 'problem' Children.

१४

भाषा, तर्क और चिन्तन का विकास[1]

अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मानव ने अपने लिए भाषा की कल्पना की है। उसके विकास के क्रम में भाषा का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

भाषा का महत्त्व

क्योंकि भाषा के ही सहारे वह बहुत सी बातें सीख लेता है। भाषा बुद्धि के प्रयोग का एक साधन हो जाती है। भाषा तर्क[2] का साधन है। अपने भावनाओं और विचारों के प्रकाशन में भाषा की सहायता बिना हमारा कार्य नहीं चल सकता। इसीलिए शिक्षा का यह भी उद्देश्य होता है कि बच्चे को अपनी भाषा के प्रयोग और उपयोग का अच्छा ज्ञान हो जाय। किसी भी देश की संस्कृति को समझने के लिए हमें उस देश की भाषा का सीखना आवश्यक हो जाता है, क्योंकि भाषा ही में उस देश की सारी बातें मिल सकती हैं। इस प्रकार भाषा के विकास को समझना किसी भी शिक्षक के लिए आवश्यक है, इस समझ के आधार पर ही बालक के भाषा-विकास के लिए आवश्यक उपकरणों का वह आयोजन कर सकेगा।

बालक के व्यक्तित्व तथा सामाजिक विकास में भाषा का बड़ा भारी हाथ रहता है। भाषा का विकास व्यक्ति के शारीरिक और मानसिक विकास से सम्बन्धित

व्यक्तित्व और सामाजिक विकास में भाषा का हाथ

होता है। तभी तो हम देखते हैं कि एक निश्चित शारीरिक और मानसिक प्रौढ़ता प्राप्त कर लेने पर ही बालक भाषा का प्रयोग प्रारम्भ करने में समर्थ होता है। जब तक उसके कण्ठ[3] के अवयव अच्छी तरह से प्रौढ़े नहीं हो जाते, शब्दों का स्पष्ट उच्चारण वह नहीं कर पाता।

भाषा कैसे सीखी जाती है

कुछ लोगों की धारणा है कि संकेत[4] भाषा के स्थान पर वाणी[5]-भाषा का

1. Development of Language, Reasoning and Thinking. 2. Reasoning. 3. Vocal organs. 4. Sign Language. 5. Vocal Language.

विकास हुआ, और मानव के स्नायुमण्डल के विकास के साथ-साथ इन दोनों प्रकार की भाषाओं का विकास होता रहा। कुछ अन्य लोगों का मत है कि विपत्ति, सुख तथा अन्य भावनाओं की अनुभूति के प्रकाशनार्थ भाषा का विकास हुआ। कुछ लोगों ने यह भी सुझाव दिया है कि ध्वनि[1] और अर्थ[2] में समता के आधार पर शब्द अर्थात् भाषा का विकास हुआ; जैसे खट-खट, टन-टन, में-में, आह, हा-हा, आदि। बहुत से मनोवैज्ञानिक भाषा के इस प्रकार के स्रोत को विशेष महत्त्व नहीं देते। उनका उद्देश्य केवल यही समझना होता है कि बच्चे भाषा कैसे सीखते हैं और भाषा के सीखने पर किन-किन बातों का प्रभाव पड़ता है। मनोवैज्ञानिकगण 'भाषा[3] को एक प्रकार का व्यवहार' मानते हैं, और उनके अनुसार अनुभव और विवृद्धि[4] की एक निश्चित सीमा पर पहुँच जाने पर एक सामान्य बालक के लिए भाषा एक साधारण प्रक्रिया है।

मनोविज्ञानिकों का दृष्टिकोण

पहले यह विश्वास किया जाता था कि भाषा-सम्बन्धी बालक की प्रक्रिया जन्मजात्[5] और मूलप्रवृत्यात्मक[6] होती है। परन्तु यह धारणा अब भ्रमात्मक मानी जाती है। वर्तमान विश्वास यह है कि भाषा[7]-सम्बन्धी कौशल अर्जित किया जाता है; और इसके अर्जन[8] पर अपने व्यवहार में आवश्यक सुधार लाने की बालक की योग्यता का बड़ा प्रभाव पड़ता है। बालक में भाषा-विकास उसके नासिका का घेरा, कण्ठ, होंठ, जिह्वा, दाँत, वायुनली, तथा फेफड़े आदि पर निर्भर करता है। साथ ही भाषा-सम्बन्धी दूसरों की आदतों का भी बालक के भाषा-विकास पर प्रभाव पड़ता है।

भाषा अर्जन का फल

माता-पिता ने यह देखा होगा कि भाषा बोलने के महीनों पहले शिशु कुछ शब्दों का अर्थ समझता है, और कुछ संकेतों और ध्वनियों के सहारे वह अपनी भावनाओं और इच्छाओं का कुछ प्रकाशन भी करता है। उदाहरणार्थ ; अपनी प्रसन्नता का प्रकाशन वह हँसकर करता है और माँ को देखने से उसे एक विशिष्ट ध्वनि से पुकारता है आदि, आदि।

बोलने के पहले समझ सकना

शिशु की पहली ध्वनि स्वाभाविक होती है और उसका विभेदकरण[9] करना सम्भव नहीं होता। परन्तु थोड़े ही दिन बाद भूख, गर्मी, सर्दी तथा प्यास आदि

1. Sound. 2. Sense. 3. Language is a kind of behaviour. 4. Maturation. 5. Innate or inborn. 6. Instinctive. 7. Linguistic skills. 8. Acquisition. 9. Differentiation.

सम्बन्धी भावनाओं से उसका सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है, क्योंकि इन सबके सम्बन्ध में उसकी ध्वनियाँ कुछ विशिष्ट प्रकार की हुआ करती हैं। पहले उसकी ध्वनियों में स्वर-ध्वनियों की प्रधानता रहती है, जैसे 'आ' 'ऊ' तथा 'ए' आदि। इसके बाद स्वर और व्यञ्जन दोनों मिली ध्वनियाँ वह उत्पन्न कर सकता; है, जैसे 'माँ', 'गा', 'पा' तथा 'का' आदि। इन सब ऊटपटाँग ध्वनियों की सहायता से ही बालक धीरे-धीरे अपना भाषा-कौशल बढ़ाता है।

स्वर-ध्वनि के बाद व्यञ्जन-ध्वनि

अनुकरण

कुछ लोगों की धारणा है कि कुटुम्ब के लोगों के अनुकरण के आधार पर बालक अपना भाषा-विकास करता है। वस्तुत: जब बालक अपने कण्ठ पर जब कुछ नियन्त्रण प्राप्त कर लेता है तभी वह प्रौढ़ों द्वारा बोली गई भाषा को अनुकरण के सहारे सीख सकता है। बहुत प्रारम्भ में जब उसे अपने कण्ठ पर नियन्त्रण नहीं रहता तब किसी ध्वनि का अनुकरण करना उसके लिए सम्भव नहीं होता। प्राय: सभी माता-पिता का यह अनुभव होगा कि विवृद्धि के किसी विशिष्ट अवस्था के पूर्व उनके लाख प्रयत्न करने पर भी बालक किसी ध्वनि के अनुकरण करने में सफल नहीं होता। एक वर्ष की अवस्था के पूर्व शिशुओं का किसी ध्वनि का तुरन्त ही अनुकरण कर सकना प्राय: असम्भव ही होता है।

एक वर्ष के पूर्व प्रायः असम्भव

वस्तुओं के नाम सीखना[1]

जब शिशु 'दा'[2] ध्वनि उच्चारित करता है तो उच्चारण के साथ ही उसे एक श्रवण-सम्बन्धी उद्दीपक समझ कर वह उसके प्रति एक प्रतिक्रिया दिखलाता है। जब शिशु अपने को 'दा' ध्वनि कहते हुए कई बार सुन लेता है तो वह 'दा' की ध्वनि को अपने बोलने की क्रिया से सम्बन्धित कर देता है। जब शिशु 'दा-दा' कहना सीख लेता है तो कोई भी प्रौढ़ व्यक्ति कुछ सार्थक शब्द, जैसे 'दाना' या 'दादा' को दिखलाकर उसे 'दा' कहने के लिए अनुप्रेरित[3] अथवा अभिसन्धानित[4] कर सकता है। इस प्रकार किसी उद्दीपक[5] के सहारे

वस्तुओं और परिस्थितियों से सम्बन्धित करने से

1. Learning the Names of Objects.

2. *Allport, F.H.*: Social Psychology, Chap. 8, Haughton Mifflin Co., 1924, Boston.

3. To Stimulate. 4. To Condition. 5. Stimulus.

'दा' कहना शिशु सीख लेता है। यहाँ यह ध्यान देना है कि शिशु 'दा' ध्वनि को कहना किसी एक उद्दीपक के आधार पर सीखता है, न कि किसी प्रौढ़ व्यक्ति के अनुकरण करने से। विकसित होता हुआ बालक किसी सार्थक शब्द का तभी अनुकरण कर पाता है जब कि अपनी स्वाभाविक भाषा-प्रतिक्रिया में उसे वह उच्चारित किए हुए रहता है। उदाहरणार्थ; बालक 'दादा' या 'दाना' कहना सीख लेता है, क्योंकि अपनी स्वाभाविक भाषा-प्रतिक्रिया में 'दा' ध्वनि का उच्चारण करना उसने सीख लिया है। इस प्रकार 'नाम' और 'शब्दों के अर्थ' वस्तुओं या परिस्थितियों से सम्बन्धित करके बालक को सरलता से सिखलाये जा सकते हैं। इसीलिए तो आम, रोटी, केला, पानी, दूध आदि के नाम प्रारम्भ में वस्तुओं से सम्बन्धित कर देने से बालक सीख लेता है।

अस्पष्ट से सार्थक की ओर

बालक का भाषा-विकास विकास के साधारण नियमों के अनुसार चलता है। जैसे कि गति-विकास में अस्पष्ट और अनिश्चित से स्पष्ट और निश्चित गतियों को दिखलाने में बालक सफल होता है, उसी प्रकार भाषा-विकास में अस्पष्ट और अनिश्चित ध्वनियों से विशिष्ट और सार्थक ध्वनियों का उच्चारण करना वह सीखता है। उदाहरणार्थ; 'कुत्ता' शब्द को शुद्ध-शुद्ध उच्चारित कर सकने के पूर्व वह कुछ दिनों तक 'कत्ता-कत्ता' उच्चारित कर सकता है। ऐसे ही अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

अनुभव के बाद उच्चारण सीखना

कुछ अनुभव और विकास के बाद बालक शीघ्र ही कुछ शब्दों का शुद्ध उच्चारण करना सीख लेता है। परन्तु शुद्ध उच्चारण के सीख लेने पर भी वह व्याकरण की गलतियाँ बहुत दिन तक करता रहेगा, और लिखने की अवस्था आने पर कुछ शब्दों के लिखने में भी वह गलती कर सकता है। वस्तुओं के नाम सीख लेने पर छोटे-छोटे वाक्यों के अर्थ वह शीघ्र ही समझ लेता है। जैसे 'आम' शब्द सीख लेने पर 'आम दो' का अर्थ भी वह समझ लेता है। कुछ और अनुभव बढ़ जाने पर वह 'मेरा' 'तुम्हारा' और 'उसका' शब्दों का भी अर्थ समझने लगता है। दो या ढाई वर्ष की अवस्था में वह कुछ छोटे-छोटे प्रश्नों का भी अर्थ समझने लगता है, जैसे, "यह कौन है ?" "वह क्या है ?" आदि।

बचपन में भाषा का कार्य[1]

कुछ लोग सोच सकते हैं कि प्रौढ़ों तथा दूसरे बालकों से बातें करने के लिए ही

1. Function of Langnage during Childhood.

बालक प्रधानतः भाषा सीखता है। परन्तु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। बालकों की भाषा-सम्बन्धी क्रियाशीलताएँ स्व-केन्द्रित होती हैं। बच्चे अपने बारे में बात करते हैं, वे स्वयम् 'अपने' से भी बातें करते हैं। अर्थात् कहने और सुनने वाला दोनों कभी-कभी वे स्वयम् रहते हैं। किसी सामान्य प्रौढ़ व्यक्ति की भाषा-सम्बन्धी क्रियाशीलता इस प्रकार की नहीं देखी जाती। अपनी खेलने की क्रिया में छोटे बच्चे स्वयम् अपने से ही बात करते हुए बहुधा पाये जाते हैं। बच्चे अपने ही विचारों और रुचियों से प्रायः सम्बन्ध रखते हैं। इसलिए उनकी भाषा में 'अहङ्कार' अथवा 'स्व' का पुट अधिक रहता है।

बच्चों की भाषा स्व-केन्द्रित

अन्वेषणों से यह पता चला है कि उनकी भाषा का प्रयोग अधिकांशतः अपने 'स्व' की स्थापना के लिए, आज्ञा देने के लिए, प्रभुत्व स्थापित करने के लिए या अपनी ओर दूसरों का ध्यान आकर्षित करने के लिए होता है। छोटे बच्चे सामाजिक सहयोग तथा समस्या के सुलझाव में परस्पर-निर्भरता के महत्त्व को ठीक से नहीं समझते।

भाषा का प्रयोग स्व की स्थापना के लिए

एक अध्ययन[1] में किण्डरगार्टेन स्कूल के २७ बालकों का 'कक्षा' में, 'खेल के मैदान' में तथा 'भोजन के समय' १५-१५ मिनट तक की बातचीत का लेखा (रेकार्ड) लिया गया। इस लेखे का उल्लेख नीचे की तालिका में दिया जा रहा है:—

वर्ग	संख्या	प्रतिशत
१—स्व-प्रभुत्व स्थापनार्थ	१२७५	४०·८
२—अपनी निन्दा हेतु	·८	·२५
३—सामाजिक चेतना का प्रमाण	११६	३·७
४—समझी हुई बातों का वर्णन	२५६	८·३
५—भाषा-सम्बन्धी परीक्षण	१८८	६·०
६—नाटक-सम्बन्धी	१४८	४·७
७—प्रश्न	३११	९·९५
८—तर्कपूर्ण विचार	१९३	६·२
९—वास्तविक स्थिति-सम्बन्धी बातों का उल्लेख	५००	१६·०
१०—'हाँ' और 'नहीं' के उत्तर	१२७	४·१
योग	३१२५	१००·०

1. *Rugg, H., Krueger, L.,* and *Sondergaard, A.* : Studies of Child Personality, I: "A study of the Language of Kindergarten children", *Journal of Educational Psychology*, 20, 1-18, 1929.

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है ३१२५ में से अधिकांश का सम्बन्ध 'स्व-प्रभुत्व' से ही था। बहुत ही कम वार्तालापों का सम्बन्ध सामाजिक चेतना से था। उपर्युक्त तालिका से बच्चों के व्यक्तित्व के स्वरूप का कुछ आभास मिलता है।

पियगेट[1] की धारणा है कि सातवें या आठवें वर्ष तक बच्चों में सामाजिक प्रौढ़ता का अभाव रहता है। अतः इस काल तक उनकी भाषा प्रायः स्व-केन्द्रित होती है। पियगेट का कहना है कि ७-८ वर्ष के बच्चे प्रायः गुड़ियों के साथ एक समूह में खेलते हैं और बातचीत भी करते हैं—परन्तु उनमें कोई किसी की ओर ध्यान नहीं देता।

भाषा सामाजीकरण का एक साधन[2]

बालक में सामाजिक चेतना के प्रादुर्भाव के साथ-साथ उसका भाषा-विकास भी प्रौढ़ होता जाता है। सातवें या आठवें वर्ष के लगभग बालक का भाषा-विकास इस अवस्था तक पहुँच जाता है कि जान पड़ता है कि बालक का सामाजीकरण भी पर्याप्त हो गया है, अर्थात् सातवें और आठवें वर्ष के लगभग बालक में इतनी सामाजिक चेतना आ जाती है कि वह कुछ सामाजिक सम्बन्धों और बातों को कुछ-कुछ समझने लगता है। बातचीत के आधार पर ही बालक सहयोग का पहला पाठ सीखता है और यह समझने लगता है कि समाज के विभिन्न व्यक्तियों से उसका कुछ सामाजिक सम्बन्ध है। बालक की यह समझ उसकी व्यक्तिगत और सामाजिक व्यवस्थापन के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

सहयोग का पहला पाठ

ऊपर हमने देखा है कि पहले बालक की भाषा स्व-केन्द्रित होती है। परन्तु जब वह कुछ प्रश्नों के उत्तर देने तथा प्रश्नों के पूछने में, किसी बात या कार्य के समर्थन करने में, किसी कार्य के करने में, सहमत होने में, दिये हुए सुझावों पर तर्क करने में, और दूसरों को कुछ सुझाव देने में समर्थ होता है तो भाषा और व्यवहार की प्रौढ़ता की ओर वह उन्मुख हो जाता है। पियगेट[3] के अनुसार बालक के सामाजीकरण से सम्बन्धित भाषा-विकास में सात सीढ़ियाँ पाई जा सकती हैं—(१) अवसरानुसार श्रोता से उपयुक्त बातें कह सकना; २—दूसरों के व्यवहार तथा निन्दा की आलोचना कर सकना; ३—प्रार्थना, धमकी तथा आज्ञा दे सकना; ४—दूसरों से बातें जानने के लिए प्रश्न पूछ सकना; ५—दूसरों के प्रश्नों के

भाषा-विकास की सात सीढ़ियाँ

1. *Piaget. Jean,* : The Language and Thought of the Child, Harcourt Brace Co., New York, 1926.

2. Language a means of Socialization. 3. Piaget, Jean. op. cit.

उत्तर दे सकना; ६—अवसरानुसार, धन्यवाद, स्वागत, नमस्कार तथा क्षमा कीजिए आदि कह सकना; तथा ७—प्रौढ़ों की तरह कुत्ते, बिल्ली, गाय, रेलगाड़ी, तथा मोटर आदि, आदि वस्तुओं की ध्वनियों का अनुकरण कर सकना।

कुटुम्ब का रचनात्मक वातावरण आवश्यक

प्रायः यह देखा जाता है कि बहुत अधिक बात करने वाले शिशु आगे चलकर बातूनी बालक होते हैं और कुछ प्रथम वर्षों तक इसका उनके व्यक्तित्व-विकास पर बड़ा ही प्रभाव पड़ता है। सामाजिक आधार पर दूसरों से बातचीत कर सकना व्यक्तित्व-विकास में बड़ा ही सहायक होता है, और यह कुटुम्ब के रचनात्मक वातावरण से ही सम्भव हो सकता है। घर के वातावरण के रचनात्मक[1] न होने से बालक में भाषा-सम्बन्धी दोष आने का डर रहता है। इस दोष में 'हकलाना' सबसे प्रमुख कहा जा सकता है। यह प्रायः देखा गया है कि जिन बच्चों में हकलाने का दोष होता है उनमें आत्महीनता की भावना-ग्रन्थि घर कर लेती है, वे अपने को अरक्षित अनुभव करते हैं। इस स्थिति से बालक का सामाजीकरण अवरोधित हो जाता है; और साथ ही, उसका भाषा-विकास भी कुण्ठित हो जाता है।

बालक का भाषा-विकास[2]

ऊपर हमने संकेत किया है कि कुछ शब्दों के बोल सकने के पूर्व ही बच्चे कुछ संकेतों और चिन्हों द्वारा प्रौढ़ों को अपने भाव बतलाते हैं। इन संकेतों और चिन्हों को बच्चे का प्रथम भाषा व्यवहार कहा जा सकता है, क्योंकि इसे प्रौढ़ों से सन्तोषजनक प्रतिक्रिया में वह पाता है और उसकी कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। इस प्रकार सर्व प्रथम बालक संकेत-भाषा[3] के आधार पर अपना काम चलाता है। जब वह भूखा होता है तो रोता है, कोई वस्तु चाहता है तो उस ओर अपना हाथ वह उठाता है, दूध पीने के लिए कहा जाता है तो वह अपना मुँह दूसरी ओर फेर लेता है, माँ को देखता है तो मुस्करा कर उस ओर दौड़ता है। उसकी ये सब गतियाँ उसकी संकेत-भाषा के प्रमाण हैं, क्योंकि इनसे वह अपने भावों का प्रकाशन स्पष्टतः कर पाता है।

संकेत भाषा

बालक के संकेत-भाषा से अध्ययन से बाल-विकास के विद्यार्थी बालकों के

---

1. *Johnson, W.*: "The Influence of Stuttering on the Personality", *Univ. of Iowa Studies in Child welfare*, Vol. 5, No. 5, 1932.

2. Language Development of the Child. 3. Sign or Gesture Language.

बुद्धियुक्त व्यवहार का अनुमान कर सकते हैं और इस अनुमान से बालक की सम्भावनाओं का भी कुछ अनुमान किया जा सकता है।

भाषा-सम्बन्धी प्रतिक्रियाओं का स्वरूप

भाषा-विकास में पाये जाने वाले क्रम

यद्यपि बच्चों के भाषा-विकास में वैयक्तिक वैभिन्य[1] बहुत पाया जाता है; तथापि उनके भाषा-विकास-सम्बन्धी कुछ ऐसे साधारण क्रमों का उल्लेख किया जा सकता है जो प्रायः सभी सामान्यः बच्चों के भाषा-विकास में पाये-जाते हैं। ये क्रम इस प्रकार हैं:—१—शिशु के गिल-बिल, गिलबिल करने की अवस्था ; २—कुछ प्रारम्भिक शब्दों के प्रयोग की अवस्था ; ३—शब्द के अर्थ समझने की शक्ति का विकास ; ४—विचारों को प्रकाशित कर सकने की शक्ति का विकास ; तथा ५—प्रौढ़ भाषा पर अधिकार प्राप्त करने का समय।

शिशु की "गिल-बिल, गिल-बिल" की ध्वनि

नवजात[2] शिशु की जन्म-ध्वनि[3] यान्त्रिक होती है और इसका अभी तक कोई संवेगात्मक या बौद्धिक अर्थ नहीं समझा जा सका है। परन्तु इस जन्म-ध्वनि को बालक की वाणी का प्रथम प्रारम्भ कहा जा सकता है।

संवेदनाओं का प्रकाशन. ध्वनियों द्वारा

प्रथम आठ या नव महीने तक अपनी भूख, प्यास, दर्द, गर्मी तथा सर्दी-सम्बन्धी संवेदनाओं का प्रकाशन वह कुछ ध्वनियों द्वारा किया करता है। कुछ मनोवैज्ञानिकों की धारणा है कि इन विभिन्न संवेदनाओं के प्रति शिशु एक ही प्रकार तथा समान गहनता की ध्वनि नहीं उत्पन्न करता; अर्थात् किसी विशिष्ट संवेदना से सम्बन्धित उसकी ध्वनि एक विशिष्ट प्रकार और गहनता की होती है।

सर्व प्रथम शिशु सभी प्रकार के स्वरों[4] के उच्चारण में समर्थ नहीं होता। अतः प्रारम्भ में यह अनुमान करना कठिन होता है कि उसकी भाषा का विकास किस क्रम में चलेगा।

स्वर के उच्चारण के बाद व्यंजन का उच्चारण

कुछ अन्वेषकों के अनुसार 'अ' और 'उ' का उच्चारण शिशु सबसे पहले कर पाता है। व्यञ्जनों में 'त' और 'द' का उच्चारण वह सबसे पहले करता है। इसके बाद 'क' 'ग' 'स' और 'ज' का नम्बर आता है।

---

1. Individual Differences.

2. *Feuton, J. C.*: A Practical Psychology of Babyhood, p. 5, Houghton Mifflin Co., 1925.

3. Birth-cry. 4. Vowels.

कुछ लोगों का अनुमान है कि 'फ' 'व' 'र' और 'ल' व्यञ्जनों का नम्बर सबसे बाद में आता है, यद्यपि सभी मनोवैज्ञानिक इस धारणा से सहमत नहीं। इन सब विभिन्न ध्वनियों का उच्चारण एक संगठित रूप में कर सकना ३ या ४ साल की अवस्था पर ही आता है। प्रायः यह देखा जाता है कि पाँचवें और छठे वर्ष तक भी कुछ बच्चे 'र' और 'ल' का उच्चारण स्पष्टतः नहीं कर पाते।

शब्द-प्रयोग का काल

ऊपर यह संकेत किया जा चुका है कि शिश कुछ शब्दों का बोलना कैसे सीखता है। प्रायः पन्द्रहवें या अठारहवें महीने के लगभग शिशु कम से कम एक या दो शब्द बोलना सीख लेता है। इस अवस्था में यदि शिशु को विभिन्न वस्तुएँ देते हुए उनके नाम साथ ही बतलाये जाँय और उन्हें उच्चारित करने के लिए उसे अभिप्रेरित किया जाय तो उसका भाषा-विकास बड़ी द्रुत गति से चलेगा। वस्तुओं के उपयोग को समझने के पूर्व उनके नाम को उच्चारित करने में शिशु की रुचि पहले होती है। धीरे-धीरे वह समझने लगता है कि प्रत्येक वस्तु का एक नाम होता है और उसे याद करने का वह प्रयत्न करता है। साथ ही, वह अपने व्यवहार उन वस्तुओं के सम्बन्ध में आयोजित करता है जिनके नाम वह जानता है। अब वह 'एक शब्द का वाक्य' बोलता है और इस 'शब्द' का अर्थ पूर्ण होता है। उदाहरणार्थ; जब वह कहता है "आम"— तो उसका तात्पर्य होता है कि 'मुझे आम दो'; अथवा 'मेरे आम को देखो'।

उपयोग के समझने के पूर्व नाम सीखने की प्रवृत्ति

बालक का शब्द-ज्ञान ज्यों-ज्यों बढ़ता है वातावरण में जटिलतर व्यवस्थापन करने में वह समर्थ होता है। बालक का भाषा-विकास वातावरण में, व्यवस्थापन में कैसे सहायता करता है इसे वारिङ्ग[1] ने निम्नलिखित प्रकार से बतलाया है :—

१—भाषा की सहायता से बालक अपने गत अनुभवों का पुनर्स्मरण कर सकता है।

२—भाषा के सहारे बालक अपने अनुभव की आवृत्ति कर सकता है।

३—बालक का भाषा-ज्ञान जिन अनुभवों से सम्बन्धित होता है उसके समान अनुभवों को करने के लिए वह प्रेरणा दे सकता है।

---

1. *Waring, E. B.*: The Relation Between Early Language Habits and Early Habits of Conduct Control, *Teachers, College Contributions to Education*, No. 260, Columbia Univ., 1927, p. 5.

४—अपने भाषा-ज्ञान को केन्द्र मानकर उसके चारों ओर अपने अनुभवों को बालक सुसंगठित करने का प्रयत्न करता है।

व्यवस्थापन में शब्द-ज्ञान बड़े ही उपयोगी होते हैं। अतः अभिभावकों को उचित है कि बालक के शब्द-ज्ञान के सहारे उसके विभिन्न अनुभवों को बढ़ायें और संगठित करें। जो व्यवहार बालक को सिखाना आवश्यक जान पड़ता है उसे बालक के किसी शब्द-ज्ञान से सम्बन्धित कर देना चाहिए।

शब्द के अर्थ को समझने का काल

जब बालक अपने शब्द को कुछ वस्तुओं से सम्बन्धित कर पाता है तो वे शब्द उसके लिए सार्थक होते हैं; जैसे 'माँ,' 'दा' और 'विल' को क्रमशः वह माता दादा और बिल्ली से सम्बन्धित कर लेता है तो ये शब्द उसके लिए सार्थक हो जाते हैं। धीरे-धीरे "एक-शब्द-वाक्य" से बालक 'दो शब्द वाक्य" बोलने में समर्थ हो जाता है; जैसे 'कुत्ता गया', 'माँ आ', तथा 'आम खा', आदि। डेढ़ या दो वर्ष की अवस्था में इस प्रकार के "दो-शब्द-वाक्य" के प्रयोग में बालक समर्थ हो जाता है।

दो शब्द के वाक्य

उम्र के बढ़ने से बालक अच्छे-अच्छे शब्दों का भी प्रयोग करना सीखने लगता है। धीरे-धीरे वह घटनाओं, वस्तुओं और लोगों के कुछ व्यवहारों का भी अर्थ समझने लगता है। बालक ज्यों-ज्यों विभिन्न वस्तुओं को समझने में अपने विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों का सहारा लेने में समर्थ होता है उसके लिए विभिन्न वस्तुएँ और अधिक सार्थक होने लगती हैं। उदाहरणार्थ, पहले सूँघ अथवा चखकर किसी वस्तु को पहचानना बालक के लिए कठिन होता है। परन्तु जब वह सूँघ अथवा चखकर (अर्थात् घ्राणेन्दिय और जिह्वा के प्रयोग से) किसी वस्तु के सम्बन्ध में बतलाता है तो हम यह कह सकते हैं कि अब वह कुछ वस्तुओं के बारे में अधिक समझने लगा है, और साथ ही वह कुछ शब्दों के अर्थ को भी समझने लगा है। धीरे-धीरे वह कुछ वस्तुओं के उपयोग को भी समझने लगता है। साढ़े तीन वर्ष के लगभग एक सामान्य बालक यह बतला सकता है कि कुर्सी, मेज और चारपाई आदि का उपयोग क्या है। पाँच वर्ष का बालक यह बतला सकता है कि गेंदा, बल्ला, चूल्हा तथा कड़ाही आदि किस काम में लाए जाते हैं। सात वर्ष की अवस्था पर वह लकड़ी और कोयला, और पीतल तथा दूध और पानी समानताओं की ओर संकेत कर सकता है। आठ वर्ष की अवस्था पर बालक नदी और समुद्र, आम और बैंगन आदि की समानताओं और भिन्नताओं दोनों की ओर संकेत कर सकता है। दस या

शब्दों के परस्पर-समानताओं और भिन्नताओं को समझना

ग्यारह वर्ष का बालक 'सम्बन्ध', 'बदला', 'जीत' तथा 'हार' ऐसे शब्दों का सरलता से अर्थ समझते हुए वाक्यों में प्रयोग कर सकता है। अपने विकास के अनुसार बालक धीरे-धीरे विभिन्न शब्दों के परस्पर-समानताओं और भिन्नताओं को समझने लगता है।

भाषा विकास में लिङ्ग और सामाजिक वातावरण का प्रभाव[1]

लड़कियों का शारीरिक विकास जैसे लड़कों की अपेक्षा शीघ्रतर होता है उसी प्रकार उनका भाषा-विकास भी लड़कों से शीघ्रतर होता है। प्रायः यह देखा जाता है, दो-तीन महीने की अवस्था में भी लड़कियाँ अधिक ध्वनियों का उच्चारण करती हैं। डेढ़ और साढ़े चार वर्ष की अवस्था[2] तक लड़कियाँ लड़कों से अधिक स्पष्ट बोलती हैं। लड़कियाँ लड़कों से अधिक लम्बे वाक्यों का प्रयोग कर लेती हैं।

लिङ्ग

अनेक अन्वेषणों से इस बात की पुष्टि हुई है कि अच्छी सामाजिक और आर्थिक स्थिति से बालक का भाषा-विकास बड़ी द्रुत गति से चलता है। इसका कारण यह है कि अच्छी सामाजिक और आर्थिक स्थित वाले कुटुम्ब में भाषा-विकास के लिए उच्चतर उद्दीपक और प्रेरणायें बहुधा मिला करती हैं।

बालक के शब्द-चयन का विकास[3]

बालक के शब्द-चयन के विकास को समझने के लिए विभिन्न उम्र के बालकों द्वारा प्रयुक्त शब्दों को गिना जाता है, अथवा बालक के जीवन-चरित्र के अध्ययन से उनके शब्द-चयन का अनुमान किया जाता है। कभी-कभी एक निश्चित समय जैसे आधे-घण्टे या १ घण्टे की अवधि के अन्दर बालक कितने शब्दों का प्रयोग कर सकता है इससे भी उसके शब्द-चयन का अनुमान लगाया जाता है। परन्तु इस विधि का प्रयोग दस, ग्यारह या बारह वर्ष के बालकों के लिए ही किया जाता है। बच्चों के शब्द-चयन-विकास पर स्मिथ[4] ने कई अन्वेषण किये हैं। स्मिथ

शैक्षिक अवसर और बौद्धिक प्रौढ़तानुसार

---

1. The place of sex factor and social environment in language development.

2. *McCarthy, D. A.* : The Language Development of the Pre-school Child, Minneapolis, Univ. of Minnesota Press, 1930.

3. The development of vocabulary of the child.

4. *Smith, M. E.* : "An Investigation of the Development of Sentence and the Extent of Vocabulary in young Children, "*Univ. of Iowa studies in Child Welfare*, Vol. 3, No. 5, 1926.

का यह निष्कर्ष है कि एक बार बालक की जब भाषा-क्रियाशीलता प्रारम्भ हो जाती है तो उसकी उन्नति जल्दी-जल्दी होती रहती है। स्मिथ का कहना है कि एक वर्ष की अवस्था में बालक प्रायः ३ शब्द का ज्ञान रखता है, परन्तु तीन वर्ष की उम्र पर उसका शब्द ज्ञान ८९६ शब्दों तक और छः वर्ष उम्र पर २५६२ शब्दों तक पहुँच जाता है। छः वर्ष के बाद घर के वातावरण तथा शैक्षिक अवसरों के अनुसार बालक का शब्द-चयन प्रतिवर्ष बढ़ता रहता है और हाई स्कूल पास करने के समय एक सामान्य बालक का शब्द-चयन प्रायः १५००० शब्दों तक पहुँच जाता है। स्टैनफोर्ड-विने[1] मानसिक माप द्वारा प्रतिपादित प्रतिमानों के अनुसार बच्चों का शब्द-चयन-विस्तार बौद्धिक प्रौढ़ता के विकास के साथ इस क्रम में बढ़ता है;—आठ वर्ष पर ३६०० शब्द; दस वर्ष पर ५४०० शब्द; बारह वर्ष पर ७२०० शब्द; चौदह वर्ष पर ९००० शब्द; सोलह वर्ष पर (सामान्य व्यक्ति) ११७०० शब्द और अठारह वर्ष पर (प्रतिभाशाली व्यक्ति) १३५००[2] शब्द। प्रेसकाट[3] ने अपने अध्ययन में देखा कि बच्चे जितने शब्दों को जानते हैं उन सबका प्रयोग वे नहीं कर पाते।

शब्द चयन के विकास पर प्रभाव डालने वाली बातें

अन्वेषणों से यह पता चला है कि शब्द-चयन के विकास पर कौटुम्बिक वातावरण का बड़ा प्रभाव पड़ता है। जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है, अच्छे कौटुम्बिक वातावरण वाले बच्चों के शब्द-चयन का विकास अच्छा होता है। निम्नकोटि के कौटुम्बिक वातावरण के बच्चों का शब्द-चयन निम्नकोटि का होता है, क्योंकि उसमें उपयुक्त उद्दीपक तथा प्रेरणाओं का अभाव रहता है।

कौटुम्बिक वातावरण

शब्द-चयन के विकास पर व्यवस्थित शिक्षण का भी प्रभाव पड़ता है। स्ट्रेयर[4] ने अपने अन्वेषण में देखा कि व्यवस्थित बौद्धिक उद्दीपन से बच्चे के शब्द-चयन का

1. According to the norms advocated by the original Stanford Binet mental scale.

2. *Terman, L.M.* : The Measurement of Intelligence, p. 226, Houghton Mifflin Co., Boston, 1916.

3. *Prcscott, D. A.* : "The Vocabulary of Infants of Primary Schools of Geneva". Archives of Psychology, 217, 225-261, 1929.

4. *Strayer, L. C.* : Language and Growth : The Relative Efficacy of Early and Deferred Vocabulary Training, Studied by the Method of Co-Twin Contrd, *Genetic Psychology Monographs*, Vol. 8, No. 3, pp. 209-213. 1930.

बड़ा विकास होता है। स्पष्ट है कि बच्चा जब कुछ शब्दों का उच्चारण करने लगता है तो उपयुक्त शैक्षिक अवसरों के संगठन से उसके शब्द-चयन को बढ़ाया जा सकता है। जिस बच्चे को आत्म-प्रकाशन का अवसर मिलता रहता है उसके भाषा और विचार दोनों का अच्छा विकास होता है। परस्पर वार्तालाप, कहानी कहने और सुनने, शैक्षिक खेल, दूसरे बालकों के अनुभवों को सुनने तथा रचनात्मक सामाजिक क्रियाशीलताओं में भाग लेने से बच्चों के शब्द-चयन का विकास जल्दी होता है। मानसिक प्रौढ़ता के विकास के साथ स्कूल के भाषा-सम्बन्धी आवश्यकताओं को बालक ज्यों-ज्यों पूरा करने का प्रयत्न करता है भाषा पर उसका अधिकार बढ़ता जाता है, और तदनुसार सामाजिक कार्यों में वह और अधिक भाग लेता है।

व्यवस्थित शिक्षण

बच्चों द्वारा प्रयुक्त शब्दों के प्रकार

सर्व प्रथम छोटा बच्चा अपने अधिकांश विचार संज्ञा द्वारा ही प्रकाशित करता है। यदि संज्ञा के अतिरिक्त अन्य शब्दों का प्रयोग करता है तो उन्हें भी वह संज्ञा के रूप में ही प्रयोग करता है। दो वर्ष का बालक इस प्रकार की भाषा का प्रयोग किसी स्थिति के विधि में, प्रश्न पूछने में, प्रार्थना करने अथवा किसी वस्तु या व्यक्ति की ओर संकेत करने में करता है। बच्चे द्वारा प्रयुक्त ५० या ६० प्रतिशत शब्द प्राय: इसी कोटि के होते हैं। यदि वह "कुत्ता" शब्द कहता है तो इसका अर्थ यह हो सकता है कि "कुत्ता आया, कुत्ता जा रहा है अथवा यह वस्तु कुत्ते को दे दो।" इस प्रकार प्रथम दो वर्ष की अवस्था के अन्दर यह कहना कठिन है कि बालक संज्ञा, सर्वनाम क्रिया या विशेषण आदि में किसका अधिक प्रयोग करता है, क्योंकि एक ही शब्द का प्रयोग इन सभी के अर्थ में वह कर सकता है।

सर्व प्रथम संज्ञा का प्रयोग

बच्चे का भाषा-ज्ञान ज्यों-ज्यों बढ़ता है वह संज्ञा के स्थान पर उपयुक्त सर्वनाम का प्रयोग करने में समर्थ हो जाता है; और एक शब्द के वाक्य के स्थान पर वह क्रिया, विशेषण तथा अव्यय आदि प्रकार के शब्दों का भी प्रयोग करता है। अपनी चार वर्षीय पुत्री के दिन भर के भाषा-सम्बन्धी प्रतिक्रिया के अध्ययन में नाइस ने किन प्रकार के शब्दों को कितनी संख्या में पाया उसका उल्लेख नीचे की तालिका में दिया जा रहा है —

संज्ञा के बाद सर्वनाम क्रिया, विशेषण आदि

एक चार वर्ष के बच्चे के दिन भर की बातचीत में प्रयुक्त शब्दों का लेखा[1]

शब्द प्रकार	संख्या	प्रतिशत	पूरे शब्द-चयन में प्रतिशत
संज्ञा	३०२	४१·४	५२·२
क्रिया	१९२	२७·६	२३·२
विशेषण	९०	१२·४	११·२
क्रिया-विशेषण	६९	९·५	७·६
सर्वनाम	३२	४·३	२·९
अव्यय	१८	२·५	१·६
विस्मयादि बोधक अव्यय	१४	१·९	०·४
सम्बन्ध बोधक अव्यय	३	०·४	०·९
योग	७२०	१००	१००

उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि छोटे बच्चों के शब्द-चयन में पहले संज्ञा का प्राधान्य रहता है, और उनकी मानसिक प्रौढ़ता के आने के साथ-साथ शब्द-चयन में सर्वनाम और क्रिया की भी संख्यायें बढ़ती जाती हैं।

बालक का वाक्य-विकास

शब्द-चयन का कुछ विकास हो जाने पर तथा शब्दों के अर्थ समझ सकने पर बालक जटिलतर वाक्यों का प्रयोग भी कर सकता है। बच्चों के जटिलतर वाक्यों के स्वरूप का अनुमान कर सकना अत्यन्त कठिन है। कुछ लोगों ने उनकी लिखी और बोली हुई भाषा के विश्लेषण से वाक्यों की जटिलता को समझने का प्रयत्न किया है। ला[2] ब्रान्ट ने ९८६ पब्लिक स्कूलों के चौथी से बारहवीं कक्षा के विद्यार्थियों (९ से १६ वर्ष की उम्र के अन्दर) के लिखित कार्यों का अध्ययन किया और उसने देखा कि वाक्य के विविध अंशों की लम्बाई और जटिलता बालकों के साधारण भाषा-प्रौढ़ता की ओर संकेत करती है। ला ब्रान्ट की यह भी धारणा है कि जटिल वाक्यों के प्रयोग करने की शक्ति पर मानसिक उम्र[3] की अपेक्षा शारीरिक उम्र[4] का अधिक प्रभाव पड़ता है।

शब्द-चयन के विकास के बाद जटिलतर वाक्यों का प्रयोग

1. *Nice, M. M.*: "Concerning All-Day Conversation" Pedagogical Seminary, 27, 166-177, 1922.

2. *La Brant, Lou L.*: A Study of certain Language Developments in Children in Grades Four to Twelve Inclusive, *Genetic Psychology Monographs*, Vol. 14, No. 5, pp. 387—491, 1933.

3. Mental Age. 4. Chronological Age.

बच्चों के वाक्य-विकास के अपने अध्ययन में स्मिथ[1] ने देखा कि प्रति वाक्य में दो वर्ष की अवस्था में १·७ शब्द; तीन वर्ष पर ३·३ शब्द; और पाँच वर्ष पर ४·६ शब्द बढ़ जाते हैं। वैयक्तिक वैभिन्य के होते हुए भी यह देखा गया कि प्रत्येक बालक के वाक्य में उम्र के बढ़ने के साथ भाव-प्रकाशन की आवश्यकतानुसार शब्दों की संख्या बढ़ी।

बालक के वाक्य-विकास में नाइस[2] ने निम्नलिखित चार प्रकार की अवस्थाओं का उल्लेख किया है।

१. एक शब्द का काल—यह लगभग दो वर्ष की उम्र पर प्रारम्भ होता है और प्रायः चार से बारह महीने तक चलता है।

२. दो शब्द का काल—यह दूसरे वर्ष के मध्य से प्रारम्भ होता है, लगभग २७ वें महीने तक चलता है। इस काल में संज्ञा-शब्दों का प्रयोग अधिक किया जाता है, और क्रिया, अव्यय तथा सम्बन्धबोधक अव्ययों का अभाव रहता है।

३. तीन या चार शब्दों के वाक्य का काल—यह लगभग अट्ठाइसवें महीने पर प्रारम्भ होता है और प्रायः चौथे वर्ष तक चलता रहता है। इस काल में भी अव्ययों, सर्वनामों तथा सहायक क्रियाओं का प्रायः अभाव रहता है।

४. पूर्ण वाक्य का काल—यह प्रायः चौथे वर्ष पर प्रारम्भ हो जाता है और इसमें लगभग ६ से ८ शब्द पाये जाते हैं। अब सर्वनाम तथा अव्यय आदि शब्दों का प्रयोग सरलता से किया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बालक का वाक्य-विकास क्रमशः होता है और उसकी योग्यता के विकास के साथ-साथ उसके वाक्यों की जटिलता धीरे-धीरे बढ़ती रहती है।

बालक पढ़ना कैसे सीखता है

बहुत से बच्चे स्कूल में सविधिक[3] शिक्षा पाने के पूर्व ही पढ़ना सीख लेते हैं। स्कूल जाने के पूर्व ही अर्थात् ५ या ६ वर्ष के लगभग एक सामान्य बालक का शब्द-चयन प्रायः २००० से २५०० शब्दों के अन्तर्गत रहता है। इस समय वह ५-६ शब्दों

1. *Smith, M. E.*: "An Investigation of the Development of the Sentence and the Extent of Vocabulary in Young Children"—*Univ. of Iowa Studies in Child Welfare*, Vol. 3, No. 5, 1926.

2. *Nice, M. M.*: "Length of Sentences as a Criterion of a Child's Progress in Speech", *Journal of Education Psychology* 116, 370–379, 1925.

3. Formal Education.

के वाक्य भी बोल लेता है। यदि उसका वातावरण काफी अभिप्रेरक रहा तो पुस्तक पढ़ते समय बहुत से शब्द के अर्थ को वह स्वयम् समझ लेता है; क्योंकि उन शब्दों और अपने कुछ गत अनुभवों में एक सम्बन्ध जोड़ने में वह समर्थ होता है।

जैसे गति का विकास सामान्य से विशिष्ट की ओर जाता है, उसी प्रकार पढ़ने में बालक की उन्नति सामान्य से विशिष्ट की ओर होती है। उदाहरणार्थ; बालक पहले शब्द अथवा वाक्य को पढ़ लेने के बाद शब्द अथवा वाक्य की विशिष्ट रचना को समझने में समर्थ हो सकता है। एक और उदाहरण लीजिए;—बालक जब "यह काला कुत्ता है" वाक्य समझ लेता है तब वह इस पूरे वाक्य के संदर्भ में "काला" शब्द का अर्थ समझ पाता है। इसी प्रकार 'का' और 'ला' अक्षरों का उसके लिए कुछ अर्थ नहीं होता, परन्तु इन दोनों अक्षरों को जब वह 'काला' शब्द में देखता है तो वे उसे सार्थक जान पड़ते हैं। इसलिए बालक को पहले सम्पूर्ण पढ़ाना लिखाना चाहिए—उसके बाद सम्पूर्ण के विभिन्न भागों की ओर आना चाहिए। विभिन्न शब्दों के अक्षरों को याद करने से उसे पढ़ना नहीं आयेगा। इससे उसकी पढ़ने में उन्नति अवरोधित हो जाती है।

सामान्य से विशिष्ट की ओर

भाषा-विकास पर प्रभाव डालने वाली बातें

कुछ शारीरिक और मनोवैज्ञानिक बातें बालक के भाषा-विकास को अवरोधित कर देती हैं। इन बातों में से कुछ प्रमुख ये हैं :—१ अपर्याप्त बौद्धिक अनुभव; २—ज्ञानेन्द्रियों के कुछ दोष; ३—निम्न कोटि की सामाजिक और आर्थिक स्थिति के कारण भाषा के लिए अनुपयुक्त वातावरण; ४—संवेगात्मक कुव्यवस्थापन के कारण 'हकलाने' जैसा भाषा-दोष आ जाना, और ५—अन्य व्यक्तियों से बात-चीत करने तथा उनकी भाषा को सुनने का कम अवसर। इन कठिनाइयों को दूर करने का मनोवैज्ञानिक प्रयत्न किये बिना बालक भाषा-सम्बन्धी कौशल न प्राप्त कर सकेगा।

बुद्धि और भाषा का प्रारम्भ

परीक्षणों से बुद्धि और बालक की भाषा-योग्यता में निकट सम्बन्ध पाया गया है। प्रायः यह देखा जाता है कि अच्छी बुद्धि वाले बच्चे मन्द बुद्धि के बालकों की अपेक्षा शीघ्रतर बोलना सीख लेते हैं और उनकी भाषा अपेक्षाकृत अच्छी होती है। मन्द बुद्धि के बालक का भाषा-विकास सामान्य बालकों की अपेक्षा देर से होता है। उत्कृष्ट कोटि का बालक ११ वें महीने में बात करना प्रारम्भ कर देता है। सामान्य

निकट सम्बन्ध

बालक को यह पन्द्रहवें महीने में ही सम्भव होता है। और मन्द बुद्धि का बालक प्राय: ३८ वें महीने में बात करना प्रारम्भ कर सकता है।[1] इन तीन प्रकारों में प्रत्येक प्रकार के बालकों की भाषा-योग्यता में बड़ा वैयक्तिक वैभिन्य पाया जाता है। परन्तु यह याद रखना चाहिए कि जो बालक देर से बोलना सीखते हैं उन्हें मन्द बुद्धि का ही समझ लेना ठीक न होगा।

बहुत सम्भव है कि जो बालक मन्द बुद्धि के जान पड़ते हैं वे उपयुक्त अवसरों के अभाव के कारण ही ऐसे होते हैं। यह देखा गया है कि उपयुक्त अवसर के पाने पर वे बच्चे जिन्हें पहले मन्द बुद्धि का समझा गया था वे शीघ्रता से सन्तोषजनक भाषा-योग्यता प्राप्त कर लेते हैं।

शारीरिक दशा और भाषा-योग्यता

प्राय: बहुत से बच्चों में ज्ञानेन्द्रियों के कुछ दोष पाये जाते हैं, ये दोष प्राय: श्रवण, कण्ठ अथवा जिह्वा-सम्बन्धी होते हैं। जिन बच्चों में श्रवण-दोष होता है उनका भाषा-विकास अवरोधित हो जाता है। बहुत सम्भव है कि शैशव में यह दोष न पहचाना जा सके। जो बच्चे १८ वें अथवा २० वें महीने पर बातचीत करने का प्रयत्न करते न देखे जाँय उनकी डाक्टरी परीक्षा करा लेनी चाहिए।

ज्ञानेन्द्रियों के दोष

दोषयुक्त तालु, कण्ठ, दाँत तथा जवड़ों के कारण सन्तोषजनक भाषा-योग्यता प्राप्त करने में बालक असमर्थ हो सकता है।

घर की दशा और भाषा-विकास

ऊपर हम कई बार संकेत कर चुके हैं कि बालक के घर की दशा का उसके भाषा-विकास पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि बालक का कुटुम्ब उसके लिए उपयुक्त प्रेरणात्मक अवसरों का आयोजन न कर सका तो उसके भाषा-विकास में बड़ी देर लगेगी। मैकार्थी[2] का कहना है कि उच्च धन्धे वाले घरों के बच्चों की वाक्य-रचना निम्न कोटि के धन्धे वाले घरों के बच्चों की वाक्य-रचना की अपेक्षा कहीं सुन्दर होती है।

जिन बच्चों को द्वि-भाषी वातावरण में रहना पड़ता है उनकी भाषा का

1. *Terman*, L. M.: Genetic Studies of Genius, p. 187, Vol. I, Stanford University Press, 1925.

2. *McCarthy*, D. A. op. Cit.

विकास इस वातावरण के कारण अवरोधित नहीं होता। आरसेनियन[1] ने अपने अन्वेषण से इसे सिद्ध किया है।

प्रायः यह सोचा जाता है कि जिन बच्चों को प्रौढ़ व्यक्तियों के साथ रहने का अधिक अवसर मिलता है उनकी भाषा का विकास अच्छा होता है। परन्तु यदि बच्चों को अपनी ही उम्र के अथवा कुछ बड़े बालकों का साथ न मिलेगा तो उनका भाषा-विकास सन्तोषजनक नहीं होगा, क्योंकि यह सामान्यतः देखा जाता है कि अपने साथियों के बीच बच्चे अधिक बातें करते हैं, और अपने भावों का अधिक प्रकाशन करते हैं। अतः अभिभावकों को यह देखना चाहिए कि बच्चों को अपनी उम्र के बालकों के साथ भी रहने और खेलने का अवसर पर्याप्त मिलता रहे।

अपनी उम्र के साथ रहने पर भाषा का अधिक विकास

कुछ भाषा दोष और उनके सुधार[2]

भाषा-विकास सदा एक गति से नहीं चलता। उसमें कभी न कभी कुछ बाधा आ ही जाती है। विभिन्न भाषा दोष का इस प्रकार उल्लेख किया जा सकता है:—(१) बोलने में लय का दोष, (२) ध्वनियों को स्पष्टतः उच्चारित न कर सकना, (३) भाव-प्रकाशन के लिए उपयुक्त शब्दों को न पा सकना, (४) वात-रोग से भाषा-दोष आ जाना, (५) नासिका से बोलना, (६) श्रवण-सम्बन्धी दोष से भाषा-दोष का आना तथा (७) कुछ आन्तरिक अवयवों के कार्य-दोष से भाषा-दोष का आना। इन सभी प्रकार के दोषों पर यहाँ विचार कर सकना हमारे क्षेत्र के बाहर की बात है। हम यहाँ केवल उच्चारण[3] तथा लय[4] या हकलाने[5] सम्बन्धी दोषों पर ही संक्षेप में विचार करेंगे।

उच्चारण-सम्बन्धी दोष

जब माता-पिता पूर्ण उच्चारण का कोई आदर्श बच्चे के सामने नहीं रख पाते तो प्रारम्भ में बच्चों में कुछ उच्चारण-सम्बन्धी दोष पाये जाते हैं। श्रवण, स्मृति तथा मानसिक योग्यता की कमी से भी बच्चे में उच्चारण-सम्बन्धी कुछ दोष आ जाते हैं। तालु, मुँह, दाँत तथा वायु-नली आदि के कुछ दोषों से भी कुछ उच्चारण-दोष

दूर करना कठिन नहीं

1. *Arsenian, S.* : "*Bilingnalism and Mental Development*, Teachers College Contribution to Educatian, No. 712, Columbia Univ., 1937.

2. Some Speech Defects and their Remedies. 3. Articulation. 4. Rhythm. 5. Stuttering (एक ही ध्वनि अथवा शब्द की कई बार आवृत्ति करना).

आ सकते हैं। 'ल' और 'र', 'स' और 'छ' आदि के उच्चारण-सम्बन्धी दोष कुछ बड़े होने पर अथवा स्कूल जाने लगने पर स्वतः दूर हो जाते हैं। उच्चारण-सम्बन्धी दोष को दूर करना कठिन नहीं, परन्तु लय-सम्बन्धी दोष को दूर करना बड़ा ही कठिन होता है।

लय-सम्बन्धी दोष—हकलाना

हकलाने[1] का प्रारम्भ प्रायः बचपन से ही होता है। बच्चे में यह दोष दो और चार वर्ष की उम्र तक बहुत पाया जाता है। अतः जान पड़ता है कि इस दोष और बच्चे की आवश्यकताओं की पूर्ति में घनिष्ट सम्बन्ध है। ब्रुक्स[2] के अनुसार ८५ प्रतिशत हकलाने वाले आठवें वर्ष की उम्र के पहले ही इस दोष के अभियुक्त हो जाते हैं। ब्रुक्स की धारणा है कि हकलाने वाले बच्चे स्कूल के पहले साल में पढ़ने-लिखने में भी पीछे होते हैं, क्योंकि कक्षा के मौखिक कार्यों में उन्हें कठिनाई का सामना करना होता है। प्रायः सभी अन्वेषकों का मत है कि लड़कियों की अपेक्षा लड़कों में हकलाना अधिक पाया जाता है। अनुमानतः हकलाने वाले लड़के और लड़कियों में २० और १ का अनुपात होता है।

लड़कों में अधिक

अन्वेषक हकलाने के कारण के विषय में एकमत नहीं हैं। कुछ लोगों की धारणा है कि वाणी-सम्बन्धी अवयवों के दोष से यह दोष आ जाता है। कुछ लोग इसका सम्बन्ध पौष्टिक भोजन के अभाव अथवा मस्तिष्क से जोड़ते हैं। परन्तु अधिकांश अन्वेषक इसे बालक के मनोवैज्ञानिक जीवन से ही सम्बन्धित समझते हैं, अर्थात किसी संवेगात्मक[3] कुव्यवस्थापन से बालक को भग्नाशा की अनुभूति होती है और इससे उसे वाणी द्वारा अपने भाव-प्रकाशन में अड़चन होती है।

कारण के विषय में एकमत नहीं

वस्तुतः हकलाने के दोष का बालक के पूरे व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है। बालक अपने पूरे शरीर से हकलाता है, न कि केवल वाणी-सम्बन्धी अवयवों से। फलतः हकलाने के समय उसका पूरा शरीर ही हिल जाता है और उसमें एक प्रकार का मानसिक तनाव आ जाता है। हकलाने वाले में एक प्रकार की आत्महीनता की भावना आ जाती है। वह कुछ सामाजिक परिस्थितियों और

तह में दुखद अनुभूति के छिपे रहने के कारण

1. Stuttering and Stammering.
2. *Brooks, F. D.*: *Child Psychology*, Houghton Mifflin Co., p. 198, Boston 1937.
3. Emotional maladjustment.

व्यक्तियों से डरने लगता है। कुछ स्थानों पर वह अपने को अरक्षित अनुभव करता है। प्रायः यह देखा जाता है कि अकेले अपने कमरे में हकलाने वाला व्यक्ति बोलता है तो उसकी वाणी दोषमुक्त रहती है। सामाजिक स्थिति में अथवा और किसी अर्थ में अपने से छोटे व्यक्तियों के सामने वह नहीं हकलाता। किसी विशिष्ट प्रकार के व्यक्ति जैसे :—स्त्री वर्ग, अधिकारी वर्ग, शिक्षक तथा घर के बड़े भाई अथवा पिता आदि—के सामने हकलाने वाला व्यक्ति अधिक हकलाता है। विभिन्न हकलाने वालों में वैयक्तिक भेद पाया जाता है। कोई स्त्री-वर्ग के सामने अधिक हकलाता है तो कोई अधिकारी वर्ग या पुरुष वर्ग के सामने। प्रायः यह देखा जाता है कि हकलाने वाला व्यक्ति अपरिचित व्यक्तियों के सामने नहीं हकलाता। इन सब बातों से यह जान पड़ता है कि हकलाने के दोष की तह में व्यक्ति की कोई ऐसी अनुभूति छिपी होती है जिससे उसे कभी बड़ी भारी ठेस लगी रहती है, और उस अनुभूति से सम्बन्धित कोई परिस्थिति आने पर वह स्वभावतः अपनी वाणी-दोष का प्रकाशन कर बैठता है। इससे यह स्पष्ट है कि यदि व्यक्ति के विगत संवेगात्मक जीवन को समझ कर उसके व्यक्तित्व के पुनर्संगठन का प्रयत्न किया जाय तो इस दोष के दूर करने में पर्याप्त सफलता मिल सकती है।

व्यक्तित्व के पुनर्संगठन में भग्नाशा[1] उपस्थित करने वाली परिस्थिति को सदा के लिए दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए और उपस्थित किसी शारीरिक दोष

दूर करने के लिए कुछ उपाय

को भी दूर करना चाहिए; अर्थात् शारीरिक और मनोवैज्ञानिक दोनों दृष्टि से व्यक्ति में उपस्थित तनाव[2] को हटाना चाहिए। श्वास[3]-नियन्त्रण में अभ्यास, शान्त मानसिक स्थिति रखने, चिन्ता और डर को दूर करने, तथा समाज और कुटुम्ब में उपस्थित अरुचिकर स्थिति को हटाने से बालक के हकलाने के दोष को बहुत हद तक दूर किया जा सकता है। हकलाने वाला बालक समस्या-बालक होता है। अतः प्रत्येक ऐसे बालक का अलग-अलग अध्ययन करना चाहिए। प्रौढ़ व्यक्तियों के हकलाने के दोष को दूर करने के लिए स्वतन्त्र साहचर्य[4], मौखिक निर्देशन[5], मान्यताओं[6] और उद्देश्यों के पुर्ननिमाण और संवेगात्मक परिस्थिति में विवेक से काम लेने की आदत से बड़ी सहायता मिल सकती है।

किसी हाथ की आदत को बदलना और हकलाना

कुछ लोगों की धारणा है कि यदि कोई बालक बायें हाथ से अपने अधिकांश

1. Frustration. 2. Tension.

3. *Nagge, J. W.*: *Psychology of the Child*, p. 309, The Ronald Press Co., New York, 1942.

4. Free Association. 5. Oral Suggestion. 6. Values.

कार्य करने की प्रवृत्ति रखता है और उसे दाहिने हाथ से अपने कार्य करने के लिए अभिप्रेरित किया जाय तो उसमें हकलाने का दोष आ सकता है। इस धारणा की पुष्टि के लिए अभी पर्याप्त प्रमाण नहीं मिल सके हैं और यह जान पड़ता है कि हाथ की आदत को बदलने से वाणी-दोष का आ जाना आवश्यक नहीं; यद्यपि कुछ अध्ययनों[1] से यह पता चला है कि उन बालकों में जिन्हें अपने हाथ की आदत को बदलने के लिए अभिप्रेरित किया गया बहुत से हकलाने वाले हुये, और साथ ही, बहुत बालको में यह दोष नहीं भी आया। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि बच्चों की हाथ की आदत को इस प्रकार बदला जा सकता है कि उनमें कोई वाणी दोष न आये। वस्तुतः जब बालक किसी कारण से आत्महीनता की भावना का अनुभव करने लगता है तभी उसमें किसी प्रकार का वाणी-दोष आ जाता है।

हाथ की आदत बदलने से यह दोष नहीं

चिन्तन और तर्क का विकास[2]

क्या भाषा और विचार[3] प्रतिक्रियायें एक दूसरे के समान हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में एक मत नहीं मिलता। परन्तु जब हम देखते हैं कि कुछ प्रौढ़ व्यक्ति और बच्चे जोर से बातचीत करते हुए सोचते जाते हैं और विचारों का प्रकाशन शब्दों के सहारे ही किया जा सकता है तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विचार एक प्रकार की उपवाणी ही है। कुछ लोगों का कहना है कि विचार को उपवाणी नहीं माना जा सकता, क्योंकि विचार-प्रक्रिया में यह देखा जाता है कि जिह्वा तथा वाणी के अवयव क्रियाशील नहीं भी रहते। कोहलर[4] ने अपने अन्वेषणों में देखा कि वे कुछ विशिष्ट कोटि के बन्दर अपनी कुछ गतियों से यह स्पष्टतः प्रगट करते हैं कि वे चिन्तन-प्रक्रिया में हैं, परन्तु वे मानव के अर्थ में एक भी शब्द का प्रयोग नहीं करते। अतः यह भी कहा जा सकता है कि चिन्तन-प्रक्रिया में भाषा-प्रक्रिया का होना आवश्यक नहीं। भाषा से विचार को सारगर्भित और विस्तृत बनाया जा सकता है, परन्तु उसे विचार का पर्यायवाची नहीं समझना चाहिये।

भाषा विचार का पर्यायवाची नहीं

अपने विकास के क्रम में बालक यह कई बार अनुभव करता है कि उसे अपने

1. *Orton, S. T. & Travis, L. E.*: Studies in Stuttering, IV, *Archives of Neurology & Psychiatry* 21, 61-68, 1929.

2. Development of Thinking and Reasoning. 3. Thought.

4. *Kohler, W.*: The Mentality of Apes, Harcourt, Brace & Co., New York, 1927.

विचारों के प्रकाशन पर अवश्य रोक लगानी चाहिए, अन्यथा बड़े लोग उससे कभी-कभी चिढ़ जाते हैं, क्योंकि उन्हें उसकी बातें कभी-कभी असंगत और अतार्किक लगती हैं। ऐसी स्थिति के आने से अपने वाणी-क्रियाशीलता को छोड़ वह चिन्तन-प्रक्रिया की ओर झुकता है। कहना न होगा कि अन्य अवसरों पर स्वतन्त्र रूप से भी वह अवसरानुसार अपनी चिन्तन और तर्क प्रक्रियाओं को चलाता है।

चिन्तन की ओर झुकना

चिन्तन और तर्क-प्रक्रिया कोई जन्मजात प्रवृत्ति नहीं है। वस्तुतः यह तो अनुभव से जागृत होती है। संवेदनाओं[1] और प्रत्यक्षीकरण[2] की पृष्ठिभूमि पर ही व्यक्ति किसी निष्कर्ष पर पहुँचता है अथवा किसी समस्या के सुलझाव के पाने में समर्थ होता है। तर्क कर सकने के लिए एक विस्तृत अनुभव की आवश्यकता होती है, और कुछ उच्चतर तर्क के लिए भाषा पर नियन्त्रण की भी आवश्यकता होती है। अतः कुछ लेखकों की धारणा है कि सात वर्ष के पूर्व बालक तर्क करने की योग्यता नहीं रखता; कुछ तो बारह वर्ष की भी बात करते हैं।

तर्क के लिए भाषा पर नियन्त्रण आवश्यक

यदि तर्क का अर्थ हम उपस्थित प्रतिक्रियाओं में से उपयुक्त प्रतिक्रिया के चुनाव कर लेने से समझें, अथवा उससे समस्या के सुलझाव पाने की प्रक्रिया या तार्किक चिन्तन समझें तो यह कहा जा सकता है कि तर्क करने की योग्यता किसी विशिष्ट उम्र पर अकस्मात् नहीं आ जाती। वस्तुतः तर्क-शक्ति का विकास शैशव से ही प्रारम्भ हो जाता है। हमें यह न समझना चाहिए कि तर्क-शक्ति कुछ लोग जन्म से ही लाते हैं। तर्क-शक्ति विकास का फल है। हाँ, यह सत्य है कि प्रतिभाशाली व्यक्ति में यह उत्कृष्ट कोटि की होती है और सामान्य व्यक्ति और मन्द बुद्धि में उससे निम्नतर। अनुभव से, निर्णय करने के लिए उपयुक्त अवसर देने से, तथा अपनी समस्याओं को स्वयं सुलझाने के लिए प्रेरणा देने से किसी भी व्यक्ति की तर्क-शक्ति को सन्तोषजनक सीमा पर पहुँचाया जा सकता है। कहना न होगा कि उपयुक्त अवसर तथा शिक्षण के अभाव में व्यक्ति की स्वाभाविक शक्ति का विकास न हो सकेगा।

तर्क-शक्ति विकास का फल

तर्क क्या है?

जिस चिन्तन-प्रक्रिया में हम कारण[3] और कार्य[4] का विश्लेषण करते हैं उसे

1. Sensations. 2. Perception. 3. Cause. 4. Effect.

सामान्यतः तर्क-प्रक्रिया कहा जा सकता है। इस विश्लेषण में जब व्यक्ति गलती करता है तो तर्क-प्रक्रिया दूषित हो जाती है। तब उसे सच्ची तर्क-प्रक्रिया नहीं कहा जा सकता। उदाहरणार्थ; कोई व्यक्ति जब गरीबों की बस्ती में बहुत से निर्बल-बुद्धि व्यक्तियों को पाकर यह निष्कर्ष निकाल लेता है कि गरीबों की बस्ती बुद्धि-निर्बलता पैदा करती है तो वह गलत तर्क करता है। इस प्रकार जब चार वर्ष का बच्चा हवा के चलने के साथ पेड़ को भी हिलते देखकर यह निष्कर्ष निकाल लेता है कि पेड़ के हिलने से हवा चलती है तो वह अपने गलत तर्क का प्रमाण देता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कारण और कार्य का सही विश्लेषण कर सकना सिखलाना स्कूल के प्रधान कर्त्तव्यों में से है। अभिभावक तथा शिक्षकों को ऐसी परिस्थितियों का आयोजन करना है कि बच्चे कारण और कार्य का ठीक-ठीक विश्लेषण कर सकें।

कारण और कार्य का ठीक-ठीक विश्लेषण कर सकना

किसी सामान्य[1] निष्कर्ष को निकाल सकना तर्क का ही एक महत्त्वपूर्ण अंग होता है। जब 'एक' के आधार पर 'पूरी जाति' का अनुमान लगा लिया जाता है तो हम सामान्य निष्कर्ष के सम्बन्ध में अपने गलत तर्क का प्रमाण देते हैं। उदाहरणार्थ; यदि किसी जाति के किसी एक व्यक्ति के बुरे व्यवहार को देखकर पूरी जाति को बुरा मान लिया जाय तो यह एकदम गलत तर्क होगा। अभिभावकों और शिक्षकों को यह देखना है कि शीघ्रता में इस प्रकार के गलत तर्क के आधार पर बच्चे गलत निष्कर्ष न निकाल लें।

सामान्य निष्कर्ष को निकाल सकना तर्क का अंग

समस्या के सुलझाव-सम्बन्धी प्रक्रिया को साधारणतः चिन्तन कहा जाता है, परन्तु इसे प्रायः तर्क-प्रक्रिया भी मान लिया जाता है। जब हम किसी विगत अनुभव के आधार पर किसी समस्या को सुलझाने का प्रयत्न करते हैं तो हम चिन्तन करते हैं। इस प्रकार के चिन्तन के क्षेत्र में बच्चे तर्क करते हुए पाये जा सकते हैं। बच्चे अपनी समस्याओं के सुलझाव में शब्दों का प्रयोग करते हुये नहीं देखे जाते, इसलिए कुछ लोग समझते हैं कि उनके पास तर्क-शक्ति नहीं होती। परन्तु जैसा ऊपर कहा गया है यह धारणा गलत है। वस्तुतः बच्चों में तर्क का स्वरूप वही होता है जो प्रौढ़ों में होता है। उनमें केवल मात्रा का भेद होता है, परन्तु प्रकार का नहीं।

बच्चों और प्रौढ़ों के तर्क में मात्रा का भेद प्रकार का नहीं

---

1. Generalization.

अतः बच्चों को कारण और कार्य के सम्बन्ध की ओर संकेत करते हुए हमें पढ़ाना चाहिए, तभी आवश्यक विचार उनके मन में घर कर सकेंगे, तभी वे अपनी समस्याओं का सुलझाव स्वयं खोजने के प्रयत्न में अपने दृढ़ व्यक्तित्व का निर्माण कर सकते हैं।

तर्क-शक्ति के सम्बन्ध में यह याद रखना है कि यह व्यक्ति में बहुत दिन तक विकसित होती रहती है। कम से कम इसका विकास बीसवें वर्ष तक तो जाता ही है। उम्र के बढ़ने पर अनुभव की परिधि बढ़ती है। अतः ३५ वर्ष की अवस्था में व्यक्ति अपने अनुभव के आधार पर जैसा तर्क कर पाता है वैसा उसके लिए बीस वर्ष की अवस्था पर सम्भव नहीं होता।

१५

समझ का विकास[1]

जब बालक अपनी अनुभूतियों का प्रकाशन शब्दों द्वारा करने लगता है और जब वह वस्तुओं को उनके नाम से पुकारने में समर्थ होने लगता है तो यह कहा जा सकता है कि उसमें समझ का विकास हो रहा है। विचारों[2], मनोवृत्तियों[3], कार्यों और कुछ सामाजिक मान्यताओं[4] का अर्थ समझने लगने का अर्थ समझ के विकास से है। विकसित होते हुए छोटे बच्चे में सभी अनुभवों के सारांश को निकालने की शक्ति का विकास शीघ्र ही नहीं हो जाता। प्रारम्भ में उत्तेजक परिस्थितियों के प्रति एक विशिष्ट रूप में अपनी भाषा के द्वारा वह प्रतिक्रिया दिखला सकता है।

उपयुक्त शैक्षिक अवसर और अनुभव आवश्यक

गत अध्याय में हम कह चुके हैं कि विकसित होते हुए बच्चे शब्दों का अर्थ उन्हें वस्तुओं अथवा अनुभवों से सम्बन्धित करने पर समझते हैं। पहले, बच्चे के लिए "माँ" शब्द का अर्थ केवल एक प्रकार की ध्वनि के अतिरिक्त कुछ नहीं होता। परन्तु जब 'माँ' शब्द के सुनने से बच्चे के व्यवहार पर प्रभाव पड़ता है, अर्थात् जब वह इधर-उधर माँ को देखने के लिए दृष्टि फेंकने लगता है अथवा यह जान कर कि माँ आ रही है रोना बन्द कर देता है; उसे अपने कुछ गत अनुभवों, जैसे दूध पीने, सोने, कहानी अथवा दण्ड आदि की याद आ जाती है—तो इन सबका अर्थ यह है कि उसमें अब समझ का विकास हो रहा है। समझ का प्रकाशन भाषा द्वारा किया जाता है। परन्तु इसका समुचित विकास बिना उपयुक्त शैक्षिक अवसर और अनुभव के न हो सकेगा।

दूसरे के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न

एक ही वस्तु अथवा अनुभव का विभिन्न बच्चों के लिए भिन्न-भिन्न अर्थ हो सकता है। एक कुत्ता एक बच्चे के लिए खेल का साथी हो सकता है, परन्तु दूसरे के लिए वह भयप्रद हो सकता है। अतः यह कहना गलत होगा कि किसी उत्तेजना से बालक समान अर्थ या अनुभव प्राप्त करेगा। बच्चों को यह सिखलाना चाहिए कि परिस्थितियों

1. Development of Understanding. 2. Ideas. 3. Attitudes. 4. Social Values.

की केवल अपनी व्याख्या पर उन्हें निर्भर नहीं रहना चाहिए; वरन् उनमें दूसरों की बातों और निष्कर्षों को भी सुनने की सहनशीलता होनी चाहिए। यदि व्यक्ति केवल अपनी व्याख्याओं पर निर्भर रहे और दूसरे के दृष्टिकोण पर ध्यान न दे तो एक दूसरे के साथ रहना अत्यन्त कठिन हो जायगा।

बच्चों के प्रत्यय[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बच्चों के प्रत्यय उनके अनुभव पर निर्भर करते हैं। विगत अनुभवों का ज्यों-ज्यों वह नया अर्थ लगायेगा त्यों-त्यों उसके अनुभव उसके लिए अधिक सार्थक होते जायँगे। उदाहरणार्थ; अमरूद का वास्तविक प्रत्यय बालक को तब होता है जब वह इससे सम्बन्धित अपने पुराने अर्थ में नये अर्थ को जोड़ लेता है। जब बच्चा सीख लेता है कि अमरूद का एक विशिष्ट रंग होता है, एक विशिष्ट प्रकार के पेड़ को अमरूद कहते हैं, इसकी पत्तियाँ एक विशिष्ट प्रकार की होती हैं—तब यह कहा जा सकता है कि उसे 'अमरूद' का प्रत्यय हो गया।

अनुभव पर निर्भर

बच्चों के प्रत्यय को समझने में प्रौढ़ों को कठिनाई

तीन कारणों से बच्चों के प्रत्ययों का अध्ययन करना कठिन हो जाता है :—

(१) बच्चों के कुछ प्रत्ययों का तात्पर्य प्रौढ़ों के प्रत्ययों की अपेक्षा इतना भिन्न हो सकता है कि प्रौढ़ लोग उस पर कुछ ध्यान ही नहीं देते। उदाहरणार्थ; एक दो वर्ष के बच्चे के लिये 'गाय' का अर्थ उन सभी जानवरों से हो सकता है जो उसके समान बड़े होते हैं, जिनकी चार टाँगें होती हैं, अथवा जिनका मुँह लम्बा होता है। स्पष्ट है कि बच्चा गाय प्रत्यय के अन्तर्गत भैंस, गधे, घोड़े तथा बैल आदि सभी को ले सकता है। प्रौढ़ के लिए गाय का एक विशिष्ट प्रत्यय होता है। गाय से उसका तात्पर्य गाय ही होता है। फलतः प्रौढ़ लोग प्रायः यह नहीं समझ पाते हैं कि बच्चों के प्रत्यय उनके लिए अधिक सारगर्भित और सामान्य होते हैं।

(२) बच्चों के बहुत से प्रत्यय अपरिपक्व स्थिति में रहते हैं, कुछ अधिक परिपक्व रहते हैं और कुछ बहुत कम। अतः वे अपने बहुत प्रत्ययों का प्रकाशन इस प्रकार नहीं कर सकते कि प्रौढ़ लोग उसे ठीक-ठीक समझ सकें।

(३) बच्चों का शब्द-चयन बड़ा ही सीमित होता है। अतः वे अपने बहुत से प्रत्ययों को भाषा का रूप नहीं दे सकते—वे उनके मन में ही रहते हैं। फलतः उनके स्वरूप को समझना प्रौढ़ों के लिए असम्भव हो जाता है।

---

1. Children's Concepts (विभिन्न विषयों के सम्बन्ध में बच्चों की धारणायें या विचार).

शिशुओं के निरीक्षण से यह ज्ञात पड़ता है कि कुछ प्रारम्भिक वर्षों में उनके प्रत्यय बड़ी शीघ्रता से विकसित होते हैं। वातावरण में परिचित व्यक्तियों और वस्तुओं को देखने से बच्चे को आनन्द मिलता है, और अपरिचित व्यक्तियों और वस्तुओं से वह डरता है। दूध, खिलौने तथा वस्त्र आदि को देखने से शिशु जैसी प्रतिक्रियायें दिखलाते हैं उनसे यह स्पष्ट होता है कि वह दूध, खिलौने और वस्त्र का तात्पर्य समझता है। यदि शब्दों द्वारा अपनी प्रतिक्रियाओं को वह स्पष्ट नहीं कर सकता तब भी उसकी मुद्रा अथवा शरीर की विशिष्ट गतियों से यह स्पष्ट होता है कि उसमें समझ का विकास हो रहा है। उदाहरणार्थ; दूध को देखकर पीने के लिए लालायित होना अथवा न पीने के लिए मुँह मोड़ लेना, खिलौने को देख उसकी ओर झुकना, वस्त्र पहनाये जाने के डर से रोने लगना आदि प्रतिक्रियायें ऐसी हैं कि इनसे यह स्पष्ट होता है कि बालक में समझ का विकास हो रहा है।

प्रारम्भिक वर्षों में प्रत्यय का विकास शीघ्रता से

सामान्य और विशिष्ट प्रत्यय[1]

विभिन्न वस्तुओं के अर्थ को समझने के क्रम में बालक सर्वप्रथम पूरी परिस्थिति के सम्बन्ध में कोई प्रतिक्रिया दिखलाने में समर्थ होता है। परिस्थिति के किसी विशिष्ट अंग के प्रति प्रतिक्रिया दिखलाने की सामर्थ्य उसमें बाद में आती है। वह सम्पूर्ण वस्तु को पहले देखता है। उस वस्तु के विभिन्न अंगों की ओर उसका ध्यान बाद में जाता है। इसका फल यह होता है कि उन वस्तुओं और परिस्थियों के प्रति जिनमें कुछ समानतायें होती हैं वह समान प्रतिक्रियायें दिखलाता है, क्योंकि उनमें उसे कोई भेद नहीं दिखलाई पड़ता। इस प्रकार प्रारम्भ में उसके प्रत्यय सामान्य कोटि के होते हैं। अनुभव के बढ़ने से वस्तुओं और परिस्थितियों के विशिष्ट अंगों को वह समझने लगता है। विशिष्ट अंगों के समझने के क्रम में बालक वस्तु के बनावट और कार्य पर विशेष ध्यान देता है।

प्रारम्भ में प्रत्यय सामान्य कोटि के

कुछ प्रौढ़ता प्राप्त कर लेने पर बालक के प्रत्यय विशिष्ट प्रकार के होने लगते हैं। उदाहरणार्थ; अब बालक सभी चार पैर वाले जानवरों को गाय नहीं कहेगा, वह केवल गाय को ही गाय कहेगा; क्योंकि गाय की बनावट और उसके कार्य को उसने अच्छी प्रकार समझ लिया है।

---

1. General and Particular Concepts.

बालकों में प्रत्यय-विकास को समझने के लिए उन्हें कुछ चित्र खींचने के लिए अभिप्रेरित किया जाता है। हरलॉक[1] और थॉमसन् ने ४½ से ८½ वर्ष के बालकों से आठ साधारण वस्तुओं के चित्र खींचने के लिए कहा; जैसे, आदमी, घर, लड़की, कुत्ता, पेड़, मोटरकार, फूल और नाव। बच्चों से अपनी इच्छानुसार ये चित्र खींचने के लिए कहे गये, जिससे यह ठीक-ठीक समझा जा सके कि उनके लिए इन वस्तुओं का तात्पर्य क्या है। उनके सम्बन्ध में कुछ मनोरंजक बातें ज्ञात हुयीं। उनके चित्र के देखने से यह पाया गया कि उम्र के बढ़ने के साथ बच्चे वस्तुओं के विशिष्ट अंगों तथा विभिन्न बातों की ओर ध्यान देने में समर्थ होते हैं। तब उनके प्रत्यक्षीकरण में अधिक शुद्धता मिलती है। इस प्रकार बच्चों के प्रत्यय का विकास सामान्य से विशिष्ट की ओर चलता है।

उम्र के बढ़ने से प्रत्यय-विकास

बच्चे अर्थ कैसे समझते हैं[2]

बच्चों के अनुभव सीमित होते हैं। अतः प्रौढ़ों की तरह किसी वस्तु अथवा परिस्थिति के पूरे अर्थ को समझना उनके लिए बड़ा ही कठिन होता है। बच्चे किसी वस्तु अथवा परिस्थिति के गूढ़ अर्थ को समझने में पहले समर्थ नहीं होते। परिस्थितियाँ उन्हें जैसी दृष्टिगोचर होती हैं उन्हें वह वैसे ही पहले समझ लेता है। उनके आन्तरिक रहस्य को समझने की सामर्थ्य उसमें बहुत ही कम होती है।

पहले पूरे अर्थ को समझना कठिन

स्कूल में जाने के पूर्व चित्रों के प्रति बच्चों की प्रत्यक्षीकरण-सम्बन्धी प्रतिक्रियायें क्या होती हैं इसका अध्ययन अमेन[3] ने किया। अमेन ने देखा कि सर्व प्रथम बच्चे चित्रों का अध्ययन स्थैतिक[4] रूप में करते हैं, इसके बाद वे उनका अध्ययन गत्यात्मक[5] रूप में करते हैं। कुछ प्रौढ़ता प्राप्त कर लेने पर ही बच्चे चित्रों से विचार और भावनायें खींच सकते हैं। पहले बच्चे चित्रों की व्याख्या

चित्रों की व्याख्या पहले न कर सकना

1. *Hurclock, E. B.* and *Thomson, J. L.* : Children's Drawings : An Experimental Study of Perceptions, *Child Development*, 5, 127-138

2. Perception.

3. *Amen, F. W.* : Individual differences in apperceptive reaction; a study of the response of pre-shcool Children to pictures, *Genetic Psychology Monogram*, 23, 319-385, 1941.

4. Static way. 5. Dynamic Way.

देने में समर्थ नहीं होते। इसकी सामर्थ्य उनमें कुछ प्रौढ़ता प्राप्त कर लेने पर ही आती है।

किसी वस्तु अथवा परिस्थिति को पूर्ण रूप से देखने से बच्चे उसे अच्छी तरह समझ सकते हैं, केवल उसके किसी अंश को विश्लेष्णात्मक रूप में देखने से उन्हें ठीक से समझना उनके लिए कठिन होता है।

कुछ जर्मन मनोवैज्ञानिकों की अन्वेषणों के आधार पर यह धारणा है कि लड़के लड़कियों की अपेक्षा किसी परिस्थिति अथवा वस्तु में निहित अर्थ को समझने में अधिक शीघ्र सफल होते हैं। रोर्शाच विधि के अनुसार रोज और स्ट्रेंविग्रन ने बच्चों के प्रत्यक्षीकरण-सम्बन्धी योग्यता में पाँच से ग्यारह वर्ष की उम्र के अन्तर्गत लिङ्ग-भेद का अध्ययन किया। उन्होंने देखा कि ५ से ७ वर्ष की उम्र में लड़कियाँ लड़कों से अधिक प्रवीण होती हैं। लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा छोटी-छोटी बातों का अधिक सतर्कता से निरीक्षण कर पाती है। रंग और स्वरूप के अध्ययन में लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा अधिक प्रवीणता दिखलाती हैं। सात से नव वर्ष की उम्र वाली लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा अपनी व्याख्याओं में अधिक विश्लेषणात्मक थीं। इसके विपरीत लड़कों की व्याख्याओं में कल्पना का तत्व अधिक पाया गया।

अर्थ समझने में लिङ्ग-भेद

बच्चों के अनुभव बड़े ही सीमित होते हैं। अतः वे जड़ और चेतन में भेद को अच्छी तरह नहीं समझ पाते। वे सभी चेतन में एक ही प्रकार के जीव और गतिशीलता का अनुमान करते हैं। बच्चे कभी-कभी जड़ पदार्थ में भी चेतना का अनुमान कर बैठते हैं। फलतः बच्चों के प्रत्यय प्रायः दोषयुक्त होते हैं। पियगेट[1] के अनुसार ४ से ६ वर्ष की अवस्था में जिस किसी वस्तु में बच्चे किसी प्रकार की क्रियाशीलता देखते हैं उसे वे चेतन मान लेते हैं। सात वर्ष की अवस्था के लगभग बच्चे केवल उसी पदार्थ में चेतना को अनुमान करते हैं जिसमें वे गति देखते हैं। उदाहरणार्थ; सात वर्ष की अवस्था के लगभग बच्चे सूर्य और साइकिल में जान का अनुमान करते हैं, क्योंकि इन्हें वे चलते हुए देखते हैं। कुर्सी और मेज को वे निर्जीव समझते हैं, क्योंकि उन्हें चलते हुए वे नहीं देखते। आठ-दस वर्ष की अवस्था में बच्चे यह समझने लगते हैं कि कोई वस्तु स्वयं गतिशील है अथवा किसी वाह्य उपाय द्वारा उसमें गति लाई गई है। इस अवस्था में सूर्य अथवा हवा को

पहले जड़ और चेतन के भेद को अच्छी तरह न समझ सकना

---

[1] *Piaget, I.*: The Child's Conception of the World, Hartcourt Brace, New York, 1929.

बच्चे चेतन समझते हैं और साइकिल और मोटर को जड़। ग्यारहवें वर्ष के लगभग बच्चे पौधों तथा जीव में अथवा केवल जीव में ही चेतना की उपस्थिति मानते हैं।

बच्चों के प्रश्न और प्रत्ययात्मक विकास

बच्चे किस प्रकार के प्रश्न किसी अवस्था पर पूछते हैं इससे यह पता चलता है कि उनमें विचारों का विकास कैसे होता है। प्रायः तीसरे वर्ष की अवस्था से ही बच्चे अपने निकट की वस्तुओं और घटनाओं के सम्बन्ध में भाँति-भाँति के प्रश्न पूछने लगते हैं। कुछ प्रश्न तो बच्चे अपनी ओर केवल दूसरों के ध्यान को आकर्षित करने के लिये करते हैं; और उनके कुछ प्रश्न सच्ची जिज्ञासा को शांत करने के लिये होते हैं जिससे वे अपने अनुभवों के अर्थ को ठीक-ठीक समझ सकें। जब तक इन प्रश्नों द्वारा उसकी जिज्ञासा शान्त न होगी तब तक वह विभिन्न प्रश्नों को पूछता रहेगा। हरलॉक[1] के अनुसार प्रश्न करने का काल तीसरे वर्ष से प्रारम्भ होकर प्रायः छठे वर्ष तक चलता है।

जिज्ञासा की शान्ति के लिए प्रश्न पूछना

बच्चों के भाषा-विकास के अध्ययन से उनके प्रश्नों के स्वरूप अथवा प्रत्यय का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। रग[2] ने अपने अध्ययन में देखा कि किण्डर-गार्टेन के बच्चों की बातों का दस प्रतिशत प्रश्न थे। फ़िशर[3] ने नर्सरी स्कूल के बच्चों के अपने अध्ययन में देखा कि $१\frac{१}{२}$ से २ वर्ष के लगभग उनकी बातों में दो प्रतिशत प्रश्न थे; परन्तु तीसरे वर्ष की अवस्था पर उनका प्रतिशत १५ हो गया। बच्चों के प्रश्नों का प्रत्ययात्मक रूप एक ६ वर्ष के बच्चे और माँ के बीच हुए निम्नलिचित वार्तालाप[4] से कुछ समझा जा सकता है :—

भाषा विकास से प्रत्यय का अनुमान

पहले अवसर पर

"बच्चा—बच्चा कैसे पैदा होता है ?

माँ—पेट चीर कर निकाल लिया जाता है।

---

1. *Hurlock, E. B.* : Child Development, p. 289, Mcgraw-Hill, NewYork, 1942.

2. *Rugg, H.* and others : "A Study of the Language of Kinder-garten Children," *Journal of Educational Psychology* 20, 1-18, 1929.

3. *Fisher, M. S.* : Language Patterns of Pre-school Children, *Child Development Monographs*, No 15, 1935.

4. चौबे, सरयू प्रसाद, : बालमनोविज्ञान, पृष्ठ १२५, रामनारायण लाल, इलाहाबाद, १६५०।

बच्चा—पेट चीर देने पर फिर उसे ठीक कैसे किया जाता है ?

माँ—उसे सीं दिया जाता है ।

दूसरे अवसर पर

बच्चा—पानी कौन बरसाता है ?

माँ—दैव ।

बच्चा—दैव कहाँ रहता है ?

माँ—आकाश में ।

बच्चा—आकाश में जमीन कहाँ है, वहाँ से वह गिर क्यों नहीं जाता ?

माँ—वह स्वर्ग में बहुत दूर रहता है, वहाँ से वह गिर नहीं सकता ।

तीसरे अवसर पर : नदी को बहते हुए देख कर

बच्चा—नदी का पानी पूरब की ओर क्यों बह रहा है ? इसकी धारा पश्चिम की ओर क्यों नहीं हो जाती ?

माँ—क्योंकि हवा का बहाव पूरब की ही ओर है ।"

उपर्युक्त वार्तालाप में सभी उत्तर गलत दिये गये हैं । तथापि बच्चे के प्रश्न से यह अनुमान किया जा सकता है कि उसमें कठिन बातों को समझने की जिज्ञासा पैदा हो रही है; अर्थात उसके प्रत्यय का विकास गूढ़ तर होता जा रहा है । कहना न होगा कि बच्चों के प्रश्नों के गलत उत्तर देने से उनका प्रत्ययात्मक विकास अवरोधित हो जाता है । अतः यह आवश्यक है कि उनके प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर दिया जाय ।

बच्चों का साधारण ज्ञान

मनोवैज्ञानिकों के लिए अभी तक यह जानना सम्भव नहीं हो सका है कि विभिन्न विकासावस्था पर बच्चों को किन-किन साधारण बातों का ज्ञान रहता है । अतः किसी भी उम्र के लिए अभी तक इस सम्बन्ध में कोई प्रतिमान[1] नहीं निश्चित किया जा सका है । इसका कारण यह भी हो सकता है कि बच्चे विभिन्न वातावरण से आते हैं और उनके अनुभवों में बड़ा अन्तर होता है ।

स्थान का प्रत्यय[2]

दिशा और दूरी का ज्ञान बच्चे अपने आप नहीं सीख पाते । किसी दूरी का अनुमान करने के लिए वह उसकी उस परिचित वस्तु और व्यक्ति से तुलना करते हैं जो उसे बहुधा तय किया करते हैं । स्थान, दिशा और दूरी

दृष्टि और गति- के अनुमान के लिए वे दृष्टि-सम्बन्धी[3] तथा गति-सम्बन्धी[4]

1. Norm. 2. Concept of Space. 3. Visual Sensations. 4. Kinesthetic Sensations.

सम्बन्धी संवेदनाओं का सहारा

संवेदनाओं का सहारा लेते हैं। जब बच्चा रेंगना प्रारम्भ करता है तभी से वह इन संवेदनाओं का अनुभव करने लगता है। जब वह गाड़ी, ट्राइसाइकल तथा गेंद इत्यादि से खेलना प्रारम्भ कर देता है तो दूरी और दिशा का उसका ज्ञान कुछ शुद्धतर होने लगता है। जिस लम्बी दूरी को बालक तय नहीं कर सकता उसके सम्बन्ध में वह अन्धकार ही में रहता है। स्कूल में स्केल, गज, फीट और इंच से दूरी और बाँट से तौल नापने से उसे स्थान और दूरी को समझने में अथवा प्रत्यय पाने में बड़ी सहायता मिलती है।

बच्चों के स्थान-सम्बन्धी प्रत्यय के बारे में कई परीक्षणात्मक अन्वेषण किए गए हैं। चार वर्ष के बच्चों और प्रौढ़ों के तुलनात्मक अध्ययन में अपडेग्रैफ़[1] ने तय किया कि दूरी के दृष्टि-सम्बन्धी प्रत्यय में उनमें विशेष अन्तर नहीं था। जब लगभग एक मीटर की दूरी पर रखी हुयी दो वस्तुओं को ५ सेण्टीमीटर और एक दूसरे से दूर कर दिया गया तो बच्चे को भी इस अन्तर के अनुमान में कठिनाई नहीं हुयी। डनफ़ोर्ड[2] ने यह जानने का प्रयत्न किया कि उम्र के बढ़ने के साथ त्वचा-सम्बन्धी[4] संवेदनाओं की हाथ पर स्थानीयकरण[3] की योग्यता उनमें कहाँ तक बढ़ती है। तीन, पाँच, सात, नव, ग्यारह, तथा पन्द्रह वर्ष के बच्चों की आँख पर पट्टियाँ बाँध दी गईं और हाथ पर उन विन्दुओं के स्थानीयकरण के लिए कहा गया जिन्हें किसी प्रकार (भार, गर्मी, सर्दी अथवा दर्द से) उद्दीपित किया गया था। इसमें देखा गया कि उम्र अथवा अनुभव के बढ़ने से इसकी योग्यता में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। नव वर्ष के बच्चों के उत्तर सबसे अच्छे थे। ग्यारह वर्ष के बच्चों ने नव वर्ष के बच्चों की अपेक्षा बुरा किया।

त्वचा-सम्बन्धी संवेदनाओं के स्थानीयकरण पर उम्र का प्रभाव नहीं

संख्या का प्रत्यय[5]

बच्चे ज्यों ही बातचीत करने की कुछ योग्यता प्राप्त कर लेते हैं वे कुछ

1. *Updegraff*, R. : "The Visual Perception of Distance in Young Children and Adults : A Comaprative Study", *Univ. of Iowa Studies in Child Welfare*, Vol. 4., No. 4, 1930.

2. *Dunford*, R. *E.* : "The Genetic Development of Cutaneous Localization", *Journal of Genetic Psychology*, 37, 499—513, 1930.

3. Cutaneous sensations. 4. Localization. 5. Concept of Number.

संख्याओं को भी गिनने लगते हैं। यह ठीक-ठीक कहना कठिन है कि संख्या के प्रयोग की योग्यता उनमें कब प्रारम्भ होती है, परन्तु दूसरे या तीसरे वर्ष से वे कुछ संख्याओं के नाम अवश्य लेते हैं। किण्डरगार्टेन के साढ़े चार से छः वर्ष की अवस्था के बच्चों के अध्ययन से डगलस[1] को ज्ञात हुआ कि उनमें कुछ संख्याओं के प्रयोग करने की योग्यता है। एक कार्ड पर कुछ बिन्दुओं को बनाकर उनसे उनकी संख्या पूछी गयी। यह देखा गया कि इस उम्र के बालकों का १ और २ का ठीक-ठीक ज्ञान है, ३ का ज्ञान बहुत अच्छा नहीं है, ४ का ज्ञान कामचलाऊ है; और ५ से १० तक की संख्या का उनका ज्ञान बहुत ही अस्पष्ट था। बड़े बच्चे बड़ी संख्याओं का प्रयोग अधिक कुशलता से करते थे और छोटों को इनमें कुछ कठिनाई होती थी। डगलस ने निष्कर्ष निकाला है कि बच्चों का संख्या-प्रत्यय उनकी उम्र तथा शैक्षिक अवसरों के अनुसार बढ़ता है।

उम्र तथा शैक्षिक अवसरों पर निर्भर

टरमन[2] और मेरिल ने अपने अन्वेषण में देखा कि पाँच वर्ष के बच्चे चार संख्याओं तक अच्छी तरह गिन सकते हैं। छः साल का एक सामान्य बच्चा ३, ५, ७ और ९ वस्तुओं को अच्छी तरह गिन सकता है। कोई बच्चा कुछ संख्याओं को एक क्रम में कह जाता है तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह उन्हें समझता है। वर्नर[3] ने संख्या-प्रत्यय के विकास की चार अवस्थाओं का उल्लेख किया है :— (१) वह अवस्था जब कि बालक 'बहुत', 'इतना', 'ढेर सा', इत्यादि का प्रयोग कर सकता है; (२) वह अवस्था जब वह कुछ संख्याओं को एक क्रम में कह सकता है; (३) वह अवस्था जब अँगुलियों के सहारे वह गिन सकता है; और (४) वह अवस्था जब वह संख्याओं का अच्छी तरह से प्रयोग कर सकता है। साधारणतः छोटे बच्चों का सौ से ऊपर की संख्याओं का ज्ञान बड़ा अस्पष्ट होता है। हजार, लाख तथा करोड़ आदि संख्याओं का प्रयोग छोटे बच्चे बहुधा बिना समझे हुये ही करते हैं। जब उसका अंकगणित का ज्ञान काफी अच्छा हो जाता है तभी वह बड़ी-बड़ी संख्याओं को समझने में समर्थ होता है।

अंकगणित के ज्ञान से संख्या प्रत्यय का विकास

1. *Douglass, H. R.*: "The Development of Number Concepts in Children of Pre-school and Kindergarten Ages", *Journal of Experimental Psychology*, 8, 443—470, 1925.

2. *Terman, L. M.* and *Merrill, M. A.*: Measuring Intelligence, Houghton Muifflin Co., Boston, 1937.

3. *Werner, H.*: Comparative Psychology of Mental Development, p. 298.

समय का प्रत्यय[1]

छोटे बच्चे में समय की अवधि को समझने की योग्यता बड़े ही धीरे-धीरे विकसित होती है। यदि वह कुछ काम करता रहता है तो उसके लिए यह कहना बड़ा ही कठिन होता है कि वह कितने समय तक काम करता रहा। जब किसी काम को वह बड़े मन से करता है तो उसे जान पड़ता है कि समय बड़े जल्दी बीत गया और जब बेकार रहता है तो समय जल्दी बीतते नहीं जान पड़ता। स्कूल में पहुँचने में देर करना तथा किसी पूर्व निश्चय के अनुसार किसी स्थान पर ठीक समय से न पहुँच सकना उसके समय की अवधि को समझने की असमर्थता का द्योतक है। सुबह की क्रियाशीलतायें शाम से भिन्न होती हैं, दिन में कुछ और काम किया जाता है और रात को कुछ और ही—इसलिए लगभग २½ या ३ वर्ष का बच्चा सुबह और शाम अथवा दिन और रात के भेद को समझ सकता है। चार वर्ष के बच्चे प्रायः यह बतला सकते हैं कि आज मंगल है या बुधवार, परन्तु महीने या ऋतु का ज्ञान उन्हें एक साल बाद ही आता है। एक वर्ष के समय की अवधि का ज्ञान उन्हें सबसे बाद में होता है। एलकाइन[2] ने १० से १५ वर्ष के बच्चों से ५, १०, १५, तथा ३० सेकेण्ड और १, २, ३ और ५ मिनट की अवधि को पहचानने के लिए कहा। एलकाईन ने देखा कि बच्चों ने पहचानने में बड़ी गलती की। वे छोटी अवधि को बड़ी करके बतालाते थे और बड़ी अवधि को छोटी करके। तीस सेकेण्ड और एक मिनट का उनका अनुमान और अनुमानों की अपेक्षाकृत शुद्धतर था।

धीरे-धीरे विकास

फ्रीडमैन[3] ने किण्डरगार्टेन तथा प्राइमरी स्कूल के बच्चों से उनके समय-प्रत्यय के सम्बन्ध में पूछा और उसने देखा कि एक सामान्य बालक "कुछ देर पहले" का तात्पर्य "बहुत देर पहले" की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह समझता था। ग्यारह या बारह वर्ष के बच्चे इसे प्रायः 'न' के समान समझते हैं। फ्रीडमैन ने देखा कि समय-प्रत्यय का विकास कक्षा की अवस्था से जितना सम्बन्धित था उतना बुद्धि-लब्धि से नहीं; अर्थात् ऊँची बुद्धि-लब्धि के होने से ही किसी का समय-प्रत्यय अच्छा न होगा,—समय के प्रत्यय के लिए ऊँची उम्र अर्थात् पर्याप्त अनुभव की अधिक आवश्यकता होती है।

समय का प्रत्यय अनुभव पर निर्भर

---

1. Concept of Time.
2. *Elkine, D.,* : Journal de Psychologie, 25, 425—429, 1928.
3. *Friedman, K. C.* : "Time Concepts of Elementary School Children", Elementary School Journal, 44, pp. 337-342, 1944.

ओकडेन और स्टर्ट[1] ने अपने अध्ययन में देखा कि चार वर्ष के बच्चे यह नहीं समझ सकते कि दिन या रात में ४ बजने, ८ बजने या १२ बजने का क्या अर्थ होता है। पाँच वर्ष के बच्चों को समय क अवधि का विशेष ज्ञान नहीं हो सकता; परन्तु किसी समय कितना बजा है इसका अनुमान उन्हें थोड़ा-थोड़ा होता है। सातवें वर्ष की उम्र के बाद बच्चे को समय की अवधि का कुछ सन्तोषजनक ज्ञान हो जाता है। आठ या दस वर्ष के बच्चे तारीख तथा वर्ष का नाम प्राय: बतला दिया करते हैं।

व्यक्ति भेद

बच्चे के समय-प्रत्यय के विकास में वैयक्तिक भेद पाया जाता है, परन्तु अमेस[2] ने देखा कि इसका विकास प्रत्येक बच्चे में प्राय: एक क्रम से चलता है। उसने देखा कि विकास का क्रम इस प्रकार का होता है :—वर्तमान काल से सम्बन्धित शब्दों को बच्चा पहले सीखता है; इसके बाद भविष्य; और तब भूतकाल से सम्बन्धित शब्दों को वह सीख पाता है। उदाहरणार्थ; 'आज' शब्द का प्रयोग प्राय: २४ वें महीने में देखा जाता है, 'आने वाले कल' का प्रयोग ३० वें महीने पर और 'बीते हुए कल' का प्रयोग वह प्राय: ३६ वें पर सीखता है।

चौथे वर्ष की अवस्था में बच्चे 'सुबह' या 'दोपहर' का अर्थ समझने लगते हैं। दिन का नाम तथा सप्ताह में दिन के नाम वे पाँचवें वर्ष में समझने लगते हैं। सातवें वर्ष में वे यह समझने लगते हैं कि किसी समय कितना बजा है। इस समय वे महीने और ऋतु के नाम भी बहुधा बतला सकते हैं।

पाँच वर्ष की अवस्था में बच्चे यह बतला सकते हैं कि वे कब सोने जाते हैं। छ: वर्ष की अवस्था में वे बतला सकते हैं कि वे कब भोजन करते हैं और सातवें वर्ष की अवस्था पर वे स्कूल जाने का समय बतला सकते हैं।

तौल का प्रत्यय[3]

अनुभव और बुद्धि पर निर्भर

तौल का प्रत्यय पाना बच्चों के लिए बड़ा ही कठिन होता है, क्योंकि वे नहीं समझ पाते कि एक ही आकार की विभिन्न वस्तुएँ भिन्न-भिन्न तौल की होती हैं। बच्चे आकार से अधिक प्रभावित होते हैं। अत: वे कह सकते हैं कि एक हवा से भरा हुआ बड़ा गेंद लोहे की एक छोटे गोले से तौल में बड़ा है। प्राय: यह देखा जाता है कि बच्चे

1. *Oakden, F. C.*, and *Strut, M.* : The Development of the Knowledge of Time in Children, *British Journal of Psychology*, 12, 309-336, 1922.

2. *Ames, L. B.* : The Development of the Sense of Time in the Young Child, *Journal of Genetic Psychology*, 68, 97-125, 1946.

3. Concept of Weight.

वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में सँभालने में असमर्थ होते हैं, क्योंकि प्रारम्भ में वे उनकी तौल का गलत अनुमान करते हैं। कुछ अनुभव के बाद ही बच्चे यह समझ पाते हैं कि कुछ वस्तुएँ और खिलौने दूसरों से हलके या वजन में अधिक होती हैं। सामान्य बुद्धि के बच्चों को यह समझने में देर नहीं लगती कि वस्तुओं की तौल के अनुमान में उनके आकार तथा उन धातुओं पर ध्यान देना चाहिए जिससे वे बनी हैं।

दो वस्तुओं की तौल की तुलना का अनुमान बहुत गलत नहीं

जब दो वस्तुओं की तौल की तुलना करने को कहा जाता है तो बच्चों का अनुमान बहुत गलत नहीं निकलता—वे एक को भारी और दूसरे को हलका बतलाने में समर्थ होते हैं। परन्तु यह योग्यता प्रायः पाँचवें वर्ष में ही आती है। बाल्डविन[1] और स्ट्रेचर ने अपने अन्वेषण में देखा कि तीन से छः वर्ष के बच्चे ३ और २४ ग्राम की तौल के अन्तर को समझ सकते हैं। कुछ बच्चे ३ और ६ तथा ६ और १२ ग्राम के अन्तर को भी समझते हैं। उन्होंने देखा कि बहुत से बच्चे ३ और ६ ग्राम के अन्तर को समझने में समर्थ होते हैं। बिने बुद्धि-परीक्षा के स्टैनफोर्ड संशोधन में यह देखा गया कि पाँच वर्ष का एक सामान्य बच्चा ३ और १५ ग्राम की तौल के अन्तर को समझता है। प्रायः यह विश्वास[2] किया जाता है कि १२ वें वर्ष के लगभग तौल-प्रत्यय-योग्यता का अधिकतम विकास हो जाता है, और इसके बाद इस योग्यता में बहुत ही कम विकास होता है।

आकार और स्वरूप का प्रत्यय[3]

उम्र और अनुभव के बढ़ने पर

बच्चों को आकार और स्वरूप का ज्ञान जल्दी हो जाता है, क्योंकि सन्दूक, खिलौना, बिस्तर, मेज तथा कुर्सी इत्यादि वस्तुओं के अन्तर को समझने में उन्हें देर नहीं लगती। तीसरे वर्ष की उम्र में बच्चे इन सबके अन्तर को समझने लगते हैं। हिक्स[4] और स्टेवर्ट ने यह समझने का प्रयत्न किया कि २ से ५ वर्ष के बच्चे तीन रक्खे हुए सन्दूकों में से बीच वाले को चुन सकते हैं या नहीं। उन्होंने

1. *Baldwin*; *B. T.* and *Strecher*, *L. I.* : The Psychology of the Pre-school Child, D. Appleton-Century Co., New york, 1924.

2. H*urlock*, *E. B.* : Child Development, 296, Mecgraw-Hill, New York, 1942.

3. Concept of size and form.

4. *Hicks*, *J. A.* and *Stewert*, *F. D.* : The learning of Abstract Concepts of size, *Child Development*, 1, 195-203, 1930.

देखा कि दो वर्ष के बच्चे इसमें सफल नहीं हो पाते थे; परन्तु इससे ऊँची उम्र वाले अभ्यास पाने पर इसमें सफलता प्राप्त करते थे। थ्रूम[1] ने अपने अन्वेषण में २ से ५ वर्ष के बच्चों को दिये हुए ज्यामिति के चित्रों में से सबसे बड़ा, सबसे छोटा तथा मझले आकार के चित्र को चुनने के लिए कहा। उसने देखा कि सबसे बड़े और सबसे छोटे चित्रों को खोजने में उन्हें विशेष कठिनाई नहीं होती थी; परन्तु मझले आकार वाले चित्रों को चुनने में उन्हें बड़ी कठिनाई होती थी और बहुधा इसमें वे असफल भी होते थे। तीन वर्ष के नीचे के बच्चे इसमें और भी असफल होते थे। विभिन्न परीक्षणों से यह स्पष्ट है कि उम्र और अनुभव के बढ़ने के साथ आकार और स्वरूप को समझ सकने की योग्यता बच्चों में बढ़ती रहती है।

लॉङ्ग[2] ने तीन से छः साल के बच्चों पर यह जानने के लिए परीक्षण किया कि गोलाकार और वर्गाकार के भेद को वे समझ सकते हैं या नहीं। लॉङ्ग ने देखा कि प्रायः सभी बच्चे इसमें समर्थ थे।

आत्म का प्रत्यय[3]

दूसरों के विषय में प्रत्यय बनाने के पूर्व बालक सर्वप्रथम अपने बारे में प्रत्यय बनाता है। अर्थात् दूसरों के समझने के पूर्व वह अपने को कुछ समझ लेता है। अपने विषय में जो वह प्रत्यय बनाता है उसी के अनुसार वह दूसरों के समझने का प्रयत्न करता है। दर्पण में देखने तथा अपने हाथ से विभिन्न अंगों को छूने से वह अपने शरीर के विभिन्न अंगों का अर्थ समझता है। उसकी यह क्रिया चौथे से पाँचवें महीने से ही प्रारम्भ हो जाती है।

आत्म के प्रत्यय के आधार पर दूसरों को समझना

बच्चे की अपने में बड़ी रुचि होती है। इसलिये अपने विषय में उसके प्रत्यय का विकास बड़े शीघ्र आरम्भ हो जाता है। टरमन और मेरिल द्वारा निर्मित बुद्धि परीक्षा-प्रश्नावलियों के दो साल के बच्चे को गुड्डे के शरीर के तीन अंग जैसे, बाल, मुँह और कान—को पहचान लेना चाहिए। १९२२ के टरमन संशोधन (बुद्धि-परीक्षा-प्रश्नावलियाँ) के अनुसार तीन वर्ष के बच्चे को यह जानना चाहिए कि वह लड़की है या लड़का, उसे अपना पूरा-पूरा

आत्म के प्रत्यय के विकास का प्रारम्भ शीघ्र

1. *Thrum*, *L. M.*: "The Development of Concepts of Magnitude", *Child Development*, 6, 120-140, 1935.

2. *Long*, *L.*: "Conceptual Relationships in Children: The Concept of Roundness", *Journal of Genetic Psychology*, 57, 289-315, 1940.

3. Concept of Self.

नाम बतलाना चाहिए, और उसे यह भी जानना चाहिए कि उसकी नाक, आँख, मुँह तथा बाल कहाँ हैं। वस्तुतः तीन-चार के बच्चे अपने बारे में इससे अधिक जानते हैं। वे अपने शरीर के विविध अंग, जैसे, हाथ, उँगलियाँ, पैर, बाहु, अँगूठा आदि जानते हैं। वे अपने विभिन्न कपड़ों के नाम भी जानते हैं। टरमन के अनुसार छः साल का बच्चा अपने शरीर के दाहिने और बायें अंगों को पहचानता है और बिना गिने हुये यह बतला सकता है कि उसकी कितनी उँगलियाँ हैं। होरोविज़[1] के अनुसार बच्चे अपने आत्म का स्थानीयकरण[2] वक्षस्थल के ऊपर भाग और पेट की ओर संकेत करके करते हैं।

आलपोर्ट[3] के अनुसार बच्चे में अपने आत्म का प्रत्यय चौथे या पाँचवें साल से विकसित होता है। जेरसिल्ड[4] के अनुसार जब बच्चा स्कूल जाने लगता है तो प्रतियोगिता की भावना में वह मन ही मन अपने गुणों की दूसरों के गुणों से तुलना करता है। जेरसिल्ड के अनुसार कुछ लड़के इस अवस्था में आत्मालोचना कर सकते हैं; और उपहास, असफलता तथा प्रतिष्ठाहानि के प्रति बड़े ही संवेदनशील[5] होते हैं।

प्रारम्भ में आत्म के दो स्वरूप

बच्चे प्रायः अपने आत्म-प्रत्यय के विकास में दो प्रकार के प्रत्ययों का विकास करते हैं। एक प्रकार का प्रत्यय तो वाह्य व्यक्तियों के सम्पर्क के प्रभावस्वरूप विकसित होता है। जब बालक स्कूल जाना प्रारम्भ करता है तो उसके आत्म का दूसरा स्वरूप विकसित होता है—यह स्वरूप उसके विचारों, भावनाओं और संवेगात्मक अनुभवों पर आधारित रहता है। इन दोनों प्रकार के आत्म का वह एकीकरण नहीं कर पाता। अतः वह अपने को बहुधा दो व्यक्तित्व वाला व्यक्ति समझता है। कैशोर में पहुँचने में उसके आत्म के ये दोनों स्वरूप आपस में मिल जाते हैं। तब बच्चे एक समन्वित व्यक्ति की तरह व्यवहार दिखलाने में समर्थ होते हैं।

सामाजिक प्रत्यय[6]

सामाजिक प्रत्यय का तात्पर्य उन बातों के समझने की योग्यता से है जिनसे

---

1. *Horowitz, R. E.*: Spatial localization of the self, *Journal of Social Psychology*, 6, 379-387, 1935.
2. Localization.
3. *Allport, G. W.*: Personality: A Psychological Interpretation, Holt, New York, 1937.
4. *Jersild, A. T.*: Child Psychology, 3rd. Edition, Prentice Hall, New York, 1947.
5. Sensitive. 6. Social Concept.

बालक दूसरे के विचारों और संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं को समझने में समर्थ होता है।

जीवन में सफलता के लिए बड़ी आवश्यक

इस योग्यता के सहारे दूसरों के व्यक्तित्व-सम्बन्धी कुछ बातों को बालक समझने लगता है। जीवन सफलता के लिए इस प्रकार की योग्यता प्राप्त करना बड़ा ही आवश्यक है।

दूसरों के व्यवहार तथा संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं के निरीक्षण से व्यक्ति में सामाजिक प्रत्यय आता है। ध्वनि का प्रत्यय बच्चा बहुत पहले ही कर लेता है।

ध्वनि का प्रत्यय

आवाज़ से ही वह परिचित अथवा अपरिचित व्यक्तियों का अनुमान कर लेता है। क्रोध, युद्ध अथवा प्रेम भरी आवाज़ की पहचान वह एक वर्ष की उम्र में प्राय: करने लगता है।

अन्वेषणों के आधार पर व्यूहलर[1] का कहना है कि तीन महीने की उम्र पर बच्चे को क्रोध अथवा प्रेम भरे शब्दों की पहचान नहीं रहती। वह दोनों को समान

चेहरे के भावों का प्रत्यय

समझता है। पाँच महीने की अवस्था पर वह क्रोध के भाव को समझने लगता है। जब कोई व्यक्ति उससे क्रोध दिखलाता है तो वह रोने की प्रतिक्रिया दिखलाता है। व्यूहलर इन सब में अनुकरण का अभाव अधिक देखता है। उसकी धारणा है कि आठवें महीने पर बच्चा दूसरों के चेहरे के भाव को समझने में असमर्थ होता है।

गेट्स[2] ने अपने एक अन्वेषण में देखा कि तीन वर्ष के प्राय: ५० प्रतिशत बच्चे चित्रों को देख कर हँसना तथा छ: साल पर ५० प्रतिशत बच्चे दर्द, पहचान सकते थे। सात साल पर क्रोध; दस साल पर भय; ग्यारह साल पर विस्मय और घृणा को केवल ४३ प्रतिशत ही बच्चे पहचान सके। गेट्स ने देखा कि अच्छे वातावरण के बच्चों का साधारण वातावरण के बच्चों की अपेक्षा सामाजिक प्रत्यय अच्छा होता है।

सौन्दर्य का प्रत्यय[3]

व्यक्ति के सौन्दर्य की भावना उसके विभिन्न सम्बन्धों पर निर्भर करती है।

---

1. *Buhler, K.* : The Mental Development of the Child, Harcourt, New York, 1930.

2. *Gates, G. S.* : An Experimental Study of the Growth of Social Perception, *Journal of Educational Psychology*, 14, 449-461, 1923.

3. Aesthetic Concept.

सुखद भावना के पाने पर वह सोचता है कि सम्बन्धित व्यक्ति या वस्तुयें सुन्दर हैं और दुखद भावना पाने पर उन्हें अब असुन्दर मानता है। वस्तुतः न कोई वस्तु अपने में सुन्दर है और न असुन्दर। उसे सुन्दर अथवा असुन्दर मानना तो अनुभव करने वाले व्यक्ति के तात्कालिक भाव पर निर्भर करता है। स्पष्ट है कि सौन्दर्य का प्रत्यय व्यक्ति के भावना पर निर्भर करता है। बच्चा जिसे पसन्द करता है उसे वह सुन्दर मानता है, और जिसे वह पसन्द नहीं करता उसे वह असुन्दर कहता है। जिन व्यक्तियों को वह चाहता है उन्हें वह सुन्दर ही समझता है, चाहे वे दूसरों की दृष्टि में असुन्दर ही क्यों न हो। इस बात की पुष्टि टरमन द्वारा निर्धारित प्रश्नावली से होती है। जब ५ वर्ष के बच्चों को कुछ स्त्रियों के चित्र दिखलाए गये तो उन्होंने सुन्दरतम के स्थान पर सबसे भद्दे चित्रों को पसन्द किया। पूछने पर उन्होंने उत्तर दिया कि ये चित्र उसकी 'दादी' की तरह लगते हैं अथवा 'आया' के समान हैं।

सौन्दर्य की भावना व्यक्तिगत अनुभव और सम्बन्धों पर निर्भर

गहरे रंग के चित्र जिनमें व्यक्तियों अथवा मशीन की गतियों का चित्रण रहता है बच्चों को बहुत अच्छे लगते हैं। कोई भी चित्र जिसमें लोग कुछ काम करते हुए चित्रित रहते हैं बच्चों को बड़े ही अच्छे लगते हैं। प्राकृतिक दृश्य बच्चों को तब तक अच्छे नहीं लगते जब तक उनमें कुछ क्रियाशील व्यक्तियों अथवा पशुओं का चित्रण न हो।

गहरे रंग के चित्र और प्राकृतिक दृश्य

बच्चे किसी चित्र में निहित सौन्दर्य को समझ सकेंगे या नहीं यह चित्र के अर्थ को समझने की उनकी योग्यता पर निर्भर करता है। ह्वाइट और जॉनसन ने अपने एक अन्वेषण में देखा कि दो से पाँच वर्ष के बच्चे आदमी-सम्बन्धी चित्रों को बड़ी सरलता से समझ जाते थे। यह भी देखा गया कि बच्चों के लिए बच्चों द्वारा बनाये हुए चित्र जितना महत्त्व और अर्थ रखते हैं उतना महत्त्व और अर्थ कलाकारों के बनाये हुए चित्र उनके लिए नहीं रखते।

अर्थ के समझ लेने की योग्यता पर सौन्दर्य का प्रत्यय निर्भर

बच्चा किस वस्तु को सुन्दर मानेगा और किसे असुन्दर यह उसके सांस्कृतिक वातावरण पर भी कुछ हद तक निर्भर करता है। प्रौढ़ व्यक्तियों के साथ रहने के कारण बच्चे प्रायः सौन्दर्य-सम्बन्धी उन्हीं की भावनाओं को अपना लेते हैं। अपने लिए अच्छा न समझते हुए ऐसी स्थिति में बालक उन वस्तुओं को सुन्दर मान बैठता है जिन्हें प्रौढ़

सांस्कृतिक वातावरण का प्रभाव

लोग सुन्दर मानते हैं। जिसे माता-पिता या शिक्षक सुन्दर मानते हैं उन्हें बच्चे भी सुन्दर मान बैठते हैं। ज्यों-ज्यों बच्चे बड़े होते हैं वे प्रौढ़ों के सौन्दर्य-सम्बन्धी मापदण्ड को स्वीकार करने लगते हैं।

सात या आठ वर्ष की अवस्था पर बच्चों की सौन्दर्य-भावना फूलों, पशुओं तथा खिलौनों तक सीमित रहती है। बारह या तेरह वर्ष की अवस्था पर प्राकृतिक दृश्य के सौन्दर्य को वे पहचानने लगते हैं। बच्चों के सौन्दर्य-भावना में लिङ्ग भेद पाया जाता है। लड़कों की अपेक्षा लड़कियों को फूल, चित्र, प्राकृतिक दृश्य, तथा कपड़े अधिक सुन्दर लगते हैं, और लड़के लड़कियों की अपेक्षा पशुओं और वस्तुओं में अधिक सौन्दर्य देखने का प्रयास करते हैं।

कुछ विशिष्ट वस्तुओं को सुन्दर मानने के कारण

यह भी जानने का प्रयत्न किया गया है कि बच्चे किसी वस्तु को सुन्दर और किसी को असुन्दर क्यों मानते हैं। लार्क-होरोविज[1] ने अपने अन्वेषण में देखा कि बच्चों की सौन्दर्य की भावना सर्वप्रथम किसी वस्तु के तथ्य पर निर्भर करती है, तत्पश्चात् उसके रंग-सम्बन्धी गुण का नम्बर आता है। उन्होंने देखा कि सामान्य बुद्धि के बच्चे वस्तु, प्रस्तुति[2] की वास्तविकता तथा रंग पर विशेष ध्यान देते हैं और प्रतिभाशाली बच्चे चित्र के रंग तथा उसके विश्लेषण से पाये हुये ज्ञान से अधिक प्रभावित होते हैं। प्रतिभाशाली बच्चों के सौन्दर्य बोध में सामान्य बालकों की अपेक्षा संवेग और कल्पना का भाग अधिक था।

बच्चा किस प्रकार का चित्र पसन्द करेगा यह उसकी उम्र और बुद्धि पर निर्भर करता है। लार्क-होरोविज[3] ने देखा कि चित्रों में बच्चे चित्रित व्यक्तियों के

उम्र और बुद्धि पर निर्भर

चेहरे के भाव पर उतना ध्यान नहीं देते जितना कि उनके सम्भावित गुणों पर। अधिक उम्र वाले बच्चे चित्र में आये हुये व्यक्तियों के कुछ विशिष्ट लक्षणों को बड़ा पसन्द करते हैं। लार्क-होरोविज़ ने देखा कि प्रतिभाशाली बच्चे सौन्दर्य के प्रत्यक्षीकरण में मौलिकता, आकार, प्रकार तथा विधि पर विशेष ध्यान

1. *Lark-Horovitz, B.*: On Art Appreciation of Children, I, Preference of picture subjects in general, *Journal of Educational Research*, 31, 118-137, 1937.

2. Presentation.

3. *Lark-Horovitz, B.*: On Art Appreciation of Children, II, Portrait preference study, *Journal of Educational Research*, 31, 572-598, 1938.

देते हैं। इसके विपरीत सामान्य बुद्धि के बच्चे सौन्दर्य के प्रत्यक्षीकरण में साधारण और व्यक्तिगत बातों पर ध्यान देते हैं।

बच्चों की रंग-सम्बन्धी अभिरुचि[1]

रंग-सम्बन्धी अपनी अभिरुचि बतलाने के पूर्व यह आवश्यक है कि बच्चे विभिन्न रंगों को समझें। स्टेपुल्स[2] ने बच्चों की रंग-सम्बन्धी अभिरुचि पर एक अन्वेषण किया। स्टेपुल्स ने देखा कि बच्चे सबसे पहले लाल रंग को पसन्द करते हैं। इसके बाद क्रमशः पीले, नीले और हरे का नम्बर आता है। दो वर्ष के बाद बच्चों की पीले रंग में रुचि चली जाती है; अब वे नीले और हरे रंग को अधिक पसन्द करते हैं। किण्डरगार्टेन के बच्चों के अपने अन्वेषण में डेशील[3] ने देखा कि बच्चे नीले रंग को सबसे अधिक पसन्द करते हैं, इसके बाद क्रमशः लाल और पीले रंग का नम्बर आता है। गार्थ और पोर्टर[4] ने अपने अन्वेषण में देखा कि सात वर्ष के बच्चे सफेद रंग बहुत ही कम पसन्द करते हैं, वे लाल रंग सबसे अधिक पसन्द करते हैं और इसके बाद वे नीले रंग को पसन्द करते हैं।

जितना छोटा उतना ही गहरा पसन्द

प्रायः यह देखा जाता है कि बच्चा जितना छोटा होता है वह उतना ही गहरा रंग अधिक पसन्द करता है। हलके रंग में छोटे की रुचि कम रहती है, उन्हें वे असुन्दर मानते हैं। उम्र के विकास के साथ उनकी इस प्रवृत्ति में परिवर्तन आता है। कैशोर में लड़के और लड़कियाँ हलका रंग पसन्द करती हैं। शायद शिक्षा के अभाव स्वरूप उनमें यह परिवर्तन आता है।

संगीत की रसानुभूति[5]

प्रायः यह सबका अनुभव है कि एक छोटा शिशु भी संगीत को पसन्द करता

1. Colour Preference of Children.

2. *Staples*, R.: The Responses of Infants to Colour, *Journal of Experimental Psychology*, 15, 119, 141, 1932.

3. *Dashiell, J. F.*: Children's sense of harmonies in colours and tones, *Journal of Experimental Psychology*, 2, 466-475, 1917.

4. *Garth*, T. R. and *Porter*, E. P.: The colour preferences of 1032 Young children, *American Journal of Psychology*, 46, 448—451, 1934.

5. Music Appreciation.

है। जब धीरे-धीरे गाया या गुनगुनाया जाता है तो उसे नींद आ जाती है। एक वर्ष की अवस्था के पूर्व संगीत सुनने की रुचि बच्चों में स्पष्टतः देखी जाती है। यदि बच्चे को कहीं कुछ कष्ट हो रहा है तो संगीत की ध्वनि से उसे कुछ शान्त किया जा सकता है। बच्चे को लय बड़ी अच्छी लगती है, और वातावरण के अनुसार उसमें एक विशिष्ट प्रकार के स्वर के लिए रुचि भी उत्पन्न हो जाती है। तीन वर्ष की अवस्था पर बच्चा प्रायः यह कह देता है कि वह कौन सा गाना या ग्रामोफोन का रेकार्ड सुनना पसन्द करेगा। लेखक का तीन वर्ष का एक बालक कह देता है कि वह "लाई-लप्पा" वाले रेकार्ड को सुनेगा और दूसरों को नहीं। अपने प्रिय गाने को वह बच्चा जितनी बार सुनता है वह गाना उसके लिए उतना ही प्रिय हो जाता है। संगीत की रसानुभूति के लिए उसके अर्थ को भी समझना आवश्यक है। छः या सात वर्ष की अवस्था पर बच्चे स्वर की गहनता और ऊँचाई को कुछ-कुछ समझ सकते हैं। दूसरों के स्वर को सुनने से उसकी गहनता और ऊँचाई का वे कुछ हद तक अनुकरण भी कर सकते हैं।

बच्चों को संगीत प्यारा है

१६

व्यक्तित्व का विकास[1]

व्यक्तित्व व्यवहार-विधि का दर्पण[2]

व्यक्ति क्या है, वह क्या सोचता और अनुभव करता है, उसमें कौन-कौन से गुण अथवा अवगुण हैं—यह सब उसके व्यवहार और वाणी से स्पष्ट हो जाता है। 'व्यक्तित्व' व्यक्ति का कोई एक विशिष्ट लक्षण[3], गुण[4] नहीं है। व्यक्ति के पूरे व्यवहार की प्रणाली अथवा विधि उसके व्यक्तित्व की ओर संकेत करती है। किसी व्यक्ति का व्यक्तित्व उसके पूरे संगठित[5] व्यवहार-विधि का दर्पण है।

प्रत्येक का अपना एक व्यक्तित्व

व्यक्ति का व्यक्तित्व, व्यवहार के कुछ विशिष्ट गुणों से निर्मित होता है। व्यक्तित्व केवल कुछ गुणों का योग ही नहीं होता। व्यक्तित्व कुछ गुणों का एक ऐसा सुसंगठित और समन्वित योग होता है कि वैसा योग किसी और व्यक्ति में नहीं मिलता। इसीलिए किसी दो व्यक्ति के व्यक्तित्व एक दूसरे से किसी न किसी अर्थ में भिन्न अवश्य होते हैं। इस भिन्नता के कारण विभिन्न व्यक्तियों के व्यक्तित्व का वर्गीकरण नहीं किया जा सकता, अर्थात् एक विशिष्ट वर्ग में कुछ व्यक्तियों को नहीं रक्खा जा सकता। वस्तुतः प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व का अपना एक विशिष्ट प्रकार होता है। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि बच्चे का अपना एक अलग व्यक्तित्व होता है। उसे किसी एक पूर्व निश्चित साँचे के अनुसार नहीं ढाला जा सकता। अतः अपनी कुछ आकांक्षाओं के अनुसार बालकों को ढालने की माता-पिता की चेष्टा एकदम व्यर्थ है।

बालक को एक साँचे में ढालना व्यर्थ

व्यक्तित्व के गुण[6]

व्यक्तित्व के चार प्रधान गुणों का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है :-

---

1. Personality Development. 2. Personality a mirror of the behaviour pattern. 3. Trait. 4. Quality. 5. Organised behaviours pattern. 6. Attributes of Personality.

१—सर्व व्यापकता[1] इसमें शारीरिक, बौद्धिक, सामाजिक तथा संवेगात्मक सभी गुण आ जाते हैं;

२—एक संगठित[2] इकाई—जिसमें विभिन्न गुण और प्रतिक्रियायें इस प्रकार गुँथ जाती हैं कि व्यक्ति का एक विशिष्ट व्यक्तित्व निखर उठता है और उसकी पहचान की जा सकती है ;

३—स्थायित्व[3], अर्थात् व्यक्ति का व्यक्तित्व एक ऐसा स्थाई रूप ले लेता है कि उसके आधार पर व्यक्ति की भावी राय तथा प्रतिक्रियाओं का कभी भी अनुमान किया जा सकता है; और,

४—परिवर्तन[4] की सम्भावना—अर्थात् शारीरिक अथवा वातावरण-सम्बन्धी परिवर्तनों के अनुसार व्यक्ति के व्यक्तित्व में परिवर्तन आ जाने की क्षमता ।

व्यक्तित्व के विकास में वंशानुक्रम और वातावरण[5]

व्यक्तित्व के विकास में वंशानुक्रम और वातावरण में सबसे अधिक किसका प्रभाव पड़ता है ? यह एक स्वाभाविक प्रश्न है । पहले यह विश्वास किया जाता था कि व्यक्तित्व पर वंशानुक्रम का बड़ा प्रभाव पड़ता है । अतः व्यक्ति जन्म के साथ ही अपने व्यक्तित्व को लेकर आता है । इस धारणा के अनुसार यह विश्वास किया जाता था कि शिक्षा से व्यक्तित्व में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं लाया जा सकता । परन्तु मनोविश्लेषकों के सिद्धान्तों के अनुसार यह विश्वास किया जाने लगा कि व्यक्तित्व के निर्माण में वातावरण का बड़ा प्रभाव पड़ता है । अब व्यक्तित्व के विकास में वंशानुक्रम और वातावरण दोनों के प्रभाव को स्वीकार किया जाता है । साधारणतः यह माना जाता है कि व्यक्तित्व की नींव वंशानुक्रमीय गुणों की विवृद्धि[6] से पड़ती है । परन्तु यह नींव व्यक्ति के सामाजिक सम्पर्कों अर्थात् वातावरण द्वारा बड़ी प्रभावित होती है । स्पष्ट है कि व्यक्तित्व-विकास में वंशानुक्रम और वातावरण दोनों का प्रभाव पड़ता है । अपने अन्वेषण के आधार पर शर्ली[7] का मत है कि शिक्षा से व्यक्तित्व में परिवर्तन लाया जा सकता है, परन्तु व्यक्तित्व के प्रबल गुणों को शिक्षा

दोनों का प्रभाव

1. All pervasiveness. 2. An organized unit of pattern. 3. Permanance. 4. Possibiltiy of change. 5. Heredity & Environent in the Development of Personality. 6. Maturation of hereditary traits.

7. *Shirley, M. M.* : The First Two Years, Vol. III, Personality Manifestations, Minneapolis, Univ. Minnesota Press, 1933.

द्वारा बदलना अत्यन्त कठिन है। माता-पिता तथा उनकी सन्तानों के व्यक्तित्व-सम्बन्धी कुछ गुणों में जो समानता दिखलाई पड़ती है वह वंशानुक्रमीय ही होती है। इन गुणों पर वातावरण का प्रभाव अवश्य पड़ता है। परन्तु इस प्रभाव के कारण निहित समानता सदैव पहचानी जा सकती है। ब्रेकेनरिज और विन्सेन्ट[1] का कहना है कि व्यक्तित्व के कुछ गुण शीघ्र परिवर्तित हो जाते हैं और कुछ के परिवर्तन में देर लगती है। इस परिवर्तन का स्वरूप वातावरण-सम्बन्धी अनुभवों पर ही निर्भर करता है। व्यक्तित्व-सम्बन्धी कुछ गुण परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं। उदाहरणार्थ; साधारणतः यह देखा जाता है कि कोई व्यक्ति एक परिस्थिति में तो दब्बू दिखलाई पड़ता है और दूसरे में दबंग।

व्यवहार पर व्यक्तित्व का प्रभाव

रुचियों के अर्जन पर व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ता है, और रुचियों से व्यवहार अनुशासित होता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि व्यक्तित्व का व्यवहार पर प्रभाव पड़ता है। फ़ॉकीर ने अपने अन्वेषण में देखा कि दबंग लड़के प्रतियोगिता वाले खेलों को पसन्द करते हैं, क्योंकि इनसे उनकी प्रभुत्व-प्रवृत्ति की पुष्टि होती है। इसके विपरीत दब्बू लड़के व्यक्तिगत खेलों में भाग लेना अधिक पसन्द करते हैं, क्योंकि इनमें उन्हें अपने से बली लड़कों का सामना नहीं करना होता। व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को जिस प्रकार व्यवस्थित कर पाता है उसका उसके व्यवहार और रुचि पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। जिन बच्चों का व्यवस्थापन अच्छा नहीं रहता उनकी रुचियाँ बहुत ही कम होती है, और वे प्रायः स्व-केन्द्रित होते हैं। जो बच्चे वातावरण में अच्छी तरह व्यवस्थित रहते हैं उनके पास प्रबल रुचियाँ होती हैं और वे विभिन्न सामाजिक कार्यों में बहुधा भाग लिया करते हैं।[2]

व्यक्तित्व के कुछ प्रारम्भिक स्वरूप[3]

ज़ैच्री[4] का कहना है कि जन्मते ही बच्चे का संवेगात्मक और सामाजिक विकास प्रारम्भ हो जाता है। जन्म के समय बच्चे का व्यक्तित्व विकसित नहीं रहता,

---

1. *Breckenridge, M. M, Vincent. E. K.* Child Development, Philadelphia: Saundevs, 1943.

2. *Banister, H.* and *Ravden, M.*: The Environment and the Child, *Brtish Journal of Psychology*, 34, 60-65, 1944.

3. Some early forms of personality.

4. *Zachry, C. B.*: Emotion and Conduct of adolescence, Appleton Century Crofts, New York, 1940.

परन्तु उसमें उसके व्यक्तित्व के गुण वर्तमान रहते हैं। उसका व्यक्तित्व आगे चलकर कैसा होगा यह उसकी विवृद्धि तथा वातावरण के प्रभावों पर निर्भर करेगा। जैंची का कहना है कि प्रथम दस दिनों में विभिन्न बालकों के विविध व्यवहारों में विभिन्नतायें पाई जा सकती हैं। दूध पीते अथवा हँसते समय ये विभिन्नतायें सरलता से समझी जा सकती हैं। वस्तुतः ये विभिन्नतायें ही उसके व्यक्तित्व की विभिन्नतायें होती हैं। स्टैगनर[1] की भी धारणा है कि जन्म के समय भी प्रत्येक शिशु का अपना एक अलग व्यक्तित्व होता है। दो वर्ष के पच्चीस बच्चों के अध्ययन के आधार पर शर्ली[2] का मत है कि व्यक्तित्व के कुछ गुण इस प्रकार स्थिर जान पड़ते हैं कि यह विश्वास किया जा सकता है कि जन्म के समय व्यक्तित्व के बीज उपस्थित रहते हैं। बाद में ये बीज वातावरण के अनुसार अंकुरित होते रहते हैं।

जन्म के समय व्यक्तित्व वर्तमान

प्रारम्भिक परिवर्तन

कुछ प्रथम महीनों में विकास के अनुसार शिशु में व्यक्तित्व-सम्बन्धी परिवर्तन आते हैं। इस समय वातावरण उतना प्रभाव नहीं डालता जितना कि बाद में। इस समय व्यक्तित्व-सम्बन्धी परिवर्तन विवृद्धि के कारण आते हैं। जब तीन या चार महीने का शिशु मुस्कराने, तथा किलकिलाने लगता है तो यह कहा जा सकता है कि जन्म के समय की बहुत सी बातों से अब वह बहुत आगे बढ़ गया है और उसके व्यक्तित्व में स्पष्ट परिवर्तन हो चला है।

वैयक्तिक वैभिन्य

व्यक्तित्व के वैयक्तिक वैभिन्य बहुत प्रारम्भ से ही वर्तमान रहते हैं। अपने अध्ययन के आधार पर रैण्ड, स्वीनी और विनसेण्ट[3] की धारणा है कि शिशु के व्यक्तित्व-सम्बन्धी गुणों की स्थिरता[4] अथवा अस्थिरता[5] बहुत प्रारम्भ से ही मालूम हो जाती है। जिस शिशु में दबंग होने की स्थिरता देखी जाती है वह सरलता से नहीं रोता, वह आत्म-विश्वास से स्तन-पान करता है, खूब सोता है और भोजन और

प्रारम्भ से ही वर्तमान

1. *Stagner*, R.: Psychology of Personality, 2nd Edition, Mc-Grew Hill, New York, 1948.

2. Ibid.

3. *Rand*, *W.*, *Sweeny*, *M. E.* and *Vincent*, *E. L.*: Growth and Development of Ycung Child, Saunders, Philadelphia, 1942.

4. Stability. 5. Instability.

तापक्रम में परिवर्तन से शीघ्र ही अव्यवस्थित नहीं हो जाता। फलतः उसका विकास एक स्थिर, व्यवस्थित और सुखी शिशु के रूप में होता है और अस्थिर शिशु का विकास इसके विपरीत होता है।

बच्चे ज्यों-ज्यों बढ़ते हैं त्यों-त्यों वंशानुक्रम और वातावरण के कारण उनके व्यक्तित्व की विभिन्नतायें बढ़ती जाती हैं। ब्यूहलर[1] का कथन है कि स्कूल जाने के समय से ही व्यक्तित्व-सम्बन्धी विभिन्न भिन्नताओं को बालक में समझा जा सकता है। कुछ बच्चे दूसरों का ध्यान अपनी ओर अधिक आकर्षित करते हैं, कुछ दूसरों को अधिक सुझाव देते हुए उनका नेतृत्व कर सकते हैं। इसके विपरीत कुछ बच्चे ऐसे होते हैं कि उन्हें दूसरों की सहायता की आवश्यकता होती है। कुछ बच्चे दूसरों की सेवा करने में आनन्द का अनुभव करते हैं। कुछ दूसरों को तंग करते अथवा चिढ़ाते हैं। इस प्रकार बचपन में व्यक्तित्व-सम्बन्धी वैयक्तिक वैभिन्य स्पष्ट हो जाता है।

व्यक्तित्व के गुणों की स्थिरता[2]

यह स्वाभाविक प्रश्न है कि व्यक्तित्व-सम्बन्धी गुण विकास के साथ बदलते रहते हैं अथवा स्थिर रहते हैं। अच्छे गुण यदि न बदले तो अच्छा है; परन्तु बुरे गुण, जैसे—कायरता, कटुता तथा बेईमानी आदि का बदल जाना ही व्यक्तित्व के हित में अच्छा होगा। व्यक्तित्व के गुण कहाँ तक बदलते हैं यह समझने के लिए वर्षों तक कुछ व्यक्तियों का विकासात्मक अध्ययन किया जाता है, और तब विभिन्न गुणों के माप की तुलना उनके पहले मापों से की जाती है।

कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्यम्भावी

व्यक्तित्व के गुणों की स्थिरता का यह तात्पर्य नहीं कि व्यक्तित्व के गुणों में परिवर्तन नहीं आता। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि कुछ गुण ऐसे होते हैं जो विभिन्न सामाजिक प्रभावों के अन्तर्गत होते हुए भी अन्य गुणों की अपेक्षा कम बदलते हैं—यद्यपि उन पर भी वातावरण का कुछ न कुछ प्रभाव पड़ता ही है। एक बालक जो कि शैशव में चिढ़चिढ़ापन दिखलाता है वह सम्भवतः बड़े होने पर भी चिढ़चिढ़ापन दिखलायेगा—यद्यपि उसकी कटुता में कुछ सुधार देखा जा सकता है। इसी प्रकार एक हँसमुख बालक कठिनाइयों के बीच भी हँसमुख दिखलाई पड़ेगा।

1. *Buhler, C.*: From Birth to Maturity, Kegan Paul, London, 1935.
2. Consistency of personality traits.

समतोलन केन्द्र[1]

ब्रेकेनरिज और विन्सेट[2] का कथन है कि अनुभव के आधार पर व्यक्तित्व-सम्बन्धी प्रत्येक गुण में कुछ न कुछ परिवर्तन आता है; परन्तु प्रत्येक गुण का एक 'समतोलन केन्द्र' अथवा केन्द्रीय स्थिरता होती है जो नहीं बदलती। इसलिए व्यक्तित्व में एक स्थिरता और सन्तुलन-शक्ति आ जाती है। समतोलन-केन्द्र में व्यक्ति की वे आदतें और मनोवृत्तियाँ होती हैं जो जीवन के आरम्भ में ही बैठ जाती हैं। ये आदतें और मनोवृत्तियाँ जल्दी नहीं बदलतीं। उदाहरणार्थ; जिस व्यक्ति में बचपन में ही आत्म-हीनता की भावनाग्रन्थि जम जाती है उसमें यह ग्रन्थि प्रायः सदा के लिए आ जाती है। व्यक्ति में आत्म-विश्वास लाने के लिए बहुत प्रयत्न करने पर ही इस भावनाग्रन्थि की गहनता में कुछ कमी हो सकती है। गहन मनोविश्लेषण के सहारे ही व्यक्ति के व्यवस्थापन में कुछ सुधार लाया जा सकता है, तथापि इस भावनाग्रन्थि का प्रभाव उसके व्यवहारों में कभी न कभी अवश्य ही स्पष्ट होता रहेगा।

व्यक्ति में सन्तुलन शक्ति

छोटे बच्चों में व्यक्तित्व का समतोलन-केन्द्र अच्छी तरह नहीं स्थापित रहता। इसलिए व्यक्तित्व के पूरे संगठन को छिन्न-भिन्न किये बिना ही उनमें परिवर्तन लाया जा सकता है। ब्रेकेनरिज और विन्सेण्ट का कहना है कि विकास के साथ 'समतोलन-केन्द्र' दृढ़ होता जाता है और व्यक्तित्व में स्थिरता आती जाती है, क्योंकि आदतें और मनोवृत्तियाँ तब जड़ बाँध लेती हैं। जड़ बाँध लेने के बाद परिवर्तन लाया जा सकता है; परन्तु इसके लिए बड़े परिश्रम और दृढ़-संकल्प की आवश्यकता होती है।

बच्चों में समतोलन केन्द्र दृढ़ नहीं

व्यक्तित्व के गुणों का विकास[3]

शिशुओं में व्यक्तित्व के गुणों का निकलना[4]

व्यक्तित्व के गुणों का विकास वातावरण में रहने वाले लोगों के प्रति बच्चे की प्रतिक्रियाओं[5] तथा उसकी सांस्कृतिक[6] आवश्यकताओं के फलस्वरूप होता है। लर्नर

1. Centre of Gravity.

2. *Breckenridge, M. E.* and *Vincent, E. L.* : Child Development, Saunders, Philadelphia, 1943.

3. Development of personality traits. 4. Emerging of personality traits in infants. 5. Responses. 6. Cultural Demands.

और मर्फ़ी[1] का कथन है कि बच्चे के व्यक्तित्व पर माता-पिता के व्यक्तित्वों के विभिन्न अनुभवों और विविध मनोवृत्तियों का सीधा प्रभाव पड़ता है। बच्चा आगे चलकर दृढ़-निश्चयी, हँसमुख, रचनात्मक प्रवृत्ति का अथवा चिढ़चिढ़ा, चिन्तित या नीरस होगा—यह सब उसके स्कूल जाने के पहले प्राप्त अनुभवों पर निर्भर करता है। बॉनहैम और सारजैण्ट[2] ने अपने अन्वेषणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि शिशु जन्म के बाद जो विविध स्वभाव-सम्बन्धी विविध प्रतिक्रियायें दिखलाते हैं वे वंशानुक्रमीय न होकर वातावरण के फलस्वरूप होते हैं।

भग्नाशा और अत्यधिक लाड़-प्यार

उन बच्चों में विरोध की भावना जागृत हो जाती है जिनकी स्वाभाविक इच्छाओं की अवहेलना की जाती है। इस प्रकार के अवदमन से उनमें आत्महीनता की भी भावना आ जाती है। बहुत से अन्वेषणों से यह फल निकाला गया है कि बालक के व्यक्तित्व-विकास पर माता-पिता के सामाजिक और आर्थिक स्थिति, मनोरंजन के लिए सुविधाओं, माता-पिता की वृद्धि तथा पिता के धंधे का बहुत कम प्रभाव पड़ता है। संवेगात्मक दृष्टि से अव्यवस्थित बच्चों का सांस्कृतिक वातावरण उतना ही अच्छा हो सकता है जितना कि व्यवस्थित बच्चों का होता है। वस्तुतः बच्चे के व्यक्तित्व के कुव्यवस्थापन में भग्नाशा अथवा माता-पिता का अत्यधिक लाड़-प्यार हो सकता है। बच्चे के व्यक्तित्व पर सामाजिक वातावरण का प्रभाव माता-पिता की मनोवृत्तियों और क्रियाशीलताओं द्वारा पड़ता है। जिस शिशु की साधारण सी रोने की आवाज पर घर के सभी लोग नाचने के लिए तैयार रहते हैं वह बच्चा बड़े ही चिढ़चिढ़े स्वभाव का हो जाता है, और वह अपनी किसी इच्छा की जरा भी अवहेलना होते हुए समझता है तो धैर्य खोकर बड़ा उपद्रव करता है। वह अपने मन में इतना गहन तनाव लाने की आदत बना सकता है जिससे उसकी नींद तथा पाचन-क्रिया आदि पर बड़ा हानिकारक प्रभाव पड़ सकता है और इससे उसका व्यक्तित्व बड़ा कुव्यवस्थित हो सकता है।

वांछित सामाजिक गुणों के विकास के लिये प्रायः बच्चों को विभिन्न बातें समझाई जाती हैं और उनके सामने व्यवहार के कुछ चुने हुये नियम रखे जाते हैं।

---

1. *Lerner, E.* and *Murphy L. B.* : Methods for the study of Personalty in young Children, *Monographs of the society for Research in Child Development*, Vol. 6, No. 4, pp. 3-8, 1941.

2. *Bonham, M.* and *Sargeant, M. K.* : A Study of the Development of Personality Traits in Infants, 18 to 24 months of Age, Catholic Univ. of America, 1928.

बच्चों को साधारणतः ईमानदारी, सहानुभूति, उदारता तथा आज्ञाकारिता का पाठ सिखलाया जाता है। कुछ बच्चे इन आदर्शों को अपने आचरण-क्रम में अपनाने की भी चेष्टा करते हैं। चार्टर्स[1] का कहना है कि इन सब आदर्शों का बच्चों पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि इन आदर्शों से सम्बन्धित उपयुक्त उदाहरण बच्चों के सामने सदा नहीं रखा जाता।

वास्तविक परिस्थिति में स्वाभाविक और सन्तोषप्रद प्रतिक्रियायें

अतः किसी गुण के विकास के लिये बच्चों के सामने हमें ऐसी वास्तविक परिस्थितियाँ रखनी हैं जिनमें उन्हें अपनी प्रतिक्रियायें स्वाभाविक और सन्तोषप्रद जान पड़ें; तभी वह उन्हें अपने साधारण व्यवहार-क्रम में अपना सकेगा। उदाहरणार्थ; सहानुभूति के गुण के विकास के लिये सर्वप्रथम हमें बच्चे के सामने कुछ ऐसी परिस्थितियाँ रखनी हैं जिनमें बालक सहानुभूति दिखलाना उपयुक्त और वांछित समझ सके। इसके बाद उसे कुछ ऐसे व्यवहार दिखलाने के लिये अभिप्रेरित करना चाहिये जिन्हें सहानुभूतिपूर्ण कहा जा सके। परन्तु किसी भी गुण-विकास के पूर्व हमें यह ध्यान रखना है कि बालक का कौटुम्बिक जीवन सन्तोषप्रद हो अर्थात् घर के वातावरण से उसे किसी प्रकार का दुख न मिले, उसे सभी लोग स्वीकार करें और उसकी स्वाभाविक इच्छाओं का दमन न करें और उसे विभिन्न प्रकार के सुखद सामाजिक अनुभव मिला करें।

व्यक्तित्व के गुणों में परिवर्तन[2]

ऊपर हम यह संकेत कर चुके हैं कि व्यक्तित्व के गुण प्रायः स्थिर रहते हैं। परन्तु उनमें परिवर्तन आने के भी प्रमाण मिले हैं। ये परिवर्तन छोटे बच्चों में बड़े बच्चों की अपेक्षाकृत अधिक मिलते हैं। ये परिवर्तन प्रायः सामाजिक वातावरण के प्रभाव स्वरूप आते हैं। बेली[3] ने अपने अध्ययन में देखा कि जिस बच्चे पर एक परिस्थिति में नियन्त्रण पाना सम्भव नहीं है उसपर किसी दूसरी परिस्थिति में नियन्त्रण प्राप्त किया जा सकता है। एक सुखी बालक कुछ दिन बाद दुखी बालक में परिवर्तित हो सकता है। बेली की धारणा है कि बच्चे ज्यों-ज्यों प्रौढ़ता प्राप्त करते हैं उनके व्यक्तित्व में कुछ परिवर्तन आ जाते हैं।

प्रौढ़ता के साथ परिवर्तन

1. *Charters, W. W.*: The Teaching of Ideals, pp. 105-106, Macmillan, New York, 1928.

2. Changes in Personality Traits.

3. *Bayley, N.*: Studies in the Development of Young Children, Berkeley Univ., California, 1940.

परिवर्तन आने के कारण

किसी सामान्य बालक के व्यक्तित्व में परिवर्तन आने के कई कारण हो सकते हैं। फेण्टन[1] के अनुसार इन कारणों का निम्नलिखित तीन वर्गीकरण किया जा सकता है :—

१—शारीरिक या आवयविक[2] बातें, जैसे भोजन, मादक वस्तुएँ तथा किसी अवयव का कोई विशिष्ट दोष।

२—सांस्कृतिक तथा सामाजिक वातावरण-सम्बन्धी बातें, जैसे शिक्षा, मनोरंजन के साधन तथा सामाजिक कार्यों में भाग आदि।

३—स्वयं व्यक्ति से सम्बन्धित बातें, जैसे किसी प्रकार का संवेगात्मक दबाव, दूसरों का अनुकरण, अथवा दूसरों की कठिनाइयों और आवश्यकताओं से अपना आत्मसात् कर लेना।

छोटे बच्चों-सम्बन्धी अन्वेषणों से यह विदित हुआ है कि आवश्यक नियन्त्रण से व्यक्तित्व में वांछित परिवर्तन लाये जा सकते हैं। जैक[3] ने अपने परीक्षण में देखा कि आवश्यक शिक्षण पाने पर दब्बू बच्चे दबंग हो जाते हैं। पेज[4] भी अपने अन्वेषण से जैक के निष्कर्ष का समर्थन करता है।

बच्चे को किसी साँचे में ढालने का प्रयत्न न करना

व्यक्तित्व के गुणों में परिवर्तन लाने के सम्बन्ध में यह याद रखना चाहिए कि केवल उन्हीं गुणों में परिवर्तन लाया जा सकता है जो कि बच्चे में खूब दृढ़ता से नहीं बैठे रहते। व्यक्तित्व में लाये हुए परिवर्तनों के सम्बन्ध में अभी तक यह नहीं बतलाया जा सका है कि ये परिवर्तन कितने दिनों तक टिके रहे—अर्थात् ये स्थाई हो गए; अथवा कुछ दिन के बाद विलीन हो गये। दूसरी बात यह याद रखनी है कि प्रौढ़ व्यक्ति के किसी सिद्धान्त के अनुसार बच्चे को किसी साँचे में ढालने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए, अन्यथा बच्चे के विरोध से इसका फल एकदम उलटा हो सकता है।

1. *Fenton, N.:* Mental Hygine and School Practice, Stanford Univ., Calofornia, 1943.

2. Organic factors.

3. *Jack, L. M.*: An Experimental study of ascendant behaviour in pre-school children, *University of Iowa Study of Child Welfare*, 9. No. 3, 1934.

4. *Page, M. L.*: The modification of ascendant behaviour in pre-school children, *University of Iowa Study of Child Welfare*, 12, No. 3, 1936.

व्यक्तित्व के कुछ प्रशंसित गुण[1]

विकास की प्रत्येक अवस्था के अनुसार

विकास की प्रत्येक अवस्था के लिए व्यक्तित्व के कुछ ऐसे गुण होते हैं जिनकी प्रशंसा की जाती है और कुछ ऐसे होते हैं जिनकी निन्दा। प्रशंसा के लिए कोई स्थिर माप नहीं है। जिसके लिए बचपन में प्रशंसा की जाती है कैशोर में उसकी निन्दा यह कह करके की जा सकती है कि वह बचपन के लिए है। कभी-कभी यह कहा भी जा सकता है कि वह बच्चों की तरह व्यवहार करता है।

समय-समय पर बदलना

स्कूल जाने के पहले की अवस्था में बच्चों को प्रौढ़ व्यक्तियों से प्रशंसा पाने की अधिक चिन्ता रहती है। अतः वे वही कार्य करने की चेष्टा करते हैं जिससे वे प्रौढ़ों से प्रशंसा पा सकें। इस समय अपनी उम्र के अन्य बालकों से प्रशंसा या निन्दा पाने की उन्हें चिन्ता नहीं होती। परन्तु जब वे स्कूल जाने लगते हैं तो यह मनोवृत्ति बदल जाती है। तब उन्हें अपनी उम्र के अन्य बालकों से प्रशंसा पाने की अधिक चिन्ता रहती है। तब वे प्रौढ़ों की आलोचना पर विशेष ध्यान नहीं देते। अतः इस समय वे व्यक्तित्व के उन गुणों को अपनाने की चेष्टा करते हैं जिनकी उनके साथी प्रशंसा करते हैं। इस प्रकार सामाजिक दृष्टि से स्वीकृत व्यक्तित्व के गुणों का मान समय-समय पर बदला करता है।

प्रौढ़ों के अनुसार व्यक्तित्व के प्रशंसित गुण

थोर्प[2] के अनुसार वांछित व्यक्तित्व का तात्पर्य संवेगात्मक[3] स्थिरता, सामाजिक[4] प्रौढ़ता, और आत्मविश्वास से किसी समस्या को सुलझाने की मनोवृत्ति से है। यह एक ऐसा ऊँचा आदर्श है जिसे प्रौढ़ लोग भी सरलता से नहीं अपना सकते तो बच्चों का क्या कहना। थोर्प ने प्रौढ़ों के अनुसार बच्चों के लिए व्यक्तित्व के वांछित गुणों का उल्लेख निम्नलिखित प्रकार से किया है :—

१—स्वस्थप्रद शारीरिक कार्यों में भाग ले सकना।

२—अच्छा स्वास्थ्य, पर्याप्त शक्ति तथा नियमित नींद।

३—सहकारी कार्यों में भाग लेते रहना, न कि अकेले बैठकर किताबें पढ़ते रहना या रेडियो सुनते रहना।

---

1. Some Admired Traits of Personality.

2. *Thorpe, L. P.*, : Child Psychology and Development, pp. 665-666, The Ronold, New York, 1946.

3. Emotional stability, 4. Social maturity.

४— चरित्र-निर्माण में सहायक संगठनों में भाग लेना, जैसे बालचर संघ तथा सेवा समिति आदि ।

५—अपने साथियों का आदर करना तथा उनके साथ ऐसा व्यवहार करना जिससे वे प्रसन्न हों। अनावश्यक आलोचना न करना, और दूसरों की भावनाओं का ध्यान रखना।

६—भिन्न लिङ्गीय व्यक्तियों के साथ स्वाभाविक सम्पर्क रखना और उनसे घृणा न करना।

७—विभिन्न प्रकार के कार्यों को करने के लिए तैयार रहना, अर्थात् शारीरिक परिश्रम के मूल्य को समझना। धन का अपव्यय न करना ।

८—श्रेय को छोड़ प्रेम पर ध्यान न देना।

जैकसन[1] ने भी इसी प्रकार के निम्नलिखित वांछित व्यक्तित्व के गुणों का उल्लेख किया है:—

१—दूसरे व्यक्तियों को ठीक-ठीक समझने की योग्यता और उनके कार्यों की प्रशंसा कर सकना।

२—दूसरों के अहंभाव को समुचित महत्त्व देना।

३—दूसरों की सुविधाओं का समुचित ध्यान रखना।

४—परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुसार अपने को व्यवस्थित कर सकना।

५—अपने व्यक्तिगत रूप पर समुचित ध्यान देना।

६—अच्छे शिष्टाचार को प्रदर्शित करना।

७—कम से कम सामान्य बुद्धि रखना।

८—सामान्य संवेगात्मक प्रौढ़ता रखना।

९ –समूह की अभियाचना के अनुसार उसका नेतृत्व कर सकना।

१०—सुधार की प्रवृत्ति तथा धर्मात्मा की अवांछित प्रवृत्ति न दिखलाते हुये ऊँचा चरित्र रखना।

११—समूह के अन्य सदस्यों से कुछ गुणों में समानता रखना।

कहना न होगा कि उपर्युक्त १९ गुण ऐसे हैं जो कि साधारण बच्चों की पहुँच के बाहर हो सकते हैं। ये गुण प्रौढ़ों के दृष्टिकोण के अनुसार हैं और कैशोर में पहुँचने पर भी बच्चे उन्हें पूर्णतः अपने व्यक्तित्व में अपनाने में कदाचित समर्थ न हों। प्रायः यह देखा जाता है कि प्रौढ़ लोग बच्चों में अपने आदर्शानुसार गुणों की

---

1. *Jackson, V. D.*: The measurement of social proficiency, *Journal of Experimental Education*, 8, pp. 422-474, 1940.

अपेक्षा करते हैं और जब बच्चे इस अपेक्षा तक नहीं पहुँच पाते तो प्रोढ़ों को निराशा होती है। फलतः बच्चों के सामान्य व्यवहार को भी वे कभी-कभी समस्या व्यवहार मान बैठते हैं।

बच्चों के अनुसार व्यक्तित्व के प्रशंसित गुण

प्रौढ़ों के आदर्शों के विपरीत बच्चों के अपने अलग आदर्श होते हैं और वे जानते हैं कि उन्हें क्या अच्छा लगता है और क्या बुरा। जब बच्चे के पास व्यक्तित्व के कुछ वांछित गुण होते हैं तो वह अपने समूह में प्रसिद्ध हो जाता है। कुछ वांछित गुणों के रखते हुये भी यदि उसमें कुछ अवांछित गुण रहते हैं तो समूह के अन्य सदस्य उसका सामाजिक वहिष्कार कर देते हैं। बॉनी[1] का कथन है कि बच्चे कुछ गुणों अथवा अवगुणों के कारण प्रशंसित अथवा निन्दित नहीं होते। एक व्यक्ति के रूप में वे दूसरों पर सम्पूर्ण रूप से क्या प्रभाव डालते हैं इसी पर उनकी प्रशंसा अथवा निन्दा निर्भर करती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि कुछ वांछित गुणों को रखते हुए भी कोई बालक अप्रसिद्ध हो सकता है और दूसरे कुछ अवांछित गुण वाले बालक प्रसिद्ध हो सकते हैं। व्यक्तित्व के अन्य गुणों के सदर्भ में—वांछित या अवांछित—कौन गुण अधिक व्यक्त जान पड़ता है, इसी पर व्यक्ति की निन्दा या प्रशंसा निर्भर करती है।

प्रशंसित गुणों में लिङ्ग-वैभिन्य

जब बच्चे अपने ही लिङ्ग के व्यक्तियों के साथ खेलने लगते हैं तब वे समझने लगते हैं कि एक लड़के अथवा लड़की को किस प्रकार का होना चाहिए। जिन गुणों

लड़के और लड़कियों के लिए विभिन्न गुण

की लड़कों में अपेक्षा की जाती है यदि वे लड़कियों में पाये जाते हैं तो लड़कियों की निन्दा की जाती है; इसी प्रकार लड़कियों वाले गुण यदि लड़कों में पाये जाते हैं तो लड़कों की निन्दा की जाती है। बॉनी[2] ने चौथी कक्षा के बच्चों के व्यक्तित्व-परीक्षण में देखा कि लड़के लड़कियों की अपेक्षा दूसरे लड़कों से लड़ने के लिए अधिक जल्दी तैयार हो जाया करते थे। यह बात प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध दोनों प्रकार के बालकों में पाई गई। इसके विपरीत लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा देखने

---

1. *Bonney, M. E.,* : A study of social status on the second grade level, *Journal of Gentic Psychology*, 60, pp. 271-305, 1942.

2. *Bonney, M. E.* : Sex differences in social success and personality Traits, *Child Development*, 15, pp. 63-79, 1944.

में अधिक सुन्दर, स्वच्छ, और प्रौढ़ समझी जाती थीं। सामाजिक कौशल में भी लड़कियाँ लड़कों से अधिक निपुण बतलाई गईं।

उम्र के साथ परिवर्तन

उम्र के बढ़ने से अनुभवों में परिवर्तन के अनुसार बच्चों के आदर्शों में परिवर्तन आना एकदम स्वाभाविक है। जिन गुणों को पहले प्रशंसा की जाती थी उन्हीं गुणों को उम्र के बढ़ने पर 'बचपन' की संज्ञा दी जाती है। जब अपनी ही उम्र के अन्य बालकों के साथ बालक खेलने लगता है तब उसका शान्त और दब्बू होना एक अवगुण माना जाता है। अब उसमें कुछ ऐसे गुणों का होना आवश्यक है जिनसे वह अन्य साथियों के साथ आगे बढ़ सके।

तरुणावस्था[1] के आने पर बच्चों में बड़े-बड़े मनोवैज्ञानिक परिवर्तन आते हैं। तब उसमें व्यक्तित्व के कुछ नये गुणों की अपेक्षा की जाती है। इस अपेक्षा तक न

तरुणावस्था

पहुँचने पर बच्चों की साथियों में निन्दा होती है। प्रायः यह देखा जाता है कि बारह वर्ष की लड़कियों में यदि प्रौढ़ों के आदर्शानुसार गुण आ जाते हैं तो उनकी प्रशंसा की जाती है। बारह वर्ष के उस लड़के की प्रायः प्रशंसा की जाती है जो कि खेल में नेतृत्व करने के लिए तैयार रहते हैं और साहसी और निर्भय होते हैं, और समूह के हित में प्रौढ़ लोगों की आज्ञा की अवहेलना कर सकते हैं।

व्यक्तित्व पर प्रभाव डालने वाली कुछ बातें[2]

विभिन्न बातों का बालक के व्यक्तित्व-विकास पर क्या प्रभाव पड़ेगा यह उन बातों को बालक की अपने सम्बन्ध में समझने की योग्यता पर निर्भर करता है।

अपनी आत्म-भावना

बालक की अपनी आत्म-भावना[3] उसके प्रति दूसरों के विचारों के अनुसार निर्मित होती है। यदि दूसरे उसे अच्छा समझते हैं तो वह अपने आत्म को अच्छा समझेगा और यदि दूसरे उसे बुरा समझते हैं तो वह अपने को बुरा समझेगा। उदाहरणार्थ; यदि दूसरे उसके रूप[4] और आकार[5] की प्रशंसा करते हैं तो उसके रूप और आकार का उसके व्यक्तित्व-विकास पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ेगा और यदि दूसरे उसके रूप और आकार को इतना बुरा समझते हैं कि उसे एक उपनाम—जैसे 'अष्टावक्र' या 'भोंदूमल'—दे रखा है तो इसका उसके व्यक्तित्व-विकास पर बुरा प्रभाव पड़ेगा।

---

1. Puberty (प्रायः १२वें १३वें अथवा १४वें वर्ष के लगभग). 2. Some Factors affecting the Development of Personality. 3. Conception of the Self. 4. Form. 5. Size.

नीचे हम कुछ उन बातों का उल्लेख करेंगे जिनका व्यक्तित्व के विकास पर विशेष प्रभाव पड़ता है।

शरीर[1]

बच्चे के रूप और आकार की लोग प्रशंसा अथवा निन्दा करते हैं। इस प्रशंसा अथवा निन्दा का प्रभाव उसके व्यवहार पर पड़ता है। इस प्रकार व्यक्तित्व के विकास पर शरीर के रूप और आकार का अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ता है।

रूप और आकार

बहुत छोटी ही अवस्था में बच्चे को यह अनुमान हो जाता है कि उसके सामाजिक सम्बन्धों पर उसके शारीरिक सौन्दर्य अथवा भद्दापन का प्रभाव पड़ रहा है। जो बच्चा ऊँचाई में लम्बा होता है उसके साथ दूसरे बच्चे अपना सामाजिक सम्बन्ध अधिक स्थापित करते हैं, क्योंकि वे अधिक कुशल और उपयुक्त समझे जाते हैं। छोटे कद वाले बच्चों को अन्य बच्चे उम्र में छोटा समझते हैं। अतः उन्हें समूह से वे प्रायः निकाल देते हैं। यदि बच्चा बहुत लम्बा न हो तो उसके लिए लम्बाई लाभप्रद होती है, क्योंकि अन्य बच्चे लम्बाई का अर्थ उम्र और बल की श्रेष्ठता से समझते हैं।

ऊँचाई और छोटा कद

बहुत मोटा या बहुत दुबला होना सामाजिक. सम्बन्ध स्थापित करने के हित में अच्छा नहीं। बहुत मोटे अथवा बहुत दुबले बच्चों की अन्य बच्चे बड़ी आलोचना करते हैं या चिढ़ाते हैं। साधारणतः यह समझा जाता है कि मोटे बच्चे प्रसन्न रहते हैं और उनके साथ लोगों की खूब बनती है और उनका जीवन सुखी रहता है। परन्तु अन्वेषणों से पता चला है कि मोटे बच्चे दुखी रहते हैं और कुव्यवस्थित होते हैं। वे डरपोक, सुस्त तथा देखने में भद्दे होते हैं। वे अपनी रक्षा के लिए दूसरों पर निर्भर रहते हैं। मोटे होने के कारण दूसरों के साथ खेल में बहुधा भाग लेना उनके लिए कठिन होता है। अतः वे धीरे-धीरे असामाजिक होते जाते हैं। मोटे बच्चों के अपने अध्ययन में ब्रुश[2] ने देखा कि वे अपनी माँ पर बहुत सी बातों के लिए उम्र बढ़ जाने पर भी निर्भर रहते हैं और उनमें अप्रौढ़ता के स्पष्ट चिन्ह मिलते हैं। इससे ब्रुश ने यह निष्कर्ष निकाला कि मोटे बच्चों के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की प्रौढ़ता अवरोधित हो जाती है। जब ब्रुश ने मोटे बच्चों के कौटुम्बिक

मोटा या बहुत दुबला होना

---

1. Physquie.

2. *Bruch, H.* : Obesity in Childhood and Personality Development, *American Journal of Orthopsychiatry*, 11, pp. 467-474, 1941.

वातावरण का अन्वेषण किया तो पता चला कि ऐसे बच्चों के पिता बड़े ही निर्बल और अकांक्षाहीन व्यक्ति थे। अतः वे बच्चों का उचित पथ-प्रदर्शन नहीं कर सके। ऐसी अवस्था में साधारणतः कुटुम्ब पर माता का आधिपत्य होता है। अपने कुव्यवस्थित व्यक्ति के कारण माँ बच्चों की आवश्यकता से अधिक देख-रेख करती हैं और उन्हें खिलाने-पिलाने पर बड़ा बल देती हैं।

स्वास्थ्य

स्वास्थ्य का बच्चे के व्यक्तित्व पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। जिस बच्चे का स्वास्थ्य बुरा रहता है वह घर और बाहर दूसरों से रियायत की अपेक्षा करता है।

बुरा स्वास्थ्य

घर में तो उसे यह रियायत किसी तरह मिल जाती है, परन्तु बाहर ऐसा सम्भव नहीं होता। अतः उसके स्वभाव में एक ऐसा दब्बूपन आ जाता है जो कि उसके सभी व्यवहार से व्यक्त होता है। यह दब्बूपन उसमें इस भावना से आता है कि वह दूसरों से कमजोर है और वह दूसरों की तरह विभिन्न कार्यों में भाग नहीं ले सकता। इस दब्बूपन के कारण वह दूसरे बच्चों का संग छोड़ अपना अधिक समय घर के अन्दर ही बिताता है।

अच्छे स्वास्थ्य का व्यक्तित्व पर बड़ा ही अच्छा प्रभाव पड़ता है। स्वस्थ बालक में भय नहीं रहता और वह धड़ल्ले से विभिन्न कार्यों में भाग लेता है।

अच्छा स्वास्थ्य

कमजोर बालकों से वह अपने को श्रेष्ठ समझता है। कुटुम्ब के सभी लोगों का उसके प्रति अच्छा रुख रहता है। इन सबका उसके व्यवहार पर प्रभाव पड़ता है। मैकफरलेन[1] ने अपने अन्वेषण में देखा कि जिन बच्चों को कोई रोग होता है वे बड़े चिढ़-चिढ़े स्वभाव के हो जाते हैं।

अन्तरासर्गी ग्रन्थियाँ[2]

अन्तरासर्गी ग्रन्थियों का व्यक्तित्व के विकास पर प्रभाव पड़ता है। अन्तरासर्गी ग्रन्थियों से अत्यधिक स्राव के होने से बच्चे में स्नायविक दुर्बलता आ जाती है।

व्यक्तित्व से घनिष्ठ सम्बन्ध

कभी-कभी वह अशान्त तथा आवश्यकता से अधिक क्रियाशील जान पड़ता है। इसके विपरीत यदि अन्तरासर्गी ग्रन्थियों से यदि स्राव कम हुआ तो बच्चा सुस्त रहता है।

---

1. *Macfarlane, I. W.* : The relation of environmental pressures to the development of the child's personality and habit patterning, *J. Pediat*, 15, pp. 142-154, 1939.
2. Endocrine glands.

वह एक प्रकार से दबा रहता है और दूसरों का प्रायः अविश्वास करता है। विभिन्न ग्रन्थियों का व्यक्तित्व पर क्या प्रभाव पड़ता है इस विषय में अभी तक बहुत बातें नहीं जानी जा सकी हैं। परन्तु अधिकांश मनोवैज्ञानिकों का यह मत है कि उनका व्यक्तित्व-विकास के घनिष्ठ सम्बन्ध है।

पहनावे[1]

अच्छा और बुरा पहनावा

पहनावे का बच्चे के व्यक्तित्व-विकास पर सीधा प्रभाव पड़ता है, क्योंकि बच्चा सदा यह ध्यान रखता है कि उसके पहनावे के सम्बन्ध में लोग क्या आलोचना दे रहे हैं अथवा क्या कह रहे हैं। बच्चे का यह प्रयत्न रहता है कि उसके कपड़े अन्य बच्चों की तरह हों—उनसे अच्छे ही हों, पर बुरे न हों। जब दूसरे बच्चे उसके पहनावे की प्रशंसा करते हैं तो वह अपने को बड़ा गौरवान्वित अनुभव करता है। जिन बच्चों के कपड़े दूसरों बच्चों के कपड़ों की तुलना में बुरे होते हैं उनमें आत्महीनता की भावना-ग्रन्थि आ जाती है।

कैशोर और उसके पूर्व

कैशोर के पहले बहुत कम लड़के यह समझ पाते हैं कि कपड़ों की सहायता से कुछ शारीरिक दोषों को ढका जा सकता है। जब उसका ध्यान इसकी ओर किया जाता है तो वह अपने पहनावे के बारे में और अधिक सतर्क रहा करता है। कैशोर में आने पर पहनावे के सम्बन्ध में बच्चों की कुछ नई रुचियाँ भी विकसित होती हैं।

बच्चे का नाम[2]

बच्चा जिस नाम से पुकारा जाता है उसका उसके व्यक्तित्व-विकास पर प्रभाव पड़ता है। जब बच्चा अपने साथियों के साथ खेलने लगता है तो उसे अपने नाम का महत्त्व जान पड़ता है। जिन बच्चों के नामों को सरलता से उच्चारित नहीं किया जा सकता, जिनके नामों को लोग बिगाड़ कर उच्चारित करते हैं, अथवा जिनके नामों का दूसरे बच्चे उपहास करते हैं उन बच्चों के मन में एक प्रकार की ग्लानि की भावना आती है। जिस बच्चे के नाम की प्रशंसा की जाती है वह अपने को बड़ा महत्त्वपूर्ण समझता है। एलेन[3] ने कुछ अन्वेषणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि निम्नलिखित वर्ग के नाम से व्यक्ति के मन में एक प्रकार की आत्महीनता की भावना-ग्रन्थि आ जाती है :—

---

1. Dresses. 2. The Child name.

3. *Allen*, L. *and others* : The relation of first name preferencess to their frequency in the culture, *Journal of Social Psychology*. 14, pp. 279-293, 1941.

१—वे नाम जो किसी बुरे शारीरिक अथवा चारित्रक गुण की ओर संकेत करते हैं, जैसे लूले, कल्लू, पागल, आदि आदि।

२—वे नाम जिनके साथ कुछ अरुचिकर भावनायें सम्बन्धित रहती हैं, जैसे, बेचन, मँहगी, फेंकन, भिखारी आदि।

३—वे नाम जो कुल नाम के साथ पुकारे जाने पर अरुचिकर लगते हैं, जैसे गरीबसिंह तथा विपद चतुर्वेदी, आदि।

बहुत से बच्चे अपने उपनाम से दूसरे बच्चों द्वारा पुकारे जाने पर बड़े चिढ़ते हैं, जब कि वे यह जानते हैं कि उनका उपनाम उपहासात्मक है। यदि साथी उसके उपनाम से उसे चिढ़ाते हैं तो उसमें आत्महीनता की भावना आ जायगी और वह समूह से अलग ही रहने लगेगा। इसका उसके व्यक्तित्व विकास पर प्रभाव पड़ेगा ही।

उपनाम

संस्कृति[1]

व्यक्तित्व-विकास पर संस्कृति तथा रीति-रिवाज का प्रभाव कम नहीं पड़ता। प्रत्येक संस्कृति में लड़के और लड़कियों से एक विशिष्ट प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा की जाती है। जन्म से माता-पिता का यह प्रयत्न होता है कि बच्चे समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहार को ही सीखें। उदाहरणार्थ; यह आशा की जाती है कि लड़के बहादुर हों और लड़कियाँ इतनी दृढ़ हों कि वे अपनी रक्षा स्वयं कर सकें। ईमानदारी, परिश्रमी, उदार तथा सहयोगी होना लड़के और लड़कियों दोनों के लिए अच्छा समझा जाता है। माता पिता का यह प्रयत्न रहता है कि उनके बच्चे ऐसे गुणों को अपनायें, जिनसे उनका व्यक्तित्व-विकास ऐसा हो कि दूसरे उनकी प्रशंसा करें। जब बच्चे कुछ बड़े हो जाते हैं जो उन्हें भी अपने सांस्कृतिक माप-दण्डों का कुछ ज्ञान हो जाता है और उन्हीं के अनुसार वे अपने को ढालना चाहते हैं। कैशोर में व्यक्तित्व पर सांस्कृतिक वातावरण का प्रभाव बहुत ही स्पष्ट दिखलाई पड़ता है।

समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहार

रुचियाँ[2]

जिस बच्चे के पास बहुत रुचियाँ होती हैं वह बहिर्मुखी[3] होता है और जिसकी रुचियाँ बहुत कम होती है वह अन्तर्मुखी[4] होकर अपना ध्यान बहुधा अपने 'आत्म' पर

1. Culture. 2. Interests. 3. Extrovert. 4. Introvert.

ही केन्द्रित करता है। इस बात की महत्ता को अब शिक्षक और माता-पिता अधिक समझने लगे हैं। इसलिये बच्चे के सर्वाङ्गीण विकास के लिये वे उसमें बहुत सी रुचियों का विकास करना चाहते हैं। ब्यायन्टन[1] ने अपने अन्वेषण में देखा कि रुचियों का व्यक्तित्व-विकास से घनिष्ठ सम्बन्ध है। किसी प्रधान रुचि के अभाव में व्यक्तित्व का विकास वांछित सुख नहीं ले पाता। किसी प्रधान रुचि के होने से व्यक्ति में एक प्रकार का मानसिक सन्तोष रहता है। यह सन्तोष व्यक्ति के व्यवस्थापन में बड़ी सहायता करता है।

एक प्रधान रुचि का होना आवश्यक

बुद्धि[2]

सामान्य बुद्धि के होने पर बालक अपने को वातावरण में किसी प्रकार व्यवस्थित कर लेता है, परन्तु अति प्रतिभाशाली अथवा अति मन्द बुद्धि बालक को अपने व्यवस्थापन में कठिनाई का सामना करना पड़ता है। स्पष्ट है कि बुद्धि का व्यक्तित्व-विकास से सीधा सम्बन्ध है।

जिस बच्चे की बुद्धि समूह के अन्य बालकों से कम होती है उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता है, क्योंकि न पढ़ने और न खेलने में ही वह अन्य बालकों की तरह अपने को दिखला सकता है। अतः उसमें शीघ्र ही आत्महीनता की भावना आ जाती है और वह अपने को अन्य बच्चों से अलग रखने लगता है। फलतः वह व्यक्तित्व के कुछ ऐसे गुणों को अपनाता है जिन पर आत्महीनता की भावना की छाप रहती है।

कम बुद्धि वाला

हालिंगवर्थ[3] ने अपने अन्वेषण के आधार पर प्रतिभाशाली बच्चों के व्यक्तित्व-सम्बन्धी कुछ समस्याओं की ओर संकेत किया है। हॉलिंगवर्थ के अनुसार प्रतिभाशाली बच्चों में 'अधिकारवाद' के विरोध की भावना रहती है, क्योंकि वे दूसरों द्वारा किये हुये निर्णय को अविवेकपूर्ण समझते हैं; वे सामान्य बुद्धि वालों के प्रति कुछ असहिष्णु होते हैं। अनुपयुक्त वातावरण में अपने को व्यवस्थित करने के क्रम में प्रतिभाशाली

प्रतिभाशाली बच्चे

1. *Boynton, P. L.* : The relationship of hobbies to personality characteristics of school children, *Journal of Experimental Education,* 8, pp. 363-367, 1940.

2. Intelligence.

3. *Hollingworth, L. S.* : Personality and Adjustment as determiners and correlates of Intelligence, Yearb, nat. Soc. Stud. Educ., 39, pp. 271-275, 1940.

बच्चों में छल कपट की कुछ आदतें आ जाती हैं। ऐसे बच्चे एकान्तसेवी होने लगते हैं; अथवा अपने से अधिक उम्र वाले व्यक्तियों के संग में रहने लगते हैं, वह अपने को सभी दृष्टि से पूर्ण समझने लगते हैं, और किसी परिस्थिति पर अपना अधिकार जमाने की चेष्टा करते हैं।

विशिष्ट झुकाव[1]

जो बच्चे किसी विशिष्ट झुकाव, जैसे संगीत, कला, लेखन तथा नाट्यकला आदि में विशेष योग्यता रखते हैं उन्हें भी अति प्रतिभाशाली बच्चों की तरह अपने व्यवस्थापन में उसी प्रकार कठिनाई का सामना करना पड़ता है। समूह के अन्य बालकों से भिन्न होने से उस पर दूसरों का ध्यान तुरन्त आ जाता है। इससे कुछ बच्चे तो लज्जावान स्वभाव के हो जाते हैं; परन्तु अधिकतर इससे उनमें एक प्रकार की अहं-भावना आ जाती है। इस अहं-भावना के कारण वे अधिक स्व-केन्द्रित और स्वार्थी हो जाते हैं।

अहं-भावना

प्रारम्भिक अनुभव[2]

प्रारम्भिक अनुभवों का व्यक्ति के व्यक्तित्व पर अमिट प्रभाव पड़ता है। जिस बच्चे के प्रारम्भिक अनुभव सुखद होते हैं उसका जीवन-दृष्टिकोण उस बच्चे से भिन्न होता है जिसे प्रारम्भ में संवेगात्मक तनाव, झगड़े तथा निरन्तर दुख का सामना करना होता है। वातावरण में कुछ वांछित सुधार आ जाने पर भी बचपन के इन अनुभवों की छाप सदा व्यक्तित्व पर वर्तमान रहती है।

अल्पसंख्यक वर्ग अथवा किसी विशिष्ट जाति में जन्म[3]

अल्पसंख्यक वर्ग, जैसे भारत में मुसलमान, ईसाई, अथवा सिख आदि वर्ग में जन्म लेने से बच्चे के व्यक्तित्व पर एक विशेष प्रकार का प्रभाव पड़ सकता है। अल्पसंख्यक वर्ग में जन्म लेने से अन्य बहुमत वर्ग के बच्चे उन्हें हेय की दृष्टि से देख सकते हैं अथवा उनसे सामाजिक अलगाव का वर्ताव रख सकते हैं। इसका व्यक्तित्व-विकास पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है।

हमारे देश में विशेषकर हिन्दू वर्ग में जाति-व्यवस्था का प्रचलन है। जाति-व्यवस्था का व्यक्तित्व विकास पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ; चमार जाति के

1. Special Aptitudes. 2. Early Experiences. 3. Being born in a minoirty group or in some special caste.

बालक को ब्राह्मण या क्षत्रिय जाति का बालक प्रायः हेय दृष्टि से देखता है। ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय जाति का बालक अपने को अन्य जातिओं के बालकों से श्रेष्ठ समझता है। इस भावना का चमार तथा ब्राह्मण और क्षत्रिय आदि जाति के बालकों के व्यक्तित्व पर प्रभाव अवश्य ही पड़ता है। हमारा यह अनुभव भी है कि एक विशिष्ट जाति के व्यक्ति का व्यक्तित्व एक विशिष्ट प्रकार का दिखलाई पड़ता है। इस क्षेत्र में कुछ अन्वेषण और परीक्षण किये जाँय तो निश्चय ही बहुत सी मनोरंजक बातों का पता चलेगा।

जाति-व्यवस्था

सामाजिक प्रसिद्धि[1]

बच्चे की प्रसिद्धि का उसके व्यक्तित्व-विकास पर प्रभाव पड़ता है। जिन बच्चों को यह अनुभव होता है कि अन्य बच्चे उनकी प्रशंसा करते हैं और उन्हें चाहते हैं उनमें एक प्रकार के आत्माभिमान का विकास होता है। जिन बच्चों की अन्य बच्चे उपेक्षा करते हैं उनमें इस भावना का अभाव दिखलाई पड़ता है।

आत्माभिमान

जो बच्चा दूसरों से मित्रता का व्यवहार करता है और आत्म-विश्वास अनुभव करता है उसके मित्रों की संख्या बढ़ जाती है। इससे उसकी प्रसिद्धि और बढ़ जाती है। प्रसिद्धि के बढ़ने से उसमें आत्म-विश्वास और नेतृत्व के गुण और आगे बढ़ते हैं। जो बच्चे अप्रसिद्ध होते हैं उन पर इसका उलटा प्रभाव पड़ता है। वे अपने को छोटा समझने लगते हैं, वे चिढ़चिढ़े और ईर्षालु हो जाते हैं। ऐसे बच्चों का सुधार मनोविश्लेषण से ही किया जा सकता है। पोटशिन[2] के अनुसार अप्रसिद्ध बच्चे अपने में तनाव की भावना दिखलाते हैं, वे दूसरों के सामने अपने गुणों को दिखलाना चाहते हैं। पोटशिन का कथन है कि प्रसिद्ध बच्चों में यह भावना नहीं रहती और वे अधिक सुखी और स्वतन्त्र दिखलाई पड़ते हैं।

प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध बच्चे

सामाजिक और आर्थिक स्थिति[3]

कुछ लोगों की धारणा है कि गरीबी का व्यक्तित्व-विकास पर अच्छा प्रभाव

---

1. Social Popularity.
2. *Potashin*, R. A. : Sociometric study of children's friendship's, *Sociometry*, pp. 9, 48-70, 1946.
3. Socioeconomic status.

पड़ता है, क्योंकि गरीबी व्यक्ति के लिए एक प्रकार से अभिप्रेरक का काम करती है और व्यक्ति वातावरण से अपने को ऊपर उठाने के लिए व्यक्तित्व के कुछ आवश्यक गुणों को अपनाने की चेष्टा करता है। कुछ लोगों की धारणा इसके ठीक विपरीत है—वे समझते हैं कि गरीबी का व्यक्ति के व्यक्तित्व पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

गरीबी

स्टैगनर[1] ने कुछ ऐसे कालेज के विद्यार्थियों का अध्ययन किया जिनमें बचपन में कुछ अच्छी और कुछ बुरी आर्थिक स्थिति के थे। स्टैगनर को पता चला कि व्यक्तित्व को सुधारने के लिए गरीबी अभिप्रेरक नहीं होती। उसने देखा कि गरीब माता-पिता के बच्चों में स्नायविक दुर्बलता, संवेगात्मकता, अन्तर्मुखता, आत्महीनता की भावना और सामाजिक कार्यों से अलग रहने की प्रवृत्ति आ जाती है। स्टैगनर का विश्वास है कि ये सब अवगुण सामाजिक स्थिति में कुव्यवस्थापन से आ जाते हैं।

लूरी[2] ने यह समझने का प्रयत्न किया कि व्यक्तित्व-विकास पर पड़ोस का क्या प्रभाव पड़ता है। यदि बुरे पड़ोस से बच्चों में कुछ व्यवहार-समस्यायें आ जाती हैं तो व्यक्तित्व-विकास पर सामाजिक और आर्थिक दशा का अवश्य ही प्रभाव पड़ता है। लूरी ने ४००० समस्या-बालकों का अध्ययन किया और उसने देखा कि एक प्रतिशत से कम ही बालकों की समस्यायें उनके बुरे पड़ोस के कारण थीं। सत्तरह प्रतिशत बालकों के सम्बन्ध में देखा गया कि पड़ोस का प्रभाव घर के प्रभाव के बराबर ही पड़ा था। घर के अन्दर अनुचित नैतिक दशायें तथा माता-पिता की असहानुभूति बच्चों के व्यक्तित्व के कुव्यवस्थापन के प्रधान कारण थे।

पड़ोस

कौटुम्बिक सम्बन्ध[3]

कुटुम्ब का बालक के व्यक्तित्व पर क्या प्रभाव पड़ेगा यह बहुत हद तक बालक पर ही निर्भर करता है। जो बालक अस्वस्थ्य और हर समय एक तनाव लिए रहता है वह घर में किसी नये शिशु पर माता-पिता का ध्यान जाने पर एकदम अव्यवस्थित हो जाता है। स्वस्थ बालक का ऐसी परिस्थिति में व्यवहार इस प्रकार का नहीं होता।

बालक पर निर्भर

व्यक्तित्व के विकास पर माता-पिता के प्रभाव को मनोवैज्ञानिकों ने बड़ा

1. *Stagner*, R.: Economic Status and Personality, *School and Society*, 42, pp. 551-552, 1935.

2. *Lurie, L. A.* and others: Environmental Influences, *American Journal of Orthopsychiatry* 11, pp. 150-161, 1943.

3. Family Relationship.

महत्त्व दिया है। लर्नर[1] और मर्फी के अनुसार बालक के व्यक्तित्व पर माता-पिता के व्यक्तित्व के चेतन और अचेतन प्रकाशनों का सीधा प्रभाव पड़ता है। लेविस[2] का कहना है कि माता-पिता का बच्चे के प्रति रुख का उसके संवेगात्मक व्यवस्थापन पर प्रभाव पड़ता है। बालक अपनी सभी बातों के लिए माता-पिता पर निर्भर रहता है। अतः उसके व्यक्तित्व-विकास पर उनका प्रभाव पड़ना एकदम स्वाभाविक है।

माता-पिता का प्रभाव

अपने कौटुम्बिक जीवन के बारे में बालक जो कुछ सोचता है उसका उसके व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है। जो माता-पिता बालक को सभी प्रकार की सुविधाएँ देते हैं, मनोरंजन के साधनों का आयोजन करते हैं और बच्चों के मित्रों का घर पर आने पर स्वागत करते हैं वे अपने बच्चों के अच्छे व्यक्तित्व-विकास में बड़ा योग देते हैं। इसके विपरीत जो बच्चे समझते हैं कि उनकी अवहेलना की जा रही है और उनके मित्रों का घर पर स्वागत नहीं किया जाता उनके व्यक्तित्व का विकास दूसरे प्रकार का चलता है, और वे जीवन में कम व्यवस्थित हो पाते हैं।

कौटुम्बिक जीवन के बारे में भावना का प्रभाव

सबसे बड़ा, मझला या सबसे छोटा होना

सबसे बड़ा, मझला या सबसे छोटा होने का व्यक्तित्व विकास पर प्रभाव पड़ता है। प्रायः अधिकांश माता-पिता यह कहा करते हैं कि वे अपने सभी बच्चों के साथ समान व्यवहार दिखलाते हैं। परन्तु वस्तुतः यह सम्भव होता नहीं, क्योंकि अपने-अपने स्वभाव के अनुसार विभिन्न बच्चे विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रिया माता-पिता में जनित करते हैं। अतः घर की सभी बातें सभी बच्चों के लिए समान होते हुए भी उनके लिए मनोवैज्ञानिक वातावरण समान नहीं रहता। एडलर[3] के अनुसार सबसे बड़े लड़के में माता-पिता पर निर्भर रहने की प्रवृत्ति आ जाती है।

माता-पिता के विभिन्न व्यवहार

---

1. *Lerner, E.* and *Murphy, L.* : Methods for the study of personality in the young Children, Monogr. Soc., Res. *Child Development*, 6, No. 1941.

2. *Lewis, W. D.* : Influence of parental attitudes on children's personal inventory scores, *Journal of Genetic Psychology*, 6,7195-201, 1945.

3. *Adler, A.* : *Problems of Neurosis*, Cosmopoliton Book Corp., New York, 1930.

इससे उसमें एक ऐसी आत्महीनता की भावना आजाती है जिससे छुटकारा पाना उसके लिए बड़ा ही कठिन होता है। बेन्डर[1] के अनुसार सबसे छोटा लड़का प्रायः दब्बू होता है और एकलौता लड़का कम दब्बू होता है।

खेल के साथी और मित्र

समूह-भावना के विकास के साथ बालक के व्यक्तित्व पर उसके मित्रों तथा खेल के साथियों का प्रभाव पड़ने लगता है। अपने मित्रों तथा खेल के साथियों से प्रशंसा प्राप्त करने के लिए बालक विभिन्न प्रकार के गुणों को अपनाने का प्रयत्न करता है। साथ ही वह अपने व्यक्तित्व के अवगुणों को दूर करने का प्रयत्न करता है।

अस्वस्थ व्यक्तित्व[2]

बालकों के व्यक्तित्व को कुव्यवस्थित[3] कहना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि वे अभी अपने विकास के क्रम में ही रहते हैं और उनके व्यक्तित्व में भारी-भारी परिवर्तन आ सकते हैं, और उनके व्यक्तित्व में जो अवांछित गुण दिखलाई पड़ते हैं उन्हें दूर किया जा सकता है। अतः बच्चों के अवांछित व्यक्तित्व को 'अस्वस्थ व्यक्तित्व' की ही संज्ञा देना अधिक उपयुक्त होगा।

उपचार की आवश्यकता

यदि बच्चा दूसरों के साथ अच्छी प्रकार व्यवहार नहीं दिखला सकता तो यह कहा जा सकता है कि उसका व्यक्तित्व अस्वस्थ है। जिस प्रकार कि साधारण बीमारी में कुछ दवा की आवश्यकता होती है उसी प्रकार व्यक्तित्व की अवस्था को दूर करने के लिए भी कुछ उपचार की आवश्यकता है। यदि यह उपचार नहीं किया जाता तो सम्भव है कि कुछ समय बाद व्यक्तित्व के दोष स्वयं दूर हो जाँय अथवा यह भी हो सकता है कि उनकी गहनता और बढ़ जाय।

अस्वस्थ व्यक्तित्व के कारण

व्यक्तित्व के वांछित विकास के लिए यह आवश्यक है कि बालक अपनी शक्तियों, निर्बलताओं, और सीमाओं को समझे। कुछ बच्चे तो अपने को वातावरण में सरलता से व्यवस्थित कर लेते हैं और कुछ को इसमें बड़ी कठिनाई होती है।

---

1. *Bender, I. E.* : Ascendence—submission in relation to other factors in personality, *Journal of Abnormal Social Psychology*, 23, 137-143, 1928.

2. Sick Personalities. 3. Maladjusted.

व्यक्तित्व के कुव्यवास्थापन के साधारण कारणों का उल्लेख जॉर्डन[1] द्वारा इस प्रकार किया गया है :—

१—स्वाभाविक इच्छाओं और प्रवृत्तियों के अवदमन से आत्महीनता की भावना का आ जाना।

२—अनुचित संवेगात्मक उद्दीपन।

३—कुटुम्ब की बुरी दशा, अथवा कुटुम्ब की अपेक्षाओं तक बालक का न आ सकना।

अस्वस्थ व्यक्तित्व के कुछ साधारण रूप[2]

बारह वर्ष की उम्र के पहले व्यक्तित्व की अस्वस्थता प्राय: कम देखी जाती है। परन्तु इस समय में भी भावी अस्वस्थता के स्पष्ट लक्षण पहचाने जा सकते हैं; जैसे—बहुधा रोते रहना, दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए विविध उपायों को अपनाना तथा हवाई किले बाँधना, आदि, आदि। यदि इन सबको न रोका जाय तो आगे चलकर बच्चे में व्यवहार की कठिन-कठिन समस्यायें पाई जा सकती हैं। बच्चों के व्यक्तित्व में कई प्रकार के अवांछित गुण दिखलाई पड़ते हैं। पहले वे बड़े ही साधारण रूप में दिखलाई पड़ते हैं और उन्हें समझने में गलती की जाती हैं। अत: उन्हें दूर करने का प्रयत्न बहुत ही कम किया जाता है। नीचे अस्वस्थ व्यक्तित्व के कुछ साधारण रूपों की ओर अति-संक्षेप में संकेत किया जा रहा है :—

(१) **काल्पनिक असमर्थता**[3]—बिना किसी स्पष्ट कारण के यह अनुभव करना कि आज तबियत ठीक नहीं है; दूसरों की सहानुभूति या ध्यान पाने के लिए अथवा किसी कठिन काम से बचने के लिए कुछ बच्चे किसी काल्पनिक बीमारी का बहाना करते हैं।

(२) **दूसरों पर दोष अरोपित करना**[4]—बहुत से बच्चे अपने दोषों और गलतियों का उत्तरदायित्व दूसरों पर ढकेल देते हैं। जिन बच्चों को कठिन नियन्त्रण में रहना पड़ता है वे अपने को बचाने के लिए इसे अच्छा साधन मानते हैं। जिनको दोष दिया जाता है वे प्राय: आंशिक रूप से ही उसके उत्तरदायी होते हैं। परन्तु बालक यह समझने लगता है कि इसमें उसका कोई दोष नहीं।

---

1. *Jordon, A. M.: Educational Psychology*,, 3rd. Ed., Holt, New York, 1942.

2. Some common forms of personality sickness. 3. Imaginary invalidism. 4. Projecting blame on others.

(३) **आत्म-निर्दोषकरण**[1]—इस साधन से किसी गलत किये हुये काम के विरुद्ध दूसरों की आलोचना से बालक अपने को बचाना चाहता है; और साथ ही मन ही मन वह अपने काम के औचित्य को समझने का प्रयत्न करता है। प्रत्येक बच्चा दूसरों की आलोचना से अपने को बचाना चाहता है और उसकी इच्छा होती है कि दूसरे उसके कार्यों की प्रशंसा करें। इसलिए बहुत से सम्भव कारण में से अनजान में वह केवल उसी कारण को चुनता है जिसे वह समझता है कि दूसरे स्वीकार करेंगे। यदि यह कारण स्वीकार कर लिया गया है,—और प्रायः स्वीकार कर लिया जाता है,—तो वह दूसरों की कटु आलोचना से बच जायगा। साथ ही उसे यह भी सन्तोष होता है कि उसने कोई झूठ बात नहीं कही।

(४) **बहुधा रोने की प्रवृत्ति**[2]—इस प्रवृत्ति के अपनाने से इच्छा के कुछ भी विरुद्ध हो जाने से बच्चा रोने जैसा मुँह बना लेता है अथवा रोने लगता है। बच्चों के आँसुओं को देखकर कुछ प्रौढ़ लोग हार मान बैठते हैं और उनकी इच्छा का पालन कर देते हैं।

(५) **दूसरों को मारना और तंग करना**[3]—यह प्रवृत्ति उस बच्चे में आती है जो अपने को अरक्षित अनुभव करता है या जिसमें आत्महीनता की भावना रहती है। दूसरों को मारने से अथवा तंग करने से बालक अपने को श्रेष्ठतर समझता है। इसमें उसे आनन्द आता है।

(६) **अपने को श्रेष्ठ समझने की भावना**[4]—अपनी विवशता तथा दूसरों पर निर्भरता के कारण दूसरों से सहायता पाने पर छोटा बालक स्वभावतः अपने को श्रेष्ठ समझने लगता है। इस भावनावश बालक स्वार्थी हो जाता है और वह चाहता है कि सब कुछ उसी के लिए किया जाय। फलतः उसके व्यवहार में एक प्रकार की अकड़न आ जाती है। प्रायः सभी बच्चों में यह प्रवृत्ति देखी जाती है। इसलिए इस पर लोग विशेषकर ध्यान नहीं देते। परन्तु यदि बड़ा हो जाने पर भी उसमें यह प्रवृत्ति वर्तमान रहती है तो यह उसके व्यक्तित्व का दोष हो जाता है। तब वह देखता है कि लोग उससे कुछ खिंचे से रहते हैं।

(७) **आत्महीनता की भावना**[5]—व्यक्तित्व का यह दोष बचपन के अन्तिम दिनों अथवा कैशोर में प्रारम्भ होता है। जब बालक अपनी योग्यताओं की तुलना अन्य बालकों से कर पाता है तभी इस भावना का आना सम्भव होता है। परन्तु किसी भी अवस्था पर जिन बच्चों को साधारण सी साधारण बात पर आलोचना की जाती है उनमें यह दोष आ जाता है।

---

1. Self-justification. 2. Crybaby Tendencies. 3. Bullying and Taesing. 4. Feeling of Superiority. 5. Feelings of Inferiority.

(८) **हुतात्मता की भावना**[1]—इस भावनावश बालक दूसरे बच्चों की निन्दा करता है, उनसे डाह करता है और उन बच्चों के प्रति प्रतिशोध की भावना रखता है जिनके कारण वह समझता है कि उसकी सुविधायें छीनी जा रही हैं। जो बच्चा अपने को हुतात्मा[2] समझता है वह अपने को बरबस दुखी और अव्यवस्थित बना डालता है।

(९) **अंगूर खट्टे हैं की प्रवृत्ति**[3]—जिस वस्तु को व्यक्ति नहीं पाता है उसके महत्त्व को नीचे गिराना अथवा उसका उपहास करना इस प्रवृत्ति का द्योतक है। यह प्रवृत्ति उस लोमड़ी की प्रवृत्ति के अनुसार है जिसने अंगूर के न पाने पर उन्हें खट्टे घोषित कर दिया। अपनी निराशा को ठण्डा करने के लिए बहुत से बच्चे उस वस्तु को व्यर्थ समझने लगते हैं जिन्हें वे नहीं पा सकते। इस भावना से उनका मानसिक तनाव कुछ कम हो जाता है।

(१०) **हवाई किले बनाना अथवा अत्यधिक दिवास्वप्न देखना**[4]—अरुचिकर वास्तविकता से अपने को खींच लेने के लिए व्यक्ति इस प्रवृत्ति को अपनाता है। यह प्रवृत्ति कैशोर में प्राय: अधिक देखी जाती है। परन्तु कुछ बच्चे जो कि वास्तविकता का सामना नहीं कर सकते वे भी इस प्रवृत्ति को अपना बैठते हैं। बचपन में इस प्रवृत्ति का होना स्वाभाविक है। परन्तु इसकी अत्यधिकता वांछित नहीं।

(११) **चिन्तित रहने की प्रवृत्ति**[5]—कभी-कभी यह प्रवृत्ति वास्तविक भय से आ सकती है, परन्तु दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए भी कभी-कभी बालक इस प्रवृत्ति को अपनाता है। इससे बालक अनायास दुखी रहा करता है और अपना व्यक्तित्व अव्यवस्थित बना डालता है।

(१२) **विरोध की भावना**[6]—यह भावना प्राय: सभी बालकों में पाई जाती है; परन्तु जब यह बहुत दिन तक, जैसे आठवें या दसवें वर्ष की अवस्था तक भी चलती रहती है तो इसे बुरा कहा जा सकता है। इस प्रवृत्ति का तात्पर्य यह होता है कि बालक को कई नियन्त्रणों के अन्दर रहना पड़ता है और वह उन्हें तोड़ना चाहता है।

(१३) **प्रौढ़ों से दूसरों की निन्दा करना**[7]—कुछ बच्चे अपने घर के बड़े लोगों से दूसरों की निन्दा किया करते हैं और इसमें अपनी बड़ाई समझते हैं। यदि प्रौढ़ लोग इस निन्दा पर ध्यान देते हैं तो उनकी इस प्रवृत्ति को और प्रोत्साहन मिलता है।

1. Feelings of martyrdom 2. Martyr. 3. The sour-grapes attitude. 4. Building castles in the air or Excessive day-dreaming. 5. The State of general anxiety. 6. Negativism. 7. Playing the Tattle tale.

दूसरों के विषय में बातों का पता लगाने का कुछ प्रौढ़ लोग बालकों की इस प्रवृत्ति को साधन बना लेते हैं। परन्तु साथ ही, उन्हें यह पता नहीं रहता की वे बालकों को कितनी बुरी आदत दे रहे हैं।

(१४) **विदूषक[1] बनना**—दूसरों के सामने विदूषक का काम करना एक बहुत छोटे बच्चे के लिए अच्छा हो सकता है, क्योंकि उससे सबका मनोरंजन होता है। परन्तु यदि यह आदत बाद में भी देखी जाती है तो बालक को मूर्ख का विशेषण दिया जाता है।

व्यक्तित्व के माप[2]

व्यक्तित्व का मापना बड़ा कठिन है, और छोटी अवस्था में तो यह और भी कठिन है। परन्तु यह जानना लाभप्रद है कि बालक का व्यक्तित्व-विकास कैसा चल रहा है और उसी उम्र के अन्य बालकों की तुलना में बालक का व्यक्तित्व कैसा है तथा उसके व्यक्तित्व में अस्वस्थता के कौन-कौन से लक्षण हैं। वस्तुतः बच्चों के व्यक्तित्व-माप से इन्हीं सब बातों का कुछ पता चल सकता है। बालकों के व्यक्तित्व के अध्ययन के लिए कई विधियों का सहारा लिया गया है। कुछ विधियाँ बच्चे के व्यक्तित्व के विषय में अधिक से अधिक बातों का चित्र खींचना चाहती हैं और कुछ विधियाँ व्यक्तित्व के विभिन्न क्षेत्रों का वस्तुनिष्ठ[3] माप करना चाहती हैं। व्यक्तित्व-माप के कुछ सबसे अधिक प्रचलित विधियों की ओर नीचे संकेत किया जा रहा है।

अत्यन्त कठिन

श्रेणी मूल्यांकन[4]

श्रेणी मूल्यांकन-विधि का प्रयोग बालक के व्यक्तित्व के अध्ययन में उन व्यक्तियों द्वारा किया जाता है जो बालक को इस प्रकार जानते हैं कि उनके बारे में कुछ निर्णय दे सकें। इस विधि में कुछ ऐसे प्रश्न पूँछे जाते हैं जिससे व्यक्तित्व के विविध लक्षणों के बारे में पता चल जाय। उदाहरणार्थ नीचे एक नमूना दिया जा रहा है :—

क्या बालक शीघ्र क्रोध में आ जाता है या देर में ?

↓	↓	↓	↓	↓
साधारण सी साधारण बात पर शीघ्र क्रोध	दूसरों की बातों का शीघ्र प्रभाव नहीं	कभी-कभी क्रोध में आ जाना	क्रोध शीघ्र ही चला जाता है	क्रोध अधिक देर तक रहता है।

जो लक्षण बालक के व्यक्तित्व की ओर अधिक संकेत करते हैं उन पर चिन्ह

1. Clowning. 2. Measurements of Personality. 3. Objective Measurement. 4. Rating scales.

लगा दिया जाता है। बाद में ये चिन्ह गुणाङ्कों में परिणित कर लिये जाते हैं। श्रेणी-मूल्याङ्कन विधि के प्रयोग के लिये विभिन्न परिस्थितियों में बालक का पूर्व अध्ययन किए रहना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा उपयुक्त बातों के सहारे उपयुक्त लक्षणों को ठीक-ठीक नहीं पहचाना जा सकता।

प्रश्नावली विधि[1]

प्रश्नावली विधि में व्यक्तित्व के लक्षणों से सम्बन्धित विभिन्न प्रश्नों की एक सूची होती है। इन प्रश्नों के उत्तर 'हाँ' या 'नहीं' के रूप में दिया जाता है। इन उत्तरों के सहारे बालक के व्यक्तित्व के बारे में कुछ अनुमान किया जाता है। बच्चों के व्यक्तित्व के माप के लिए 'कैलिफोर्निया टेस्ट ऑव परसानिलिटी[2]' का बहुत प्रयोग किया जाता है। इस टेस्ट का संगठन निम्नलिखित रूप-रेखा के आधार पर किया जाता है :—
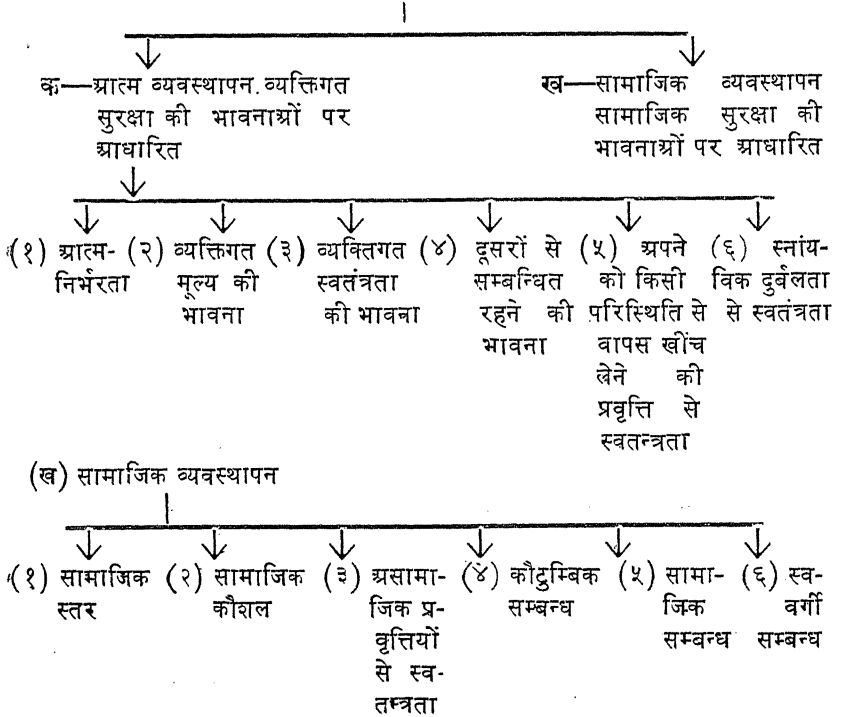
1. Questionnaries Method. 2. The California Test of Personality.

उपर्युक्त बारह बातों के आधार पर व्यक्तित्व के विविध लक्षणों से सम्बन्धित प्रश्न बनाये जाते हैं (इन बारह बातों के आधार पर केवल बालकों के ही व्यक्तित्व की परीक्षा नहीं की जाती वरन् किसी भी अवस्था के व्यक्ति के व्यक्तित्व का अध्ययन किया जा सकता है) । इन बारह बातों के प्रत्येक क्षेत्र में ऐसे प्रश्न बनाये जाते हैं जिनके उत्तर से बालक के व्यक्तित्व सम्बन्धी लक्षण का पता चल जाय । किण्डर-गार्टेन स्कूल के बच्चों के लिए निर्मित कुछ प्रश्नों के नमूने नीचे दिये जा रहे हैं :—

आत्म निर्भरता

क्या भोजन करते समय तुम्हें दूसरों की सहायता की आवश्यकता होती है ? हाँ/नहीं

असामाजिक भावनाओं से स्वतन्त्रता

क्या घर पर कोई ऐसा नीच व्यक्ति है जिसके व्यवहार से तुम्हें क्रोध आ जाता है ? हाँ/नहीं

क्या तुम दूसरे बालकों को धक्का देकर हटा देते हो ? हाँ/नहीं

कौटुम्बिक सम्बन्ध

क्या तुम अपना घर छोड़ कर कहीं अन्यत्र रहना चाहते हो ? हाँ/नहीं

क्या तुम यह सोचते हो कि तुम्हें घर पर कोई प्यार नहीं करता ? हाँ/नहीं

व्यवहार के कुछ नमूनों का माप[1]

श्रेणी मूल्यांकन अथवा प्रश्नावली विधियों द्वारा छोटे बच्चों से प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर पाना अत्यन्त कठिन है । दूसरे, इन विधियों में अध्ययन-कर्त्ता के व्यक्तित्व का भी प्रभाव आ सकता है । बच्चों के व्यक्तित्व के अध्ययन में इन दोषों से बचने के लिए व्यवहार के कुछ नमूनों को अध्ययन किया जाता है । चलचित्र की सहायता से बालक के शरीर के विभिन्न आसनों के चित्र खींच लिए जाते हैं । इस विधि के प्रयोग में उल्फ ने देखा है कि प्रकाशन के सभी रूपों से व्यक्तित्व-सम्बन्धी कुछ लक्षणों का अनुमान लगाया जा सकता है ।

आरोपणात्मक विधियाँ[2]

व्यक्तित्व के अध्ययन में आरोपणात्मक-विधि का प्रयोग इस विश्वास से किया जाता है कि स्वतन्त्र और अनवरोधित परिस्थितियों में बालक अपने व्यक्तित्व

1. Measures of Behaviour Samplings. 2. Projective Techniques.

के लक्षणों का ठीक-ठीक प्रकाशन करता है। रोर्श्चाच द्वारा निर्मित स्याही के दस बिन्दुओं का प्रयोग इस विधि में अत्यधिक किया जाता है। बच्चे से यह पूछा जाता है कि बिन्दुओं में वह क्या देखता है। जो कुछ वह कहता है उससे उसमें वर्तमान 'संवेग', 'मनोवृत्ति' तथा किसी विशिष्ट मानसिक अवस्था को पहचानने का प्रयत्न किया जाता है। तदनुसार उसके व्यक्तित्व के कुछ लक्षणों का अनुमान किया जाता है।

रोर्श्चाच विधि

रोर्श्चाच विधि के अतिरिक्त कुछ अन्य[1] आरोपणात्मक विधियों का भी निर्माण किया गया है। मनोवैज्ञानिकों का ध्यान इन विधियों की ओर विशेष रूप से आकर्षित हुआ है। इन विधियों में विषयी के सामने कुछ संदिग्ध परिस्थितियाँ रक्खी जाती हैं। इन परिस्थितियों के अर्थ को ठीक-ठीक न समझ सकने के कारण विषयी अपनी प्रतिक्रियाओं के प्रदर्शन में सामाजिक बन्धनों अथवा परम्पराओं द्वारा प्रभावित नहीं होता। फलतः वह अपने स्वभाव का प्रदर्शन पूरी स्वतन्त्रता से करता है। इस विधि की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें विषयी ठीक उत्तरों से अवगत नहीं रहता। अतः वह किसी प्रकार का धोखा नहीं दे सकता। इस विधि में विषयी को कई प्रकार के कार्य करने को कहे जाते हैं,—जैसे किसी अपूर्ण कहानी को पूरा करना, चित्र से कहानी बनाना तथा किसी वस्तु को देखकर जो मन में आये उसे कह डालना, आदि, आदि। इस प्रकार व्यक्ति के कुछ प्रतिक्रियाओं का अध्ययन कर उसके व्यक्तित्व के लक्षणों को समझने की चेष्टा की जाती है।

स्वभाव का प्रदर्शन पूरी स्वतन्त्रता से

---

1. लेखक द्वारा रचित 'मनोविज्ञान' प्रथम सं०, पृष्ठ २५७, आगरा बुक स्टोर, आगरा १९५३।

१७
नैतिक विकास

नैतिकता का स्वरूप

समाज के अनुसार इसके स्वरूप में विभेद

आचरण के लिए समाज द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार चलना नैतिकता कही जा सकती है। अतः विभिन्न समाज द्वारा आचरण के लिए निर्धारित विभिन्न नियमों के अनुसार नैतिकता के स्वरूप में कुछ भेद पाया जा सकता है। इस प्रकार एक ही समाज के विभिन्न वर्गों की नैतिकता के स्वरूप में भी विभेद पाया जा सकता है। अच्छे तथा बुरे व्यवहार-सम्बन्धी किसी वर्ग के विचार के अनुसार ही यह निर्णय किया जा सकता है कि उस वर्ग के व्यक्तियों के लिए नैतिक व्यवहार क्या है ?

अच्छे नैतिक विकास के लिए आवश्यक बातें

अच्छे नैतिक विकास के लिए कुछ बातों की आवश्यकता होती है। इनकी ओर ब्रेकेनरिज और विनसेन्ट[1] ने इस प्रकार संकेत किया है :—

१—यथासम्भव अच्छा स्वास्थ्य।

२—संवेगात्मक सुरक्षा; दूसरों से प्यार और आदर पाने की प्रवृत्ति।

३—विभिन्न भावनाओं के प्रकाशन के लिए स्वस्थकर साधनों की प्राप्ति, जिससे व्यक्ति अवांछित मार्ग की ओर न झुके।

४—कुछ आत्म-नियन्त्रण रखना जिससे बचपन जैसी प्रवृत्तियों पर आवश्यक रोक रक्खा जा सके।

५—सामाजिक दृष्टिकोण का सदा विस्तार होते रहना जिससे व्यक्ति दूसरों के प्रति सहानुभूति और सहिष्णुता दिखला सके और दूसरों के अधिकारों और सुविधाओं पर ध्यान दें।

---

1. *Breckenridge*, M. E. and *Vincent*, E. I. : *Child Development*, p. 470, Saunders, Philadalphia, 1943.

६—'उचित वस्तु' को ही प्राप्त करने के लिए प्रेरणा का रहना और 'उचित कार्य' को ही करने में सन्तोष प्राप्त करना ।

नैतिकता सीखी जाती है

शिशु न तो नैतिक होता है और न अनैतिक, वस्तुतः वह तो विनैतिक होता है, क्योंकि उसका व्यवहार नैतिक नियमों द्वारा अनुशासित नहीं होता । नैतिक व्यवहार दिखलाने के पहले बालक को यह सीखना चाहिए कि उसका समाज किस वस्तु को अच्छा और किस को बुरा कहता है । यह सब धीरे-धीरे वह अपने मित्रों, शिक्षकों तथा माता-पिता से सीखता है । यदि समाज द्वारा मान्य व्यवहार बालक के लिए सुखद है तो उसे वह शीघ्र सीख लेगा और उस प्रकार के व्यवहार दिखलाने की उसकी आदत हो जायगी । अतः उचित पथ-प्रदर्शन और शिक्षण से माता-पिता तथा शिक्षकों को यह देखना चाहिए कि सामाजिक सन्दर्भ में बालकों के अनुभव यथा सम्भव सुखद हों, तभी वे सरलता से नैतिकता का पाठ सीख सकेंगे । यदि बालक को कोई कार्य करने के लिए विवश किया जाता है तो वह कुछ भी न सीख सकेगा । अतः स्वाभाविक रूप में ही उसे सब कुछ सिखाने का प्रयत्न करना चाहिए ।

बालक विनैतिक

नैतिक विकास के अंग

नैतिक विकास के दो अंग किये जा सकते हैं; १—नैतिक व्यवहार[1] का विकास और, २—नैतिक प्रत्यय[2] का विकास । इन दोनों अंगों पर हम नीचे विचार करेंगे ।

नैतिक व्यवहार का विकास

सामाजिक रीति-रिवाज के अनुसार व्यवहार दिखा पाना बच्चा कई वर्षों में सीख पाता है । यदि उसके ऊपर मनोवैज्ञानिक नियन्त्रण रखा गया और उसके विविध अनुभव सुखद बनाये गये तो वह नैतिक व्यवहार दिखलाना शीघ्र ही सीख लेगा । ठीक और गलत का ज्ञान आ जाने से ही बालक नैतिक व्यवहार दिखलाने में समर्थ नहीं होता । आवश्यक ज्ञान देने के बाद उदाहरण द्वारा यह दिखलाना चाहिए कि उस ज्ञान को कार्यान्वित कैसे किया जाय । कुछ

विशिष्ट परिस्थितियों के संदर्भ में

1. Development of Moral Behaviour. 2. Development of Moral Concepts.

विशिष्ट परिस्थितियों[1] के संदर्भ में ही बालक को नैतिक व्यवहार सिखलाया जा सकता है।

व्यवहार-सम्बन्धी आदर्शों में विरोध का न होना

नैतिक व्यवहार सीखने के लिए सर्व प्रथम बालक को यह सीखना चाहिए कि घर पर उचित व्यवहार कैसे दिखलाना चाहिए। इसके बाद स्कूल जाने लगने पर उसे स्कूल के नियमों के अनुसार नैतिक व्यवहार दिखलाने का प्रयत्न करना चाहिए। तब उसे यह सीखना चाहिए कि खेल के मैदान में नैतिक व्यवहार का तात्पर्य क्या होता है। यदि घर, स्कूल, और खेल के मैदान के नैतिक नियम समान हुये अर्थात यदि व्यवहार-सम्बन्धी उनके आदर्शों में विरोध न हुआ तो बालक शीघ्र ही नैतिक व्यवहार सीख लेगा। यदि उनमें कुछ विरोध होता है तो बालक विस्मित होता है कि एक परिस्थिति में उसके किसी व्यवहार की क्यों प्रशंसा की जाती है और दूसरी परिस्थिति में उसी प्रकार के व्यवहार की क्यों निंदा की जाती है। ऐसी स्थिति में नैतिक प्रत्यय का विकास करना उसके लिए बड़ा कठिन हो जाता है। उदाहरणार्थ, यदि बालक को चुपके-चुपके सन्दूक से मिठाई निकाल कर खाने की सुविधा दे दी जाती है तो वह यह नहीं समझ पाता कि दूसरे बालकों की पेन्सिलें चुराने पर उसे क्यों दण्ड दिया जाता है। कहने का अर्थ यह है कि 'चोरी करना' प्रत्येक स्थिति में अनैतिक मानना चाहिए, चाहे वह घर में, स्कूल में अथवा खेल के मैदान में हो।

संयोग पर नहीं छोड़ना

नैतिक व्यवहार का सीखना संयोग पर नहीं छोड़ा जा सकता और न इसे बालक के प्रयत्न[2] और भूल—सम्बन्धी अनुभवों पर ही छोड़ा जा सकता है। बालक को नैतिक व्यवहार सिखलाने के लिए चार प्रमुख सिद्धान्तों पर विशेष ध्यान देना चाहिए :—१— नैतिक व्यवहार को समाज द्वारा स्वीकृत नियमों पर चलना चाहिए, २—बच्चे को स्पष्टतः यह बतलाना चाहिए कि क्या उचित है और क्या अनुचित; ३—समझने योग्य हो जाने पर बालक को यह बतलाना चाहिए कि क्यों कुछ बातें ठीक मानी जाती हैं और दूसरी गलत; ४—बच्चों के पथ-प्रदर्शन का भार जिनके ऊपर है उन्हें यह देखना चाहिए कि उचित व्यवहार के साथ बच्चों को सुखद अनुभव मिलते हैं और अनैतिक व्यवहार के साथ उसे दुखद अनुभव मिलते हैं। अर्थात् नैतिक व्यवहार पर

1. *Hartshorne, H.* and *May, M. A.* : Studies in the Nature of Character, 3 Volumes, Macmillan, New York, 1928.

2. Trial and Error Experiences

बच्चे को पुरस्कार देना चाहिए, अथवा उसकी प्रशंसा करनी चाहिए और अनैतिक व्यवहार पर उसे दण्ड देना अथवा उसकी निन्दा करनी चाहिए।

कभी छूट न मिले

किसी भी आदत-निर्माण का यह मनोवैज्ञानिक नियम है कि इसमें कभी छूट नहीं देनी चाहिए, अर्थात् आदत को दृढ़ करने के लिए एक अवसर को भी न खोना चाहिए। नैतिक आदतों के सम्बन्ध में यही नियम लागू करना चाहिए। नैतिक शिक्षा के क्रम में कभी विरोध न दिखलाई पड़े। जो बात आज गलत मानी जाती है उसे कल भी गलत कहना चाहिए। यदि इस स्थिरता की रक्षा न की गई तो बालक की समझ में कुछ न आयेगा इस स्थिरता के अभाव में बहुत से बालक समस्या बालक हो जाते हैं, क्योंकि वे नहीं समझ पाते कि उनसे क्या अपेक्षा की जा रही है।

नैतिक प्रत्यय का विकास

भाषा-कौशल में निपुणता के साथ

नैतिक प्रत्ययों का सीखना नैतिक विकास का दूसरा अंग है। इसमें बालक शाब्दिक रूप में उचित और अनुचित के सिद्धान्तों को सीखता है। बहुत छोटे बालक के लिए यह समझना कठिन होता है। जब बालक में इतनी मानसिक शक्ति आ जाती है कि वह विभिन्न बातों का विश्लेषण और संश्लेषण कर सके तब वह इन सब सिद्धान्तों को समझ सकता है। तभी वह एक परिस्थिति में सीखे हुये आचरण-नियमों को दूसरी परिस्थिति में लागू कर सकता है। भाषा-कौशल में निपुणता प्राप्त करने के साथ नैतिक प्रत्ययों को समझने की शक्ति भी बालक में बढ़ जाती है, क्योंकि तब अमूर्त सिद्धान्तों और वास्तविक परिस्थितियों के परस्पर-सम्बन्ध को समझना उसके लिए पहले से सरल हो जाता है।

व्यक्तिगत अनुभव

अपने कार्यों के फलस्वरूप बालक अपने आचरण को अच्छा या बुरा मानता है। बड़ा होने पर बालक को यह समझना चाहिए कि उसके कार्यों का सामाजिक फल क्या होगा। उसे अब यह सोचना चाहिए कि उसके किसी आचरण के बारे में उसके समूह के लोग क्या सोचेंगे। समूह के सम्पर्क में आने से बालक को बड़ा लाभ होता है, क्योंकि इस सम्पर्क से वह यह समझ पाता है कि उसके व्यवहार के बारे में दूसरे क्या सोचते हैं। अपने अथवा दूसरों के कार्यों के औचित्य अथवा अनौचित्य को समझ सकने की योग्यता स्वयं अपने व्यक्तिगत अनुभवों से आती है, न कि नैतिक सिद्धान्तों पर दूसरों का प्रवचन सुनने से।

बच्चों के नैतिक प्रत्ययों के सम्बन्ध में कई परीक्षणात्मक अध्ययनों से यह पता चला है कि नैतिक प्रत्ययों और बुद्धि तथा प्रौढ़ता में घनिष्ठ सम्बन्ध है। मैकाले[1] और वाटेकिन्स ने २५०० बालकों से सबसे अधिक पापपूर्ण बातों की सूची बनाने के लिए कहा। उन्होंने देखा कि नव वर्ष की उम्र तक बच्चों के प्रत्यय मूर्त और निश्चित होते हैं। इस अवस्था तक अमूर्त बातों को समझना उनके लिए कठिन होता है। नव वर्ष के बच्चों के लिए सबसे अधिक पापपूर्ण बातों का सम्बन्ध माता की अवज्ञा करना अथवा छोटे पशुओं को चोट पहुँचाना था। नव वर्ष के बाद नैतिक विकास का घेरा कुछ और बढ़ जाता है। उदाहरणार्थ; अब 'बच्चे चोरी करने' को बुरा मानते हैं, चाहे जिस वस्तु की चोरी की जाय। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अब उनमें 'चोरी करने' का 'सामान्य प्रत्यय'[2] बन गया है। बच्चों के उत्तरों से उचित और अनुचित के ज्ञान के स्रोत का अनुमान किया गया और यह देखा गया कि वे इसका ज्ञान बहुधा अपनी माँ से सीखते हैं। उनके उत्तरों में पिता का ओर संकेत बहुत कम ही मिला।

बुद्धि और प्रौढ़ता से घनिष्ठ सम्बन्ध

नैतिक प्रत्यय और नैतिक व्यवहार में अन्तर

हार्टशोन[3] और मे द्वारा किए गए कुछ परीक्षणात्मक अध्ययनों से पता चलता है कि नैतिक प्रत्यय के होने से यह आवश्यक नहीं है कि व्यक्ति तदनुकूल नैतिक व्यवहार भी दिखलावे। हार्टशोन और मे ने देखा कि धोखा देने के अर्थ को समझ लेने पर विशिष्ट परिस्थिति के आने पर बच्चे अपने धोखा देने की प्रवृत्ति का संवरण नहीं कर सके। एक परीक्षा में ६३३ विद्यार्थियों को नकल करते पाया गया। इनमें ८९ प्रतिशत ने बतलाया कि वे जानते थे कि नकल करना धोखा देना है। अपराधी बालकों के सम्बन्ध में नैतिक प्रत्यय और नैतिक व्यवहार के अन्तर को अच्छी तरह समझा जा सकता है, क्योंकि ये लड़के बहुधा उचित और अनुचित का ज्ञान रखते हुए भी असामाजिक कार्यों में भाग लेते हैं। बार्टलेट[4] और हैरिस ने देखा कि हाई स्कूल के विद्यार्थियों तथा अपराधी बालकों

प्रत्यय अथवा ज्ञान के अनुकूल व्यवहार आवश्यक नहीं

1. *Maculay, E.*, and *Watkins, S. H.:* An Investigation into the developoment of the moral conceptions of Children, *Forum Education*, 4, 13-33, 92-108, 1926.

2. General Concept. 3. Ibid.

4. *Bartlett, E.* R. and *Harris, D. B.*, Personality Factors in Delinquency, *School and society*, 43, 653-656. 1935.

के नैतिक प्रत्ययों के ज्ञान में बड़ी समानता थी। वेबर[1] ने किसी जेल-स्कूल की १२८ लड़कियों से एक क्रम में १६ बुरी बातों की सूची बनाने ने लिए कहा। वेबर को उनकी सूचियों से ज्ञात हुआ कि उनमें उतनी ही नैतिक अन्तर्दृष्टि होती है जितनी कि विश्वविद्यालय की लड़कियों में होती है। इन सब निष्कर्षों का तात्पर्य केवल इतना ही है कि उचित और अनुचित का ज्ञान किसी को अनैतिक व्यवहार से रोकता नहीं; अर्थात् नैतिक प्रत्यय और नैतिक व्यवहार में अन्तर पाया जाता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि किसी वस्तु के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त कर लेने का तात्पर्य यह नहीं होता कि व्यक्ति तदनुकूल व्यवहार भी दिखलाएगा ही।

नैतिक विकास की अवस्थायें[2]

विकास की अन्य अवस्थाओं के सदृश् नैतिक विकास भी एक क्रम में चलता है। अतः बालकों के सम्बन्ध में यह पूर्व अनुमान किया जा सकता है कि किस अवस्था पर कौन से नैतिक गुण बालक में अपेक्षित किये जा सकते हैं। अपने नैतिक विकास के क्रम में बालक एक अवस्था से दूसरी अवस्था में बड़े धीरे-धीरे आता है। विकास की एक अवस्था महीनों तक भी चल सकती है। नीचे नैतिक विकास की केवल तीन प्रधान अवस्थाओं का संक्षेप में उल्लेख किया जायगा १—शैशव में अनैतिकता, २—प्रारम्भिक बचपन में नैतिकता, और ३—बचपन के अन्तिम दिनों में नैतिकता।

एक क्रम में

शैशव में नैतिकता[3]

इस अध्याय के प्रारम्भ में ही यह कहा जा चुका है कि शिशु न तो नैतिक होता है, और न अनैतिक—वह तो बिनैतिक[4] होता है। अतः उसे उचित और अनुचित कार्यों को सीखना है। समाज द्वारा स्वीकृत और अस्वीकृत नैतिक नियमों का अर्थ बालक के लिए कुछ नहीं होता। उसके व्यवहार स्वाभाविक प्रवृत्तियों द्वारा नियंत्रित होते हैं। सुख और दुख की अनुभूति के आधार पर वह किसी कार्य के औचित्य और अनौचित्य के विषय में निर्णय करता है। उसके कार्य से किसे लाभ अथवा हानि होती है इसकी उसे चिन्ता नहीं रहती। बिना बुरे परिणाम को जाने बच्चे के लिए यह समझना कठिन

सुखद या दुखद अनुभव के आधार पर भले और बुरे की पहचान

---

1. Quoted in *Child Development*, p 441, by Hurlock, E. B., Mc Grew Hill, New York, 1950.

2. Stages of Moral Development. 3. Morality during Infancy. 4. Non-moral.

हो जाता है कि उसका कोई कार्य बुरा है। वह सोचता है कि उसके व्यवहार का सम्बन्ध केवल उन्हींसे है, और जब तक उसे अपने किसी कार्य का अरुचिकर अनुभव नहीं मिलता तब तक उसमें सुधार लाना वह आवश्यक नहीं समझता।

पाश्चाताप की भावना नहीं

तीन या चार वर्ष की अवस्था से बच्चा कुछ-कुछ समझने लगता है कि जिसे लोग चाहते हैं वह कार्य अच्छा है, और जिसकी लोग निन्दा करते हैं वह कार्य बुरा है। इस समय दूसरों के प्रति किसी कर्तव्य की भावना उसमें नहीं रहती। अतः जो मन में आता है वही वह करता है। किसी को प्रसन्न करने की भावना उसमें नहीं रहती। उसके कार्य से यदि दूसरों को किसी प्रकार का दुख पहुँचता है तो उसमें पाश्चाताप की भावना नहीं आती।

शैशव में सम्पत्ति-अधिकार की भावना बच्चे में नहीं रहती। बच्चे को जो अच्छा लगता है उसे वह उठा लेता है। वह यह नहीं सोचता कि वह किसकी वस्तु है। दूसरे के खिलौने को अथवा किसी दुकान के खिलौने को वह बिना संकोच के उठा लेगा। यह सब करने में उसमें चोरी की भावना नहीं आती।

बचपन के प्रारम्भिक दिनों में नैतिकता[१]

तीसरे से छठे वर्ष के अन्दर नैतिक आचरण के कुछ मूल सिद्धान्तों से बच्चों का परिचय हो जाना चाहिए। इस काल में बच्चे से यह कहना आवश्यक नहीं है

औचित्य और अनौचित्य के कारण को न समझ सकना

कि कोई कार्य क्यों बुरा है, क्योंकि इस समय बच्चे की मानसिक प्रौढ़ता इतनी अधिक नहीं होती कि वह इन सब बातों को समझ सके। किसी अनुचित कार्य के करने पर उसे कैसा दण्ड मिलता है इसी के आधार पर किसी कार्य के अनौचित्य को वह समझता है। अतः उसके वातावरण के लोग जिस प्रकार के कार्य करने पर उसकी प्रशंसा करते हैं वह ऐसा ही करने का प्रयत्न करता है। इस समय उसकी नैतिकता का स्तर केवल यहीं तक रहता है। इस प्रकार कभी-कभी वह उचित कार्यों को करता है, परन्तु वह उनके औचित्य के कारण को नहीं समझता।

पाँच या छ वर्ष के हो जाने पर बच्चे में आज्ञाकारिता की आदत कुछ आ जानी चाहिए। 'अच्छा', 'बुरा', 'बहुत ठीक', 'शरारती', 'पाजीपन', इत्यादि शब्दों के प्रयोग से इस समय बच्चे को 'अच्छे' और 'बुरे' का कुछ विचार दिया जा सकता है।

1. Morality during Early Childhood.

नैतिक प्रत्यय और नैतिक व्यवहार का अन्तर इस काल में देखा जा सकता है। बच्चा स्वयं अच्छे और बुरे की ओर संकेत कर सकता है, परन्तु तदनुसार आचरण दिखलाने में वह असमर्थ हो सकता है। इस अवस्था पर वह प्रौढ़ों के अधिकार का विरोध करते हुये उनकी अवज्ञा कर सकता है।

बचपन के अन्तिम दिनों में नैतिकता[1]

समूह के नैतिक विचारों के अनुसार ही बचपन के अन्तिम दिनों में व्यक्ति के नैतिक विचार होते हैं। छठें वर्ष की उम्र से लेकर कैशौर आने के पूर्व तक बालक उसी प्रकार आचरण दिखलाने का प्रयत्न करता है जैसा कि उसका समूह उससे अपेक्षा करता है। दस या बारह वर्ष की अवस्था पर बालक नैतिक नियमों में निहित सिद्धान्तों को कुछ कुछ समझने लगता है। विभिन्न परिस्थितियों में अब वह नैतिक और अनैतिक व्यवहार के स्वरूप को कुछ हद तक समझ सकता है, परन्तु अब भी अपने कार्यों की नैतिकता को पूर्ण-रूपेण वह नहीं समझ सकता। अतः अब भी उसे दूसरों के ही निर्णय पर निर्भर रहना पड़ता है।

समूह का अनुकरण

दस बारह वर्ष के बाद बालक ज्यों-ज्यों बड़ा होता है वह 'न्याय' और 'आदर' के अर्थ को समझने लगता है। अब वह समझने लगता है कि झूठ बोलना, दूसरों की निन्दा करना, गाली देना, कायरता दिखलाना, दूसरों को सताना या हानि पहुँचाना, मित्रों को धोखा देना तथा दूसरों की वस्तुओं को ले लेना बुरा अर्थात् अनैतिक है। अतः जो झूठ बोलते हैं, धोखा देते, अथवा चोरी करते हैं उनसे वह घृणा करने लगता है।

न्याय और आदर को समझना

लर्नर[2] और मर्फी के अनुसार आठ से दस वर्ष की अवस्था में व्यक्ति नैतिकता के दोहरे स्तरों से अनुशासित होता है। उदाहरणार्थ माता और पिता के साथ अपने व्यवहार में बच्चे इस काल में दो सिद्धान्तों के अनुसार चलते हैं। वे पिता से बहुत डरते हैं, अथवा उनकी अवज्ञा की कल्पना वे शीघ्र नहीं करते। इसके विपरीत माता से वे कम डरते हैं, क्योंकि वे सोचते हैं कि माता उन्हें अधिक प्यार करती है और उनके दोषों पर वह विशेष ध्यान नहीं देती। इस

माता और पिता के लिए अलग-अलग स्तर

---

1. Morality during the late Childhood.

1. *Lerner*, E. and *Murphy*, L. : Methods of the study of personality in young children, Mongr. Soc. Res. *Child Develom.* 6. No. 4, 1941

भावनावश माता से झूठ बोलना अथवा उसे किसी बात में धोखा दे देना उनके लिए कठिन नहीं होता।

विनय[1]

व्यवहार के मान्य स्तरों के अनुसार चलने का तात्पर्य विनय के अनुसार चलना है। विनय के अनुसार चलने के लिए बालक को अपनी कुछ आदतें बनानी चाहिए। आदतें बनाने के सम्बन्ध में अथवा विनय के चार प्रधान सिद्धान्तों का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है:—

१—बालक को वांछित रूप में व्यवहार करना चाहिए। उसे अपने अवांछित व्यवहार को छोड़ देना चाहिए।

२—वांछित कार्यों से उसे सुख का अनुभव करना चाहिए, और अवांछित कार्यों से दुख।

३—उसे वांछित कार्यों को इस प्रकार करना चाहिए कि वे स्व-संचालित हो जाँय, अर्थात् उन्हें करने के लिए दूसरे के आदेश और नियन्त्रण की आवश्यकता न हो।

४—अवांछित व्यवहार के स्थान पर वांछित व्यवहार दिखलाना उसे सीख लेना चाहिए।

प्रशंसा और पुरस्कार के रूप में अस्यात्मक[2] अभिप्रेरणा, नात्स्यात्मक[3] अभिप्रेरणा की अपेक्षा बालक को नैतिकता की ओर खींचने के लिए अधिक उपयुक्त है।

अस्यात्मक अभिप्रेरणा

परन्तु बालक के नैतिक विकास में दण्ड[4] के स्थान की उपेक्षा नहीं की जा सकती। किसी कार्य का सम्भावित फल क्या होगा इसे समझना नैतिक व्यवहार के लिए आवश्यक है। इस समझ के आधार पर बालक अपने कार्य के औचित्य और अनौचित्य को समझने का प्रयत्न करेगा। इस प्रकार वह स्वयं यह निश्चय कर सकेगा कि उसका कार्य अच्छा अथवा बुरा है। ऐसा निश्चय कर सकने का अर्थ यह है कि बालक विनय के नियमों के अनुसार कार्य करने में समर्थ हो रहा है, अर्थात् उसका व्यवहार नैतिकता की ओर उन्मुख है।

विनय-नियमों के प्रति बच्चों की प्रतिक्रियायें

विनय के नियमों का प्रयोग बालक के सम्बन्ध में इस प्रकार करना चाहिए कि वह उनके (अर्थात् विनय के नियमों के प्रति) तथा प्रौढ़ों के प्रति स्वस्थप्रद भावना अपना सके। मनोवैज्ञानिक परीक्षणों से यह पता चला है कि शारीरिक दण्ड के

---

1. Discipline 2. Positive Motivation. 3. Negative Motivation. 4. Punishment.

अत्यधिकता से बच्चों में वास्तविकता से भागने की तथा प्रौढ़ों के ध्यान और प्रेम पर निर्भरता की प्रवृत्ति आ जाती है। अत्यधिक डाँटने और डराने से बच्चों का व्यक्तित्व अनाकर्षक होता जाता है। बच्चों से प्रायश्चित कराने अथवा उन्हें धमकियाँ दिखलाने का फल अच्छा नहीं होता। इससे उनमें सामाजिकता की प्रवृत्ति घट जाती है और उनकी आत्म-निर्भरता कम हो जाती है। घर में कड़े नियन्त्रण और विनय का बालक के व्यक्तित्व पर[1] क्या प्रभाव पड़ता है इस ओर वाटसन[1] ने इस प्रकार उल्लेख किया है :—

१—पिता के प्रति अरुचि। यह उनके रूखे उत्तर से जान पड़ता है।

२—पिता से झगड़ा करने की प्रवृत्ति अपनाने से शिक्षक के प्रति भी बालक का रूखा रुख अपनाना और यह समझना कि शिक्षक उसके प्रति अन्याय करते हैं। इस प्रवृत्ति के कारण वे मित्रों से भी बहुधा झगड़ा कर बैठते हैं।

३—छोटे बच्चों की तरह दूसरों पर निर्भर रहने की प्रवृत्ति अपनाना। अपने धन्धे के विषय में स्वयं निर्णय न कर सकना। दूसरों की बातें जानने के लिए अवांछित उत्सुकता।

४—सामाजिक कुव्यवस्थापन।

५—चिन्ता तथा मन में पाप-भावना लाना।

डॉलगर[2] और गिनेड्स ने बच्चों के अपने अन्वेषणों में देखा कि बुरी आर्थिक और सामाजिक स्थिति वाले बच्चे अच्छी आर्थिक और सामाजिक स्थिति वाले बच्चों की अपेक्षा विनय-समस्याओं के समाधान में अपने बड़ों की बातों पर अधिक ध्यान देते थे। वे अपने बुरे आचरण के सम्बन्ध में अपने उत्तरदायित्व को शीघ्रतर स्वीकार कर लेते थे। दिये हुये दण्ड के औचित्य को स्वीकार करने के लिए वे अधिक उन्मुख थे।

दण्ड और पुरस्कार

दण्ड

विनय-स्थापना के हित में दण्ड के दो मुख्य उपयोग माने जा सकते हैं :—

---

1. *Waston, G.* : A comparison of the effects of lax versus strict home training, *Journal of Social Psychology*, 5, 102—105, 1934.

2. *Dolger, L.* and *Ginnades, J.* : Children's attitude toward discipline as related to socio-economic status, *Journal of Experimental Education*. 15, 161-165, 1946.

(१) दण्ड से बालक असामाजिक व्यवहार दिखलाने से अवरोधित होता है; और (२) दण्ड से बालक को यह पता चल सकता है कि समाज की दृष्टि में क्या उचित और अनुचित है। यदि दण्ड के इस उपयोग से हमें लाभ उठाना है तो बच्चों को दण्ड देते समय अभिभावकों को दण्ड के औचित्य पर पूरा ध्यान देना चाहिए। अपना क्रोध उतारने के लिये अथवा किसी प्रकार का बदला लेने के लिये बच्चों को कभी दण्ड नहीं देना चाहिए। जब कभी बालक कोई गलत काम करे तो उसे किसी न किसी प्रकार का दण्ड देना ही चाहिये। दण्ड का अर्थ केवल शारीरिक दण्ड से ही नहीं होता। यदि कोई गलत कार्य करने पर बालक दण्ड पाता है तो कोई गलत काम करने के पहले उसे अवश्य ही सम्भावित दण्ड का ध्यान आयेगा।

दण्ड के औचित्य पर ध्यान देना

बालक द्वारा किये हुये किसी कार्य के सम्बन्ध में सर्व प्रथम उसके ध्येय को समझ लेना चाहिये। बालक के ध्येय को समझे बिना ही उसे दण्ड दे डालना उसके प्रति अन्याय है, क्योंकि बहुत सम्भव है कि उसका ध्येय किसी को हानि या दुख पहुँचाने का न रहा हो और अकस्मात् ही उसका कार्य असामाजिक हो गया। अतः बच्चे को दण्ड देने के पूर्व उसके व्यवहार तथा उसमें निहित उद्देश्यों का विश्लेषण अवश्य कर लेना चाहिए। दण्ड देने के बाद जब बालक समझने के भाव में हो तो उसे दिये हुये दण्ड के कारण और औचित्य को समझा देना चाहिए। इससे दण्ड का शैक्षिक महत्त्व बढ़ जायगा और बालक यह न समझेगा कि उससे किसी प्रकार का व्यक्तिगत बदला लिया गया है।

बालक के ध्येय को समझना आवश्यक

शारीरिक दण्ड[1]

बहुत से प्रौढ़ों की दृष्टि में थप्पड़ मारना या पीटना ही बच्चों के असामाजिक व्यवहार को दूर करने का सबसे अच्छा साधन है। मनोवैज्ञानिकों की धारणा है कि शारीरिक दण्ड सभी प्रकार के दण्डों में सबसे कम सन्तोषजनक है, क्योंकि इससे बालक दण्ड के औचित्य तथा अपने असामाजिक व्यवहार के समझने में प्रायः असमर्थ रहता है। शारीरिक दण्ड बहुधा क्रोध में ही दिया जाता है। इसलिये शारीरिक दण्ड पाने से बालक दण्ड देने वाले से घृणा करने लगता है। सम्पूर्ण परिस्थिति में दण्ड देने वाले के क्रोध को ही बालक अधिक व्यक्त देखता है। अतः वह इस क्रोध से ही अपने दुखद अनुभूति को सम्बन्धित कर बैठता है और उस क्षण के लिये अपने असामाजिक

सबसे कम सन्तोषजनक

1. Corporal punishment.

कार्य को अपनी दुखद अनुभूति का कारण नहीं मानता। इस प्रकार दण्ड का शैक्षिक महत्त्व नष्ट हो जाता है। यदि शारीरिक दण्ड देना आवश्यक ही हो तो इसे यथा-सम्भव बालक के बुरे कार्य के क्रम में ही देना चाहिये। इसे बाद के लिये स्थगित नहीं करना चाहिए। जब दण्ड देर से दिया जाता है तो दण्ड और अपने बुरे कार्य के परस्पर-सम्बन्ध को समझना बालक के लिए कठिन हो जाता है; और इस प्रकार दण्ड का सारा महत्त्व ही नष्ट हो जाता है।

दण्ड के अन्य स्वरूप[1]

यदि बालक द्वारा किये हुये बुरे कार्य से दण्ड का सीधा सम्बन्ध नहीं है तो उसका बालक के ऊपर विशेष प्रभाव नहीं पड़ेगा। इसलिए डाँट-फटकार, कुछ सुविधाओं से बालक को वंचित करने तथा खेल के साथियों से उसको अलग कर देने का महत्त्व कुछ भी न होगा यदि इनका बालक द्वारा किये हुये काय से सम्बन्ध नहीं है। उदाहरणार्थ; यदि बालक अपने खेल के सम्बन्ध में ही कोई अनुचित कार्य कर बैठता है तो उसे खेल के साथियों से कुछ समय के लिए दण्ड-स्वरूप अलग कर देना उपयुक्त हो सकता है; परन्तु इसके लिए उसे उसकी सुविधाओं से कुछ समय के लिए वंचित कर देना उतना उपयुक्त नहीं हो सकता। कुछ शिक्षक या अभिभावक कुछ बुरे कार्यों के लिए दण्ड के स्वरूप को पहले से ही निश्चित किये रहते हैं। उदाहरणार्थ; फर्श पर स्याही गिरा देने, छोटे बच्चे को पीटने तथा कोई झूठ बोलने आदि के लिए "कोने में कुछ देर तक खड़ा रखना" किसी अभिभावक अथवा शिक्षक द्वारा बालक के लिए पूर्व निश्चित किया हुआ दण्ड हो सकता है। इस प्रकार के दण्ड से विशेष लाभ नहीं। जैसा कसूर हो उसी के अनुसार दण्ड देना चाहिए, जैसे फर्श पर स्याही गिरा देने के लिए 'कोने में खड़ा करने' के स्थान पर यदि बालक को स्वयं फ़र्श को स्वच्छ कर देने के लिए कहा जाय तो इसका अधिक शैक्षिक महत्त्व होगा। इसी प्रकार यदि बालक जान बूझ कर किसी दूसरे बालक का खिलौना नष्ट कर देता है तो उसे अपने खिलौने में से एक खिलौना दण्डस्वरूप दूसरे बालक को देने के लिए कहा जा सकता है। यदि वह किसी दूसरे बालक का बाल पकड़ कर खींच लेता है तो उसका भी बाल खींच कर यह उसे दिखलाना चाहिए कि बाल खींचने से कितना कष्ट होता है।

किये हुये बुरे कार्य से दण्ड का सीधा सम्बन्ध हो

पुरस्कार

बालक को विनयशील बनाने में पुरस्कार का भी बड़ा भारी महत्त्व है। यदि

---

1. Other forms of punishment.

बालक से किसी अच्छे कार्य की अपेक्षा की जाती है तो हमारा यह भी प्रयत्न होना चाहिए कि हमारे व्यवहार से बालक उस सामाजिक कार्य की उपयुक्तता, तथा औचित्य को समझे। उसे यह समझाने के लिए हम प्रशंसा अथवा पुरस्कार का सहारा ले सकते हैं, क्योंकि पुरस्कार और प्रशंसा से बालक के सामाजिक कार्यों को उसकी कुछ सुखद अनुभूतियों से जोड़ा जा सकता है। पुरस्कार और प्रशंसा का तात्पर्य कृत्रिम पुरस्कार अथवा 'घूस' से नहीं समझना चाहिए अन्यथा बालक में एक कुप्रवृत्ति आ जायगी। जिस प्रकार दण्ड का सम्बन्ध किये हुये बुरे कार्य से होना चाहिए उसी प्रकार पुरस्कार का भी उस कार्य से होना चाहिए जिसे हम चाहते हैं कि बालक बार-बार दिखलाए, अर्थात् जिसके बारे में हम बालक की स्थाई आदत बनाना चाहते हैं। बालक को उसके अच्छे कार्य के लिए कदाचित् सबसे सरल और सबसे अधिक प्रभावशाली पुरस्कार उसे 'सामाजिक मान्यता'[1] प्रदान करना है। 'सामाजिक मान्यता' को सदा अच्छे कार्य से सम्बन्धित किया जा सकता है। जैसे:—"अखिलेश ! तुमने यह काम बहुत ही अच्छा किया, शाबाश !!!"

कृत्रिम पुरस्कार अथवा घूस नहीं, सामाजिक मान्यता

नैतिक विकास पर प्रभाव डालने वाली कुछ बातें[2]

बालक के नैतिक विकास पर उसके वातावरण का बड़ा प्रभाव पड़ता है। वातावरण की जिन बातों से उसका नैतिक विकास प्रभावित होता है उनमें से कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण बातों की ओर नीचे संकेत किया जा रहा है :—

कुटुम्ब[3]

कुटुम्ब के लोगों का वालक के नैतिक विकास पर चार प्रकार का प्रभाव पड़ता है :—

१—कुटुम्ब का व्यवहार बालक के लिए आदर्श स्वरूप होता है। अतः वह उसके अनुकरण की चेष्टा में रहता है।

२—पुरस्कार, प्रशंसा तथा दण्ड के सहारे कुटुम्ब बालक को सामाजिक व्यवहार दिखलाना सिखलाता है।

३— बुरे कार्य के अनुसार दण्ड देकर, कुटुम्ब बालक को उसके बुरे कार्य की कठोरता को समझा सकता है।

1. Social Recognition. 2. Factors Influencing Moral Development. 3. Family.

४—अच्छे कार्य को करने के लिए कुटुम्ब बालक को अनेक प्रकार की प्रेरणायें दे सकता है ।

बड़े लोगों का व्यवहार बच्चे के लिए आदर्श

साधारणतः बालक अपने कुटुम्ब के बड़े लोगों, जैसे माता-पिता, चाचा-चाची, तथा भाई-बहिन, के व्यवहार को आदर्श मानता है और उनके बुरे आचरण को भी अच्छा ही समझता है, और तदनुसार स्वयं व्यवहार दिखलाने का प्रयत्न करता है । माता-पिता का बुरा स्वास्थ्य तथा उनकी मन्द बुद्धि, बुरी आर्थिक स्थिति तथा अन्य बातों से घर का वातावरण दूषित हो जाता है । घर के बुरे वातावरण से बालक का नैतिक विकास अवांछित दिशा की ओर जा सकता है और आगे चलकर बालक असामाजिक कार्यों में भाग ले सकता है । लड़कियों को प्रायः घर के अन्दर अधिक रहना पड़ता है । अतः बुरे वातावरण का उनके नैतिक विकास पर लड़कों की अपेक्षा अधिक बुरा प्रभाव पड़ता है ।

अपराधी लड़कियों के अपने अध्ययन में फ़रनर्ल्ड[1] ने देखा कि उनमें से ८७ प्रतिशत कुव्यवस्थित घरों की थीं । अपने चिकित्सालय में लाये गये बालकों के अध्ययन में पेण्टर[2] और ब्लैनचार्ड ने देखा कि उनमें ६० प्रतिशत बुरे कौटुम्बिक वातावरण से आए थे ।

खेल के साथी[3]

जब बालक स्कूल जाना प्रारम्भ कर देता है तो दिन का उसका अधिकांश समय घर के बाहर ही बीतता है । अब वह प्रौढ़ों की अपेक्षा अपने ही उम्र के अन्य बालकों के सम्पर्क में अधिक आता है । अतः उसके नैतिक विकास पर उसके साथियों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है ।

फिट[4] ने अपने अध्ययन में देखा कि नर्सरी स्कूल के बच्चों के भी नैतिक

---

1. *Fernald, G. M.*: Results of tests with specific cases with emphasis on the study of the delinquent type, *Psychological Bulletine*, 12, 318-319, 1915.

2. *Paynter*, R. *H.* and *Blanchard, P.*: Educational Achievvment of Children with Personalities and Behaviour Difficulties, Joint Committee on Method of Preventing Delinquency, New York, 1928.

3. Play Companion.

4. *Fite, M. D.* : Aggressive behaviour in young children and children's attitudes towards aggression, *Genetic Psychology Monogram,* 22, 151-319, 1940.

व्यवहार पर उनके साथियों का प्रभाव पड़ता है। हीली[1] और बॉनर ने अपराधी बालकों के अपने अध्ययन से विष्कर्ष निकाला है कि ६२ प्रतिशत अपराध बुरे साथियों द्वारा अभिप्रेरित किये जाते हैं।

स्कूल

स्कूल जाने लगने से बालक प्रतियोगिता के खेलों में भाग लेने लगता है। प्रतियोगिता सम्बन्धी खेलों में नैतिक शिक्षा के बड़े अवसर मिलते हैं। खेल में बच्चों को ईमानदार बनने तथा स्वार्थ-त्याग करने की शिक्षा मिलती है। खेल में खेल के नैतिक नियमों की जो अवहेलना करता है उसे अन्य लड़के हेय की दृष्टि से देखते हैं। अतः ऐसे अवसरों पर नैतिक नियमों का पालन करना बालक को बड़ा ही आवश्यक जान पड़ता है। जो खेलाड़ी किसी तरह जीतना चाहता है उसे अच्छा खेलाड़ी नहीं कहा जाता। जो खेल में सारा श्रेय अपने ही पास रखना चाहता है, और अपने अन्य साथियों को अपना कौशल दिखलाने का अवसर नहीं देता उसकी निन्दा की जाती है। इस प्रकार स्कूल के द्वारा आयोजित खेलों से बालकों को बड़ी नैतिक शिक्षा मिलती है।

प्रतियोगिता-सम्बन्धी खेल

जिस स्कूल में स्व-शासन[2] के आधार पर विनय-स्थापन की व्यवस्था की जाती है उस स्कूल के बालकों में वांछित नैतिक प्रत्ययों का विकास होता है, क्योंकि इससे आत्म-नियन्त्रण तथा दूसरों की सुविधाओं पर ध्यान देने की शिक्षा मिलती है। प्रत्यक्ष परिस्थितियों में वास्तविक अनुभूति से बालकों को बहुत कुछ सिखाया जा सकता है। कहना न होगा कि ऐसे अवसरों का स्कूल में सरलता से आयोजन किया जा सकता है।

स्व-शासन

पुस्तकें

माता-पिता तथा शिक्षकों की यह धारणा है कि बच्चों के नैतिक प्रत्ययों के विकास पर उनके द्वारा पढ़ी हुई पुस्तकों का बड़ा प्रभाव पड़ता है। इसलिए वे सोचते हैं कि बालकों द्वारा पढ़ी जाने वाली पुस्तकों पर ध्यान देना चाहिए। उनकी इस धारणा में सत्यता अवश्य है, क्योंकि छपी हुई बातों का प्रभाव पाठक पर बड़ी ही जल्दी

छपी हुई बात का प्रभाव शीघ्र

---

1. *Healy, W.* and *Bronner, A. F.*: New light on delinquency and its treatment, Yale Univ. Press, New Haven, 1936.

2. Self-government.

पड़ता है। परन्तु परीक्षण द्वारा अभी तक यह नहीं निश्चित किया जा सका है कि बालकों के नैतिक विकास पर पुस्तकों का प्रभाव कहाँ तक पड़ता है।

सिनेमा

मनोवैज्ञानिकों ने यह जानने का विशेष प्रयत्न किया है कि बालकों के नैतिक विकास पर सिनेमा का क्या प्रभाव पड़ता है। जिस प्रकार सिनेमा का व्यक्ति की वाणी और पहनावे पर प्रभाव पड़ता है उसी प्रकार उसका भाव उसके नैतिक व्यवहार पर भी पड़ता है। सिनेमा से व्यक्ति के जीवन-दृष्टिकोण पर प्रभाव पड़ सकता है। उससे धन और वैभव की इच्छा व्यक्ति में उत्पन्न हो सकती है।

वाणी पहनावा और जीवन-दृष्टिकोण

उससे उसकी प्रवृत्ति अपराध करने की ओर भी जा सकती है। कैशोर में बालकों में निर्देश-योग्यता[1] बड़ी प्रबल होती है। अत: इस पर कड़ी दृष्टि रखनी चाहिए कि वे कैसा सिनेमा देखने जा रहे हैं।

बुद्धि और नैतिकता[2]

नैतिकता के लिए केवल बुद्धि की ही आवश्यकता नहीं होती, यद्यपि नैतिकता के विकास में बुद्धि की उपेक्षा नहीं की जा सकती; क्योंकि किसी परिस्थिति की अच्छाई और बुराई को समझने के लिए बुद्धि की आवश्यकता होती ही है। परन्तु इसे समझने के लिए बहुत ही उत्कृष्ट कोटि की बुद्धि आवश्यक नहीं। एक सामान्य

दोनों में सहसम्बन्ध

बुद्धि वाला व्यक्ति भी इसे सरलता से समझ सकता है। हार्टशोन[3] और मे ने बालकों पर अपने परीक्षण में देखा कि बुद्धि और ईमानदारी में केवल ·५० का ही सहसम्बन्ध[4] मिला। टरमन[5] को १००० बालकों के अध्ययन से ज्ञात हुआ कि उनमें १३० बुद्धि-लब्धि-वाले बालक ईमानदारी, सच्चाई तथा अन्य समान नैतिक गुणों में सामान्य बालकों की अपेक्षा कहीं अधिक आगे बढ़े हुये थे। बर्ट[6] ने २०० अपराधी बालकों के अध्ययन में देखा कि उनमें ८ प्रतिशत ७० बुद्धि-लब्धि के नीचे के थे। हीली[7] और ब्रानर ने ४००० अपराधी बालकों के अध्ययन में १३·५ प्रतिशत को मन्द-बुद्धि का पाया।

1. Suggestibility. 2. Intelligence and Morality. 3. Ibid. 4. Correlation.

5. *Terman, L. M.* : *Genetic Studies of Genius* Vol. II, Stanford Univ. Press, Stanford Univ. 1926.

6. *Burt, C.* : *The Young Delinquent*, Appleton-Century-Crofts. New York, 1925.

7. Ibid.

विगम[1] का कथन है कि बुद्धि और नैतिक व्यवहार साथ-साथ इसलिए चलता है, क्योंकि बुद्धिमान लड़के समझते हैं कि उचित व्यवहार ही बुद्धि-युक्त आचरण है। बुद्धिमान लड़के प्रायः नैतिक व्यवहार दिखलाते हैं, क्योंकि वे सोचते हैं कि ऐसा व्यवहार ही सबसे अच्छा फल देगा। एक बुद्धिमान बच्चा अथवा प्रौढ़ व्यक्ति यह शीघ्र समझ लेता है कि जीवन में जो कुछ वह चाहता है उसे बेईमानी और धोखा की अपेक्षा ईमानदारी और सच्चाई के सहारे वह अधिक सरलता से पा सकता है।

शरारतें

अपनी ओर दूसरों का ध्यान खींचने के लिए

कुछ बच्चे अपने मन में यह धारणा बना लेते हैं कि ऊधम करने से वे दूसरों का ध्यान अपनी ओर अधिक आकर्षित कर सकेंगे। इन ऊधमों के कारण दण्ड पाने पर भी वे अपने ऊधमों को शीघ्र नहीं छोड़ते, क्योंकि दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने में उन्हें कुछ विशेष आनन्द आता है।

कुछ बड़े बच्चों का समूह शरारतें करने में विशेष आनन्द का अनुभव करता है। दूसरों को चिढ़ाने, दरवाजे की घण्टी को बजाने, साइकिल या मोटरकार के टायरों की हवा निकाल देने, सड़कों, रास्तों या दीवालों पर मनमाने चित्र बनाने या लिख देने में समूह का प्रत्येक सदस्य आनन्द लेता है, क्योंकि वह समझता है कि परिस्थिति का वह पूरा स्वामी है। स्कूल में दूसरे बालकों के साथ कानाफूसी करने, इधर-उधर कागज के टुकड़े पहुँचाने तथा दूसरे बच्चों को तंग करने से दण्ड पाने पर भी कुछ बालकों को इसमें आनन्द आता है, क्योंकि वे सोचते हैं कि इससे वे दूसरों के ध्यान के केन्द्र हो जाते हैं।

अप्रौढ़ता के लक्षण

सारे बचपन भर कुछ व्यक्तियों के व्यवहार में शरारतें पाई जाती हैं। बच-पन में बालक माता-पिता के नियन्त्रण को ढीला कर समूह के नियन्त्रण में आ जाता है। अतः इस काल में उसमें शरारतों का देखना स्वा-भाविक है। अतः इस काल की शरारतों से माता-पिता तथा शिक्षक का घबड़ाना ठीक नहीं है। घर पर की जाने वाली शरारतों में बिस्तरे पर पेशाब कर देना, ऊधम मचाना, छोटे बच्चों को अनायास पीट देना, मटरगस्ती करना, अवज्ञा करना, अनियमितता, झूठ बोलना तथा चोरी करना आदि के नाम लिए जा सकते हैं। ये सभी शरारतें बच्चे के अप्रौढ़ता के लक्षण

1. *Wiggam A. E.*,: Do brains and character go together? *School and Society*, 54, 261-265, 1940.

हैं। मनोवैज्ञानिक नियन्त्रण और व्यवहार दिखलाने पर इनमें से अधिकांश स्वत: दूर हो जाते हैं।

तरुणावस्था के पूर्व अर्थात् ग्यारह से चौदह वर्ष के लगभग बच्चों में स्वार्थ-परता तथा उत्तरदायित्व से भागना अधिक देखा जा सकता है। इस समय उन्हें अपने व्यक्तित्व-स्थापन की कुछ चिन्ता हो आती है। अत: अपने कार्यों में दूसरों के हस्तक्षेप का वे कभी-कभी स्पष्टत: विरोध करते हैं।

बच्चों के झूठ[1]

बच्चों की शरारतों में 'झूठ बोलने' का मनोवैज्ञानिकों ने विशेष अध्ययन किया है। लेनार्ड[2] ने बच्चों के ७०० झूठ का अध्ययन किया और उसने देखा कि उनमें ६८ प्रतिशत का कारण दूसरों द्वारा अस्वीकृति तथा दण्ड से भय था। उनमें से १२ प्रतिशत बच्चे की कल्पना अथवा अतिशयोक्ति के कारण और २० प्रतिशत जानबूझ कर कल्पना के कारण अथवा धोखा देने के उद्देश्य से थे।

मार्गन[3] के अनुसार बच्चों के झूठ को सात श्रेणियों में रक्खा जा सकता है:—

१—कल्पना के कारण खेल में।

२—बातों को ठीक-ठीक न कह सकने के कारण अथवा दूसरों द्वारा बहकाने पर सचाई को छिपाने के लिए।

३—दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए।

४—घृणा और प्रतिशोध की भावना से।

५—कड़े नियन्त्रण के भय से।

६—अपने स्वार्थ-पूर्ति हेतु दूसरों को धोखा देने से।

७—अपने मित्र की रक्षा के लिए।

कुछ लड़के और लड़कियाँ दण्ड के भय से दूसरों को दोष देती हैं। लड़के झूठ बोलकर दण्ड से बच जाने में प्राय: अपनी बहादुरी समझते हैं। ऐसे बच्चे बहुधा उस वातावरण में पाये जाते हैं जिसमें प्रौढ़ लोग शेखी में अनायास झूठ बोला करते हैं। लूई[4] ने अपने अध्ययन में

वातावरण का प्रभाव

1. Childrens Lies.

2. *Leonard, E. A.* : A parent's study of childrens lies, *Journal of Genetic Psychology*, 27, 105-135, 1920.

3. Quoted in *Child Development*, p. 465-466, by *Hurlock E. B.*, Mc-Grew-Hill, New York, 1950.

4. *Lewis, M.* : How parental attitudes affect the problems of children under twelve years of age, *Smith College Studies of Social Work*, 1, 403-404, 1931.

देखा कि झूठ बोलने वाले बच्चे प्रायः ऐसे अवस्थित घरों से आते हैं जहाँ उन्हें कोई प्यार नहीं करता और जहाँ उन्हें अस्थिर विनय-नियमों का पालन करना होता है। ऐसे बच्चों की माताओं के अध्ययन से लूई को पता चला कि उनमें से लगभग ६७ प्रतिशत अपने बचपन में बहुत झूठ बोलती थीं।

बेईमानी[1]

झूठ बोलने के स्वरूप में बेईमानी को छोड़कर अन्य प्रकार की बेईमानी स्कूल जाने की अवस्था के पहले भी दिखलाई पड़ती है, परन्तु बचपन के अन्तिम दिनों में यह अधिक पाई जाती है। लड़के और लड़कियाँ अपने तथा अपने मित्रों के अनुभवों से अपने माता-पिता, शिक्षकों तथा अन्य लोगों को धोखा देना सीखते हैं। कुछ अरुचिकर कार्यों को करने से अपने को बचाने के लिए वे बीमार होने का धोखा दे सकते हैं। किसी वस्तु को तोड़ देने से उसका दायित्व वे दूसरों पर ढकेल सकते हैं। किसी नियम को भंग कर देने पर वे ढोंग रच सकते हैं कि वे उस नियम को जानते ही न थे, अथवा स्कूल-कार्य या खेल के मैदान में धोखा दे सकते हैं या चोरी कर सकते हैं। बेईमानी के ये सभी प्रकार बचपन में पाये जाते हैं, और बहुत कम ऐसे बच्चे होते हैं जो किसी न किसी प्रकार की बेईमानी न करते हों।

बचपन के अन्तिम दिनों में अधिक

बच्चों की बेईमानी के सम्बन्ध में हार्टशोर्न[2] और मे ने ११००० बच्चों का कुछ परीक्षणात्मक अध्ययन किया। अपने अन्वेषण के आधार पर उन्होंने निष्कर्ष निकाला है कि धोखा देने में लिङ्ग[3] भेद विशेष उल्लेखनीय नहीं है। उनका कहना है कि बड़े बच्चे छोटे बच्चों की अपेक्षा अधिक धोखा देते हैं। ऊँची सामाजिक और आर्थिक स्थिति वाले बच्चे नीची सामाजिक और आर्थिक स्थिति वाले बच्चों की अपेक्षा कम धोखा देते हैं। ऊँची बुद्धि वाले नीची बुद्धि वालों की अपेक्षा कम धोखा देते हैं। बच्चे जो आपस में मित्र थे धोखा देने में प्रायः एक दूसरे के समान थे। हार्टशोर्न और मे ने देखा कि समान परिस्थितियों में सहसम्बन्ध के गुणाङ्क[4] ऊँचे थे, परन्तु परिस्थिति के परिवर्तन से सहसम्बन्ध के गुणाङ्क नीचे हो जाते थे। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ईमानदारी का कोई ऐसा सामान्य और एक-समान गुण नहीं मिलता जो कि बच्चों के सभी कार्यों में वर्तमान हो, अर्थात ईमानदारी और बेईमानी बहुत हद तक परिस्थिति-विशेष तथा बच्चों के निहित उद्देश्य पर निर्भर करती है न कि किसी सामान्य नैतिक

ईमानदारी का कोई सामान्य और एक-समान गुण नहीं

---

1. Dishonesty. 2. Ibid. 3. Sex-difference. 4. The correlation of the scores.

गुण पर। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि एक परिस्थिति में बालक ईमानदार हो सकता है और दूसरी परिस्थिति में बेईमान, और एक परिस्थिति में उसके निहित ध्येय के अनुसार बेईमानी का लक्षण उसमें देखते हुये भी उसे ईमानदार कहा जा सकता है और दूसरी परिस्थिति में उसके ध्येय के अनुसार उसे बेईमान कहा जा सकता है।

अपराधी बालक[1]

जो बालक कोई ऐसा अनैतिक व्यवहार दिखलाता है जिससे वह राज-नियमानुसार दण्ड का भागी होगा उसे अपराधी बालक कहा जा सकता है। कोई भी व्यवहार जो सामाजिक परम्परा तथा राज-नियम के विरुद्ध होता है उसे अपराध कहा जाता है। अपराध करने की प्रवृत्ति अनैतिक है और इस प्रवृत्ति की जड़ बालक के नैतिक विकास के क्रम में ही जागती है। बारहवें अध्याय में अपराधी बालक के कारण और उपचार पर विचार किया जा चुका है। उन्हें यहाँ दुहराना आवश्यक नहीं।

1. Juvenile Delinquency.

BIBLIOGRAPHY

सहायक पुस्तकों की सूची

BIBLIOGRAPHY

ABERNETHY, E. M. Correlations in Physical and Mental Growth, *Journal of Educational Psychology, 16*, pp. 485-466, 539-546, 1925.

ABRAMSON, H. The Influence of Disease upon Motor Development during Childhood. *Psychological Bulletin 31*, pp. 800-814, 1934.

ABT, I., ADLER, A., and BARTELME, P. The Relationship between the onset of Speech and Intelligence, *Journal of American Medical Association., 93*, pp. 1351-1353, 1929.

ACKERSON, H. *Children's Behaviour Problems*, Univ. of Chicago Press, Chicago, 1931.

ADLER, A. *Problems of Neurosis*, Cosmopolitan Book Corporation New York, 1930.

ADLER, A. *The Education of Children*, Greenberg, New York, 1930.

ALDRICH, C. A. The Pediatrician looks at Personality, *American Journal of Orthopsychiatry 17*, pp. 571-574, 1947.

ALDRICH C. A. A new test of hearing in the new born, *American Journal of Dis. Child., 35*, pp. 36-37, 1928.

ALDRICH, C. A., SING, C., and KNOP, C., and VENEGAS, F. The crying of newly born babies, I. The Community Phase, *Journal of Pediat. 26*, pp. 313-326, 1945.

ALLPORT, G. W. *Personality : a Psychological Interpretatian* ; Holt, New York, 1937.

ALMACK, I. C. The Influence of Intelligence on the Selection of Associates, *School and Society, 16*, pp. 529-530, 1922.

AMEN, E. W. Individual Differences in Apperceptive Reaction : a Study

of the Response of Per-school Children to Pictures, *Genet. Psychol. Monograph, 23*, pp. 319-385, 1941.

AMES, L. B. The Constancy of Psycho-motor Tempo in Individual Infants *Journal of Genetic Pychology, 57*, pp. 445–450, 1940.

AMES, L. B. The Development of the Sense of Time in the Young Child. *Journal of Genetic Psychology, 68*, pp. 97–125, 1946.

AMES, L. B., and LEARNED, J. Imaginary Companions and related Phenomena, *Journal of Genetic Psychology, 69*, pp. 147-167, 1946.

AMES, L. B., and LEARNED, J. The Development of Verbalized Space in the Young Child, *Journal of Genetic Psychology, 72*, pp. 63–84, 1948.

AMSTER, F. Differential use of Play in Treatment of Young Children, *American Journal of Ortho-Psychology, 13*, pp. 62–68, 1943.

ANASTASIA, A. *Differential Psychology*, Macmillan, New York, 1949.

NDERSON, H. H. Domination and Integration in the Social Behaviour of Young Children in an Experimental Play Situation, *Genetic Psychology Monograph, 19*, pp. 343-408, 1937.

ANDERSON, J. E. The Method of Child Psychology, In Murchison, C., *A Hand book of Child Psychology*, 2d. ed. Clark Univ. Press, Worcester, pp. 3–28, 1933.

ANDERSON, J. E. Personality Organization in Children, *American Psychology, 3*, pp. 409–416, 1948.

ANDREWS, E. G. The Development of Imagination in the Pre-school Child, *University of Iowa Student Character, 3*, No. 4, 1930.

ARLITT, A. H. *The Child from One to Twelve*, McGraw-Hill, New-York, 1931.

ARRINGTO, R. E. Interrelations in the Behaviour of Young Children, *Child Development Monograph*, No. 8, 1932.

ARRENIAH, S. Bilingualism and Mental Development, *Teach Coll. Contr. Educ.* No. 712. 1937.

ARTHUR, G. The Relationship of Intelligent Quotient to Position in

the Family, *Journal of Educational Psychology*, 17, pp. 541-550, 1926.

Austin, M. C., and Thompson, G. G. Children's Friendships : a Study of the Bases on which Children select and reject their best Friends, *Journal of Educational Psychology, 39*, 101–116, 1948.

Ayer M. A., and Birneuter, R. G. A Study of the Relationship between Discipline and Personality Traits in little Children, *Journal of Genetic Psychology, 50*, pp. 165–170, 1937.

Baker, H. J., Decker. F. J., and Hill, A. S. A Study of Juvenile Theft, *Journal of Educational Res, 20*, pp. 81–87, 1929.

Bakwin, H. The Emotional Status at Birth, *American Journal of dis. child*, 74, pp. 373–376, 1947.

Baldwin, A. L. Differences in Parent Behaviour toward three and nine-year old Children, *Journal of Personality, 15*, pp. 143–165, 1945.

Baldwin, A. L. Changes in Parent Behaviour during Childhood, *American Psychology, 2*, pp. 425–426, 1947.

Baldwin, A. L., Kalhorn, J., and Breese, F. H. Patterns of Parent Behaviour, *Psychol. Monograph*, 58, No. 3, 1945.

Baldwin, B. T. The Physical Growth of Children from birth to Maturity, *Univ. Ia Stud. Child Welf. 4*. No. 1, 1921.

Baldwin, B. T. The Relation between Mental and Physical Growth, *Journal of Educational Psychology, 13*, pp. 193–203, 1922.

Baldwin, B. T., and Stecher, L. I. *The Psychology of the Pre-school Child*, Appleton-Century-Crofts, New-York, 1927.

Banister, H., and Ravden M. The Problem Child and his Environment, *British Journal of Psychology, 34*, pp. 60-65, 1943.

Barker, M. A. A Technique for Studying the Social-material Activities of Young Children, *Child Development Monograph*, No. 3, 1930.

Barnes, E. The Prettiest Thing, *Study in Education, 2*, pp. 180-194, 1920.

Bartlet. E. R. and Harris, D. B. Personality Factors in Delinquency, *School and Society, 43*, pp. 653-656, 1935.

Bayley, M. The Consistency of Mental Growth during the First Year, *Psychological Bulletin, 28*, pp. 225-226, 1931.

BAYLEY, N. Mental growth during the first three years, A development study of 61 children by repeated tests, *Genetic Psychology Monograph, 14*, pp. 1–92, 1933.

BAYLEY, N. The Development of Motor Abilities during the first three years, *Monograph Soc. Res. Child Development, 1*, pp. 1-26, 1935.

BEAVER, A. P. The Institution of Social Contacts by Pre-school Children, *Child Development Monograph*, No. 7, 1932.

BENDER, L. Behaviour Problems in the Children of Psychotic and criminal Parents, *Genetic Psychology Monograph, 19*, pp. 229-339, 1937.

BENDER, L. The Psychology of Children's reading and Comics, *Journal of Educational Sociology, 18*, pp. 223-231, 1944.

BENDER, L., and VOGEL, B. F. Imaginary Companions of Children, *American Journal of Orthopsychiatry II*, pp. 56-65, 1941.

BENNET, H.E. Leadership in Relation to Intelligence, *School Review, 31*, pp. 125-128 , 1923.

BERNE, E. V. An Experimental Investigation of Social Behaviour Patterns in young Children, *Univ. Ia. Stud. Child Welf. 4*, No. 3, 1930.

BERLINER, A. Aesthetic Judgments of School Children, *Journal of Applied Psychology*, 2, pp. 229-242, 1918.

BLANTON, S. Speech Disorders, *Mental Hygiene*, N. Y. *13*, pp. 740-753.

BLANTON, S. and BLANTON, M. G. *Child Guidance*, Appleton-Century-Crofts, New York, 1927.

BLANTON, S. and BLANTON, M. G. *For Stutterers*, Appleton-Century Crofts, New York, 1935.

BLATZ, W. E., BOTT, E. A., and MILLICHAMP, D. A. *The Development of Emotion in the Infant*, Univ. Toronto, Press, Child Development Series, No. 4, Toronto, 1935.

BLUMER, H. *Movies and Conduct*, Macmillan, New York, 1933.

BLUMER, H., and HAUSER, P. M. *Movies, Delinquency and Crime*, Macmillan, New York.

BONNEY, M. E. Sex Differences in Social Success and Personality Traits, *Child Development, 15*, pp. 63-79, 1944.

BONNEY, M. E. Popular and Unpopular Children, a Sociometric study, *Sociometry Monograph*, No. 9, 1947.

BONSER, F. G. Chums : a study in youthful friends, *Ped. Sem. 9*, pp. 221-236, 1902.

BOYNTON, B. *The Physical Growth of Girl*, Univ. Iowo Press, Iowa City , 1936.

BOYNTON, P. L. The Vocational Preferences of School Children, *Journal of Genetic Psychology. 49*, pp. 411-425.

BOYNTOU, P. L. The Relationship of Hobbies to Personality Characteristics of School Children, *Journal of Experimental Education, 8*, pp. 363-367, 1940.

BOYNTON, P. L., and BOYNTON, J. C. *Psychology of Child Development*, Educational Publishers, Minneapolis, 1938.

BRANDENBURG, G. C. Psychological Aspects of Language, *Journal of Educational Psychology, 9*, pp. 313-332, 1918.

BRANDENBURG, J., and BRANDENBURG, G. C. Language Development during the fourth year, *Ped. Sem., 26*, pp. 27-40, 1919.

BRECKENRIDGE, M. E., and VINCENT, E. L. *Child Development*, Saunders, Philadelphia, 1943.

BEIAN, C. R., and GOODENOUGH, F. L. The Relative Potency of Colour and form Perception at Various ages, *Journal of* Exp. *Psychology, 12*, pp. 197-213, 1929.

BRIDGES, K. M. B. A Genetic Theory of Emotions, *Journal of Genetic Psychology, 37*, pp. 514-527, 1930.

BRIDGES, K. M. B. Social and Emotional Development of the Preschool Child, Kegan Paul, London, 1931.

BRIDGES, K. M. B. Measuring Emotionality in Infants. A Tentative Experiment, *Child Development, 5*, pp. 36-40, 1934.

BROMBERG, W. The Meaning of Twin Children, *American Journal of Orthopsychiatry. 18*, pp. 149-147, 1938.

BROWN, F. J. *The Sociology of Chilhood*, *Prentice Hall*, New York, 1939.

BRUCH, H. Obesity in Childhood IV. Energy Expenditure in Obsese Children, *American Journal Dis. Child. 60*, pp. 1082-1109, 1940.

BRUCH, H. Food and Emotional Security, *Nervous Child*, *3*, pp. 165-173, 1943.

BUHLER, C. *The First Year of Life*, Day, New York, 1930.

BUHLER, C. The Child and its Activity with Practical Material, *British Journal of Educ. Psychol. 3*. pp. 27-41, 1933.

BUHLER, C. The Social Behaviour of Children, *In* Murchison, C. *A Handbook of Child Psychology*, 2nd. Ed. Rev. Clark University Press, Chap. 15, Worcester, 1933.

BUHLER, C. *Three Generations of Youth as seen in their Diaries*, Gustav Fischer (Psychol. Abstr. 1934, 8, No. 2329) 1934.

BUHLER, C. *From Birth to Maturity*, Kengan Paul, London, 1935.

BUHLER. C., and HETZER, H. *Testing Children's Development from Birth to School age*, Farrar, New York, 1935

BUHLER, K. *The Mental Development of the child*, Harcourt, New-York, 1930.

BURT, C. *The Young Delinquent*, Appleton-Century-Crofts, New-York, 1925.

CALDWELL, O. W., and WELLMAN, B. Characteristics of School Leaders, *Journal of Educational Research*, pp. *14*, 1-13, 1926.

CAMBELL, A. A. A Study of the Personality Adjustments of Only and Intermediate Children, *Journal of Genetic Psychology*, *43*, 197-206, 1933.

CARMICHAEL, L. A Further Experimental Study of the Development of Behaviour, *Psychological Review*, *35*, 253 – 260, 1928.

CATTELL, P. *The Measurement of Intelligence of Infants and Young Children*, Science Press, Ancester, 1940.

CHASE, L. Motivation in Young Children, *University of Iowa Study of Child Welfare. 5*, No. 3, 1922.

CHAVE, E. J. *Personality Development in Children*, Chicago Press, Chicago University, 1937.

COLE, L. *Psychology of Adolescence*, Rinehart, New York, 1942.

CONKLIN, E G. Heredity and Environment, Princeton University Press, Princeton, 1918.

COOK, W. M. Ability of Children in Colour Discrimination, *Child Development. 2*, 303-320, 1931.

COWLEY, W. H. Three Distinctions in the Study of Leaders, *Journal of Abnormal Social Psychology, 23*, 144-157, 1928.

CUFF, N. B. Social Status and Vocabulary, *Journal of Genetic Psychology, 46*, 226–229, 1935.

CURTI, M. W. *Child Psychology*, Longmans, New York, 1940.

DASHIELL, J. E. *Fundamentals of General Psychology*, Houghton Mifflin, Borton, 1937.

DAVIS E. A. Development in the Use of Proper Names, *Child Devlopment*, 8, 270-272, 1937.

DAVIS, E. A. *The Development of Linguistic Skills, Univ.* of Minn. Press, Minneapolis, 1937.

DOLGER, L., and GINANDES, J. Children's Attitude toward Discipline as Related to Socio-economic Status, *Journal of* Experimental Education, 15, 161-165, 1946.

ELLIS, H. *A Study of British Genuis*, Hurst & Backett, London, 1904.

FANQUTER, W. The Attitudes of Aggressive and Submissive Boys Towards Atheletes, *Child Development, 11*, 115-125, 1940.

FENTON, J. C. *A Practical Psychology of Babyhood*, Houghton Mifflin, Boston, 1925.

FENTON, N. *Mental Hygiene and School Practice*, Stanford Univ. Press, Stanford, 1943.

FISHER, M. S. *Language Patterns of pree-school Children*, Teacher's College, Columbia Univ. Press, New York, 1934.

FREUD, S. *The Interpretation of Dreams*, G. Allen, London, 1913.

FREUD, S. A General Introduction to Psychoanalysis, Boni., New York 1920.

FURFEZ, P. H. *The Gang Age*, Macmillan, New York, 1926.

GALTON, F. *Hereditary Genius*, Macmillan, London, 1914.

GATES, A. J., and SCOTT A. W., Characteristic and Relations of Motor Speed and Dexerity among Young Children, *Journal of Genetic Psychology, 39*, 423-424, 1931.

GATES, G. S. An Experimental Study of the Growth of Social Perception, *Journal of Educational Psychology*.

GATES, A. *The Mental Growth, of the Pre-school Child*. Macmillan New York, 1925.

GESSELL, A. *Infancy and Human Growth*, Macmillan, New York 1928.

GESSELL A., *The Guidance of Mental Growth in Infant and Child*, Macmillan, New York, 1930.

GESSELL, A., *The First Five Years of Life*, Harper, New York, 1940.

GESSELL, A., and THOMPSON, H. *Infant Behaviour, Its Genesis and Growth*, McGraw-Hill, New York, 1935.

GESSELL, A., and THOMPSON, H. *The Psychology of Early Growth*, Macmillan, New York, 1938.

GOODENOUGH, F. L. The Emotional Behaviour of Young Children during Mental Tests, *Journal of Juvenile Research, 13*, 204-219, 1929.

GOODENOUGH, F. L., *Anger in Young Children*, Univ. Minu. Press, Minneapolis, 1931.

GREEN, G. H., *The Day Dream*, Univ. London Press, London 1923.

HALL, G. S. A study of fears, *American Journal of Psychology*, 8, 147-249, 1897.

HARTSHORNE, H., MAY, M. *Studies In Deceit*, Macmillan, New York. 1928.

HARTSHORNE, H., MAY, M. *Studies In the Nature of Character*, 3 Vols., Macmillan, New York, 1928.

HEALY, W., and BRONNER, A. F. *New Light on Delinquency and Its Treatment*, Yale Univ. Press, New Haven, 1936.

HOLLINGWORTH, H. C. *Mental Growth and* Decline, Appleton-Century, New York, 1928.

HOLLINGWORTH, L. S. *Gifted Children, Their Nature, and Nurture*, Macmillan, 1926.

HURLOCK, E. B. *Child Development*, McGraw-Hill, New York, 1950.

IRWIN, O. C. Infant Speech Development of Vowel Sounds, *Journal of Speech Hearing Disorders*, 13, 31-34, 1948.

ISAACS, S. *Social Development in Young Children*, Routledge, London, 1933.

JENSEN, A. S. *Psychology of Child Behaviour*, Prentice-Hall, New York, 1938.

JERSILD, A. T. *Child Psychology*, Prentice-Hall, New York, 1947.

JORDON A. M. *Children's Interests in Reading*, Univ. North Carolina Press, Chapel Hill, 1926.

JORDON A.M. *Educational Psychology*, 3rd. Ed., Holt, New York, 1942.

LAZAR, M. *Reading Interests, Activities and Opportunities of Bright, Average and Dull Children*, Teachers College, Columbia Univ. New York, 1937.

LEHMAN, H. C. and WITAY, P.A. *The Psychology of Play Activities*, A. S. Barnes, New York, 1927.

LERNER, E. and MURPHY, L. Methods for the Study of Personality in young Children, *Monogram of Social Research in Child Development*, 6, No. 4, 1941.

LWIES, M. How Parental Attitudes affect the Problem of lying in Children, *Smith College, Study of Social Work*, 1, 403- 404, 1931.

MACAULIEY, E., and WATKINS, S. H. An Investigation into the Development of the Moral Conceptions of Children, Forum-Educ. 4, 13-33,92-108, 1926.

MACFARLANE, J. W. Study of Personality Development, In Barkar, R. G. & others', *Child Behaviour and Development*, McGraw-Hill, New York, 1943.

McCARTHY, D. A. *The Language Development of the Pre-school Child*, Univ. Minn. Press. Minneapolis. 1930.

McCarthy, D. A. Language Development, *In* Murchison, C, *A Hand Book of Child Psychology*, 2d. Ed. Rev. Clark Univ. Press, Worcester, 1933.

McDougall, W. *An Introduction to Social Psychology*, J. W. Luce, Boston, 1923.

Meltzer, H, Children's Social Concepts. *Teach Coll. Coutr. Educ.*, No 192, 1925.

Millard, C. V. *Child Growth and Development*, D. C. Heath and Co, Boston, 1951.

Miller, A. M. *Children and the Movies*, Chicago Univ. Press, Chicago, 1930.

Munu, N. L. *Psychological Development*, Houghton, Boston, 1938.

Murchison, C. *A Handbook of Child Psychology*, 2d. Ed. Rev. Clark, Univ. Press, Worcester, 1933.

Murphy, G. *An Historical Introduction to Child Psychology*, Harcourt Brace, Chap. 17, New York, 1929.

Murphy, G., Murphy, L. B., and Newcomb T. M. *Experimental Social Psychology*, Rev. Ed. Harper, New York, 1937.

Newman, H. H. *Multiple Birth, Twins, Triplets, Quadruplets and Quintuplets*, Double day, New York, 1940.

Page, M. L. The Modification of Ascendant Behaviour in Pre-school Children, *Univ. Ia, Stud. Child Welf. 12*, No. 3, 1936

Paynter, R. H., and Blauchard, P. *Educational Achievement of Children with Personality and Behaviour Difficulties*, Joint Committee on Method of Preventing Delinquency, New York, 1928.

Piaget, J. *The Language and Thought of the Child*, Harcourt Brace, New York, 1926.

Piaget, J. *The Child's Conception of the World*, Harcourt Brace, New York, 1929.

Piaget, J. *The Moral Judgment of the Child*, Harcourt Brace, New York, 1932.

Piaget, J. Children's Philosophies, *In* Murchison C., *A Hand book*

of Child Psychology, 2d. Ed. Rev. Clark, Univ. Press, Worcester, pp. 534—547 , 1933.

PINTNER, R. Intelligence and Month of Birth, *Journal of Applied Psychology, 15*, pp. 149-154, 1931.

PREYER, W. *The Mind of the Child*, Appleton-Century-Crofts, New-York, 1888.

RADKE, M. J. *The Relation of Parental Authority to Children's Behaviour and Attitudes*, Univ. Minnesota Press, Minneapolis, 1946.

ROTHNEY, J. W. M. Recent Findings in the Study of the Physical Growth of Children, *Journal Educ. Res., 35*, pp. 161-182, 1941.

SALISBURY, F. S. *Human Development and Learning*, McGraw-Hill, New York, 1939.

SEASHORE, C. E. The Material Weight, Illusion. *Univ. Ia. Stud. Psychol. 2*, pp. 44-46, 1899.

SHERMAN, M., and SHERMAN, I. C. *The Process of Human Behaviour* Norton, New York, 1929.

SHINN, M. W. *The Biography of a Baby*, Houghton Mifflin, Boston, 1900.

SHIRLEY, M. M. *The First Two Years*, Univ. Minnesota Press, Minneapolis, Vol. I, 1931.

SHUTTLEWORTH, F. K. Sexual Maturation and Physical Growth of Girls age Six to Nineteen, *Monograph Soc. Res. Child Development, 2*, No. 5, 1937.

SKINNER, C. E., and HARRIMAN, P. L. *Child Psychology*, Macmillan, New York, 1941.

STAGNER, R. *Psychology of Personality*, 2nd. Ed., McGraw-Hill, New-York, 1948.

STAGNER, R., and DROUGHT, N. Measuring Children's Attitude towards their Parents, *Journal of Educational Psychology, 26*, pp. 169-176, 1935.

STERN, W. *Psychology of early Childhood*, Holt, New York, 1931.

STRANG, R. *An Introduction to Child Study*, Rev. Ed. Macmillan, New-York, 1938.

STRAYER, L. C. Language and Growth: The Relative Efficacy of Early and Deferred Vocabulary Training, Studied by the Method of Co-twin Control, *Genet. Psychol. Monograph, 8*, pp. 209-319, 1930.

SYMONDS, P. M. *The Psychology of Parent Child Relationship*, Appleton-Century-Crofts, New York, 1939.

TERMAN, L. M. *The Measurement of Intelligence*, Houghton Mifflin, Boston, 1916.

TERMAN, L. M. Genetic Studies of Genius, Standford Univ. Press Stanford University, 1925, Vol. 1; 1926, Vol. 2; 1930, Vol. 3.

TERMAN, L. M. and LIMA, M. *Children's Readings*, Appleton-Century-Crofts, New York, 1927.

THORNDIKE, E. L. *The Psychology of Wants, Interests, and Attitudes.* Appleton-Century-Crofts, New York, 1935.

THORPE, L. P. *Child Psychology & Development*, Ronald, New-York, 1946.

THURSTONE, L. L. and JEKINS, R. L. *Order of Birth, Parentage and Intelligence*, Chicago Univ. Press, Chicago, 1931.

VAN, DYKE, G. E. The Effect of the Advent of puberty on the Growth in Height and Weights of Girls, *Sch. Rev. 38*, pp. 211-221, 1930.

WAGNER, I. F. The Establishment of a Criterion of Depth of Sleep in new born Infants, *Journal of Genetic Psychology, 51*, pp. 17-59, 1937.

WANG, C. K. A. The Significance of Early Personal History for certain Personality Traits. *American Journal of Psychology, 44*, pp. 774, 1932.

WATSON, J.B. *Psychological Care of Infant and Child*, Norton, New-York, 1928.

WIGGAM, A.E. Do Brains and Character go together? *School and Society, 54*, pp. 261-265, 1941.

WITTY, P. A. A Study of Deviates in Versality and Sociality of Play Interests, *Teach. Coll. Contr. Educ.*, No. 470., 1931.

YOUNG, F. E. *Clothing the Child.* McGraw-Hill, New York, 1938.

YOUNG, F. M. Development as Indicated by a Study of Pronouns, *Journal of Genetic Psychology*, *61*, pp, 125-134, 1942.

ZACHRY, C. B. *Emotion and Conduct in Adolescence*, Appleton-Century-Crofts, New York, 1940.

ZELIGS, R. Children's Worries, *Social and Soc Res. 24*, pp. 22-32.

अनुक्रमणिका

[विषयों और लेखकों की]

(Subjects' and Authors' Index)

अनुक्रमणिका

अ

आ

च

ज

ट—ड

त—थ

न

म

य—र

ल

व

श

स

———